हमारी संस्कृति

(सचित्र)

रचयिता

डा० रामेश्वर गुप्त, एम. ए., पी-एच. डी.

Member, P. E. N. (India), Founder-member, Indian Sociological Society, Bombay. Member, its Executive Committee, (1951—1957)., Managing Editor 'Samaj Shastra.'

प्राध्यापक—बनस्थली विद्यापीठ, बनस्थली

जयपुर

प्रकाशक

मेहरचन्द्र लक्ष्मणदास

अध्यक्ष : संस्कृत पुस्तकालय

कूचा चेलां, दरियागंज

दिल्ली—७

लेखक की अन्य रचनाएँ—

१—मानव की कहानी—दो भाग, १४०० पृष्ठ
(A prize of Rs. 1000/ awarded by the U.P. Govt.)
चतुर्थावृत्ति चल रही है।

२—आज का मानव जीवन और उसकी समस्याएँ

३—**Reshaping Humanity** (English)

Printed at
Yugantar Press, Mori Gate, Delhi.

1958
First Impression

भूमिका

भारत का मानव अपनी भूमि, जल और आकाश के पर्यावरण में कैसा बना, कैसी उसकी अनुभूति हुई, 'लोक-परलोक' की दृष्टि से, उसने क्या उपलब्ध किया—संसार में क्या उसका महत्त्व बना, विश्व-मानव को क्या उसका योगदान रहा, और हो सकता है—इन प्रश्नों का उत्तर देने का प्रयास इस पुस्तक में किया गया है—मताग्रह से मुक्त रहकर, वैज्ञानिक दृष्टिकोण अपनाते हुए, और सर्वोपरि अध्ययन, मनन और चिंतनपूर्वक आत्म-समर्पण के भाव से भारत की आत्मा को छू लेने की आकांक्षा रखते हुए। इसी भारत-भूमि में पलते और बड़े होते हुए, यहीं की नदियाँ, पहाड़, भवन, मन्दिर, तीर्थ और आश्रमों को देखते हुए, यहीं का गान और कवि-वाणी सुनते हुए क्या सचमुच मैं भारत के साथ आत्मसात् नहीं हुआ हूँगा? क्या अपने इस अनुभव को मैं ठीक-ठीक प्रस्तुत नहीं कर पाया हूँगा? चाहता तो यही रहा हूँ कि भारतीय संस्कृति को सचाई से प्रस्तुत कर सकूँ।

मैं आश्चर्यचकित हुआ हूँ यहाँ के जन की सूरत, पहनावा, विचार और चाल की विविधता को देखकर और इस समस्त विविधता को यहाँ की एकात्म भावना में, यहाँ के विविध वर्णों को अन्ततोगत्वा एक शुक्ल-वर्ण में (आत्म-प्रकाश की भावना में) विलीन होते पाकर।

मैंने देखा यहाँ के मनीषी ने अतीव-अतीव प्राचीनकाल से ही—मानो मानव-सृष्टि के उषाकाल में ही—उस 'वस्तु' का साक्षात्कार कर लिया था जिससे अधिक अणु कुछ नहीं और जिससे अधिक बृहत् भी कुछ नहीं, और फिर पाया उस तत्त्व से साक्षात्कार की अनुभूति को यहाँ के साहित्य, कला, धर्म, दर्शन और समाज में समाया हुआ।

यह सब कुछ देखकर मुझे ऐसा लगा है मानो एक अतीव पुरातन मानव मेरे सामने खड़ा हो और जैसे उसके सामने मेरा मन भय,

विस्मय और आदर से पराभूत हो। ऐसा मानव है "भारत"—अपने समस्त अनुभव, अपनी पुरातन संस्कृति को अपने में संजोये हुए। इसको हमें पहचानना चाहिए। यह पहचान हमारे लिए ही नहीं, सबके लिए, मानवमात्र के लिए कल्याणकारी होगी।

यह परिचय देने में मैंने पूरी सावधानी बरती है कि :

ऐसा कोई भी तथ्य पुस्तक में न आ जाय जिसका आधार अधिकृत विद्वानों की प्रामाणिक जानकारी न हो ;

देश के प्रत्येक सामान्य पाठक और विद्यार्थी को अपनी संस्कृति का अधिक नहीं तो कम-से-कम बुनियादी ज्ञान अवश्य हो जाय ;

विषय रोचक लगे, अधिक जानने की इच्छा उत्पन्न हो। ठीक है, साहित्य और कला की कई उपलब्धियों की केवल नामावली दे दी गई है,—ऐसे स्थल सूखे-से लगेंगे, किन्तु उनके बिना विषय का आधार कच्चा रह जाता ;

एवं, दृष्टिकोण संकुचित न बने इसलिए मैंने भारतीय संस्कृति को प्राकृतिक पर्यावरण, विश्व-इतिहास और मानव-विकास की पृष्ठभूमि में रखकर समझाने की कोशिश की है। और, अन्त में

यह निर्देश करने का भी प्रयत्न किया है कि आज की दुनिया में भारतीय मानव विश्व-मानव को क्या दे सकता है।

—लेखक

विषय-सूची

पहला अध्याय

भारतीय संस्कृति का दृष्टिकोण

१. संस्कृति और सभ्यता का आरम्भ

आज से लगभग ५०, ६० हजार वर्ष पहले इस पृथ्वी पर मानव अपने वर्तमान रूप में आविर्भूत हुआ। तब उसका जीवन वन्य था। जानवरों की तरह वह जंगलों में ही रहता था, नग्न अवस्था में। उसके जीवन में वैसी ही हिंस्रता थी, और कोमल भावना की शून्यता। पर उसका स्वरूप ही ऐसा था कि उसकी यह स्थिति अधिक नहीं रह सकती थी। उसमें अन्य जन्तुओं की अपेक्षा इस चेतना का उदय अधिक हो रहा था कि मैं हूँ, मैं जीवित रहूँ, चारों ओर के हिंसक वातावरण में सुरक्षित रहूँ; मुझे अमुक वस्तु प्रिय है और अमुक अप्रिय। इस तरह उसे स्व-चेतना का, सुख-दुःख का, हानोपादेय का अनुभव होने लगा था। वह विचारशील होता जा रहा था। सामान्य दैनिक घटनाओं के कारणों को समझने लगा था, कार्य-कारण सम्बन्ध उसकी समझ में आता जा रहा था। संक्षेप में, वह संस्कारवान् बनता जा रहा था। धीरे-धीरे उसकी यह भावना और चिंतना सामूहिक स्वरूप को भी प्राप्त होने लगी थी। वह चाहने लगा था कि उसका जीवन सुरक्षित रहे, भोजन और विश्राम सुलभ और सुप्राप्य हों, समूह के व्यक्तियों में परस्पर संघर्ष न हो। इस प्रेरणा से प्रेरित होकर, अपने आविर्भाव के हजारों वर्ष बाद विविध प्रयत्नों के फलस्वरूप वह इस स्थिति तक पहुँचा कि रहने के लिए घर बनाने लगा, भोजन के लिए खेती करने लगा, तन ढकने के लिए वृक्षों की छाल आदि का उपयोग करने लगा, अपनी और जरूरतों को पूरा करने के लिए मिट्टी के, और बाद में धातु के बरतन बनाने लगा। ग्राम और नगर बसा कर रहने लगा तथा

अपने समूह के व्यक्तियों में परस्पर झगड़ा न हो और जीवन शांतिपूर्वक व्यतीत हो इसलिए कुछ सामाजिक व्यवस्था बैठाने लगा। इसी व्यवस्था का एक अंग आगे चलकर राज्य-व्यवस्था बनी। इस तरह भौतिक परिस्थितियों को वह अपने अनुकूल बनाता गया, वस्तुओं का उत्पादन बढ़ाता गया और सामाजिक जीवन को सौहार्द के साथ सरलतापूर्वक परिचालित करने के लिए व्यवस्था करता रहा। इस सभ्यता के निर्माण में उसकी भावना तथा विचारमयी संस्कृति का सहारा था। प्रकृति और समाज-मूलक बाहरी हलचलों के साथ-साथ उसके मानस में चेतनामय स्पन्दन आरम्भ से ही होते रहे। इन स्पन्दनों के उदात्त क्षणों में उसके मन में यह उमंग-सी पैदा होती रही कि वह औरों के साथ मधुर भाव से हिल-मिल जाय, दूसरे लोग प्रसन्न हों, वह उनको प्यार करे और वे उसको प्यार करें। चारों ओर उल्लास हो, चारों ओर स्वच्छता, शुचिता और सुन्दरता का विकास हो। इस प्रकार अन्तस् की यह स्पन्दना मानव की कला, धर्म और दर्शन बनकर अभिव्यक्त हुई। यही स्पन्दना संस्कृति को विकसित करती रही है और निरन्तर विकासशील संस्कृति सभ्यता को उत्तरोत्तर उन्नत रूप देती गयी है।

२. संस्कृति और सभ्यता का संबंध

माधुर्य, सौहार्द, और प्रेम भावना-जैसी कोमल अनुभूतियों से जो कुछ भी मानव के चित् का परिष्कार अथवा विकास हुआ है, उसकी चेतना उदात्त और व्यापक बनी है वह उसकी संस्कृति है, और अपने आविर्भाव के आरंभ से अपनी नग्न और हिंस्र स्थिति से प्रारंभ कर उसने अपना जीवन अच्छी तरह से चलाने के लिए आज तक जो कुछ भौतिक, सामाजिक और राजनैतिक निर्माण किया है वह उसकी सभ्यता है।

संक्षेप में इसे यों भी कहा जा सकता है कि सभ्यता के मूल में संस्कृति रहती है। जीवनयापन की सभ्य स्थिति की आवश्यकता का अनुभव ही तब होता है जब मानव संस्कारवान् बनने लगता है। आरंभिक काल में जब तक मनुष्य का जीवन पशुवत् रहा होगा तब तक चेतना के

उदात्तीकरण की, मानवीय संस्कृति के उदात्त स्वरूप की, कल्पना भी नहीं हो सकी होगी ।

पशुत्व से ऊँचा उठते ही मानव की संस्कृति सभ्यता के रूप में प्रस्फुटित हुई । संस्कारवान् व्यक्ति सभ्यता के उस रूप का निर्देशन करने लगे जिसमें व्यक्ति का बहुमुखी विकास उत्तरोत्तर समाजोन्मुख होता गया । समाज में उदात्त भावना को प्रतिष्ठा मिली और वही सामाजिक संगठनों का आधार बनी ।

जब हम पीछे की ओर दृष्टि डालते हैं तो ऐसा लगता है मानों प्रकृति और चित् (व्यक्ति और समाज में प्रवहणशील चेतना) के घात-प्रतिघात, एवं क्रिया-प्रतिक्रिया से ही मानव के विकास की (उसकी संस्कृति और सभ्यता के विकास की) कहानी बनती और आगे बढ़ती रही है ।

यदि संस्कृति मानव की आध्यात्मिक और मानसिक जागरूकता है तो वह प्रकृति को मानवोपयोगी बनाने वाली एक विशिष्ट शक्ति भी है । एक वाक्य में, सभ्यता की आत्मा संस्कृति है, और इनका परस्पर संबंध शरीर और आत्मा जैसा है । सजीव सभ्यता साधन बनकर मानव को ऊँचा उठाती है और निर्जीव सभ्यता साध्य बनकर उसे नीचा गिराती है और स्वयं भी नष्ट हो जाती है । विश्व की सभ्यताओं के उत्थान और पतन का रहस्य इसी में गर्भित है ।

३. सांस्कृतिक विभिन्नता में देश और काल का योग

समाज और नृतत्व शास्त्र, तथा इतिहास ऐसा बतलाते हैं कि पृथ्वी पर मानव के आगमन के बाद एक ऐसा काल आया जब भिन्न-भिन्न मानव समूह दुनिया के किन्हीं विशेष पृथक्-पृथक् भागों में बसे हुए और तद्देशीय परिस्थिति और वातावरण के अनुकूल अपना जीवन बिताते हुए पाये गये । कोई-कोई समूह तो ऐसे भू-भाग में जा पड़े कि उनका अन्य समूहों से सम्पर्क प्रायः समाप्त हो गया । इस सम्पर्क के अभाव में, अपनी ही सीमितता में रहते हुए वे किसी नव्य संस्कृति और सभ्यता का निर्माण नहीं कर पाये; जैसे आस्ट्रेलिया, प्रशांत द्वीप समूह और दक्षिण अफ्रीका

की जातियाँ; किन्हीं-किन्हीं समूहों में परस्पर सम्पर्क बना रहा और वे विशेष उन्नति कर पाये। कहीं-कहीं अनुकूल प्राकृतिक परिस्थितियों के कारण संस्कृति और सभ्यता का जल्दी विकास हुआ और कहीं-कहीं देर से। इस प्रकार देशकाल के भेद से भिन्न-भिन्न देशों अथवा जातियों (विशेष निकट भाव से सम्बद्ध कोई भी मानव समूह) में अपनी-अपनी विशेषता को लिये हुए संस्कृति और सभ्यता का विकास हुआ जैसे— मिस्र, सुमेर, बेबीलोन, चीन, भारत, ग्रीस और रोम आदि देशों की अपनी-अपनी विशेषताओं से युक्त सभ्यता और संस्कृति। वैसे तो किसी भी देश या जाति की संस्कृति और सभ्यता की कहानी मानव के विकास की ही कहानी होती है और देश तथा काल की सीमा में बँधे रहने पर भी इस कहानी का एक सार्वदेशिक और सार्वकालिक रूप होता है, किन्तु फिर भी यह रूप जहाँ की भौतिक अथवा भौगोलिक परिस्थितियों से निर्मित होता है, वहाँ की अपनी ही कोई विशेष प्रतिभा इसमें समाविष्ट हो जाती है। दिन-प्रतिदिन होने वाले परिवर्तनों और संघर्षों के होते हुए भी इस विशिष्टता वाले रूप में जितनी ही अधिक उदात्तता, शिवता और गम्भीरता होती है उसकी उतनी ही अधिक देन अखिल मानव जाति को होती है।

४. भारतीय संस्कृति के अध्ययन का दृष्टिकोण

भारत के माध्यम से जिस संस्कृति और सभ्यता का उदय और विकास हुआ उसी का अध्ययन हम यहाँ करेंगे। यह अध्ययन हम रूढ़िवादी दृष्टि से नहीं करेंगे जिसके परिणामस्वरूप देश की साधारण जनता में यह भावना बद्धमूल हो गयी है कि मानों भारतीय संस्कृति तो कुछ ऐसी चीज़ है जो शाश्वत है, अनादिकाल से चली आ रही है, अपरिवर्तनशील है, इस सृष्टि में जो कुछ ज्ञातव्य या अनुभूतिगम्य है वह सब कुछ उसमें आदिकाल से ही समाहित हो चुका है, उसके आगे कुछ नहीं; वरन् यह अध्ययन हम विज्ञानमूलक आधुनिक ऐतिहासिक दृष्टि[1] से करेंगे, इस दृष्टि से करेंगे

१. देखिए : मंगलदेव शास्त्री : भारतीय संस्कृति का विकास

कि इस अध्ययन के सहारे मानव विकास की गतिविधि को हम कुछ समझने लगें; और इस संस्कृति में वस्तुतः जो कुछ शाश्वत और कल्याण-कारी है उसको वर्तमान काल में विकसित होती हुई अखिल मानव-संस्कृति का अंग बनाने में सहायक हो सकें।

मानव इतिहास के इन हजारों वर्षों में संसार के किसी भी देश या जाति विशेष में ज्ञान-विज्ञान, सामाजिक संगठन के रूप, धर्म, दर्शन, कला और साहित्य में जो कुछ भी उपलब्धि हुई है, वही तो एक दृढ़ आधार बनकर अपनी समन्वयात्मिका शक्ति से मानव को विकास के पथ पर अग्रसर करती रही है, नयी-नयी उद्‌भावनाओं के साथ नये-नये मार्गों में होकर चलने के योग्य उसको बनाती रही है। आज की दुनिया में आवागमन, संवाद और विचार वहन की सुगम सुविधाएँ प्राप्त हैं। ऐसा लगता है मानों दुनिया के सभी देशों के लोग एक ही कमरे में रह रहे हों, सभी के विचार और भावनाएँ प्रत्यक्ष एक दूसरे से टकराकर परस्पर घुलमिल रही हों।······सभी जगह तो आधुनिक रेल, तार, डाक, मोटर, वायुयान, रेडियो और टेलीविजन आ रहे हैं; सभी जगह तो यांत्रिक उत्पादन और आधुनिक टैकनौलोजी फैल रहे हैं; सभी जगह तो जनतंत्रीय राजनैतिक एकता आ रही है; सभी जगह तो सामाजिक आर्थिक समानता की मान्यता फैल रही है; सभी जगह तो कला और काव्य के नये मान बन रहे हैं तब तो ऐसा दीखता है मानो समस्त मानवजाति की संस्कृति और सभ्यता का तत्वतः कोई एक रूप, एक आधार निर्मित होने जा रहा हो। ऐसी स्थिति में देखना अभीष्ट होगा कि क्या सचमुच भारत का अपना कुछ योगदान इस उभरती हुई विश्वसंस्कृति के लिए हो सकता है।

५. भारतीय संस्कृति का दृष्टिकोण

भारतीय संस्कृति समस्त 'अस्तित्व' में समाहित सत्य—कल्याणरूप चेतन तत्व—की चिरन्तन अनुभूति से परिपूर्ण है। वह सदा जीवनाधार उच्च आध्यात्मिक सत्य के अन्वेषण में प्रयत्नशील रही है। यह सत्य वह है जहाँ सब मिलकर एक हो जाते

हैं। यह एक ऐसी भावभूमि है जहाँ पहुँचकर मानव सब प्राणियों में एक प्राण, एक चेतना की अनुभूति करता है।

भारतीय संस्कृति के मूल में सदैव मानव कल्याण की भावना समायी हुई रही है। भारतीय मानस सदा से ही अन्तर्मुख होकर समष्टि के लिए कल्याणकारी मार्ग पर चलता रहा है। उसको अपने लिए जो श्रेय और प्रेय है वही, न केवल मानव मात्र के लिए वरन् प्राणिमात्र के लिए, उसकी दृष्टि में श्रेय और प्रेय है। ऐसी समष्टिमूलक दृष्टि जिसकी हो, उसको साम्प्रदायिकता, असहिष्णुता, एवं संकीर्णता छू नहीं सकती। चिरंतन आंतरिक सत्य (चेतन कल्याण तत्व) से सम्पर्क रखती हुई भारतीय संस्कृति निरंतर परिवर्तनशील और प्रगतिशील रही है, वैसे ही जैसे समग्र सृष्टि गतिमान् और विकासशील है। उसका दृष्टिकोण एक ऐसा प्रगतिशील दृष्टिकोण है जिसमें आध्यात्मिक अनुभूति से संस्कारवान् व्यक्ति समाजोन्मुख होकर उत्तरोत्तर विकास को प्राप्त हों। उनका विकास सब के लिए कल्याणकारी हो।

दूसरा अध्याय

भारतीय संस्कृति की पृष्ठभूमि

भारतीय संस्कृति कोई ऐसी वस्तु नहीं जिसका रूप किसी एक काल या युग विशेष में हमेशा के लिए स्थिर, गढ़ा-गढ़ाया बनाकर रखा दिया गया हो। यह तो एक विकासमान प्रक्रिया है, जैसेकि मानव, मानव समाज, या मानव संस्कृति स्वयं अपने में विकासमान है। इसका भव्यतम रूप इसके आदिकाल से ही नहीं चला आ रहा है···किन्तु वह भी जंगली, असभ्य स्थिति से ऊपर उठते हुए आदि मानव के विकास की परम्परा में विकसित एक रूप है; भारत से इतर भूभागों में मानव की जो कुछ भी गतिविधि रही उससे असम्बद्ध या निरपेक्ष नहीं, और न भारत की प्राकृतिक भौगोलिक परिस्थितियों से निरपेक्ष, क्योंकि संस्कृति, सभ्यता,

या किन्हीं भी विचार, भावनाओं या चेतन व्यापारों की अभिव्यक्ति प्राकृतिक भौतिक आधारों से निरपेक्ष रहकर नहीं हो सकती। अतः भारतीय संस्कृति का अध्ययन, भारत के भौगोलिक प्राकृतिक वातावरण, एवं मानव के आरंभिक विकास की पृष्ठभूमि में करना अनिवार्यतः उपयोगी है।

१. भौगोलिक पृष्ठभूमि

यह कथन वस्तुतः सत्य है कि मानव अपनी परिस्थितियों का जीव है। एक विदुषी लेखिका मिस सेम्पल ने तो यहाँ तक कहा है कि मानव पृथ्वी के तल की उपज है। इसका केवल यही तात्पर्य नहीं कि वह पृथ्वी का शिशु है, उसकी धूलि की धूलि है, बल्कि सत्य तो यह है कि उसी ने उसका लालन-पालन किया है, उसको खिलाया है, उसको कार्य करना सिखाया है, उसके विचार तथा भाव आदि उत्पन्न किये हैं, उसके सम्मुख कुछ कठिनाइयाँ उपस्थित की हैं जिससे उसके शरीर तथा मस्तिष्क का विकास हो...।[1] देखना है कि (अ) भारत भूमि कैसे बनी, और (ब) उसने अपने पुत्र भारतीयजन के शरीर और मस्तिष्क पर—उसके व्यक्तित्व पर क्या छाप डाली।

२. भारत भूखंड का निर्माण

लगभग दो अरब वर्ष पहले पृथ्वी अस्तित्व में आयी। वह भभकते हुए गैस के गोले के समान थी, धीरे-धीरे ठंडी होने लगी और कालांतर में उसका ऊपरी छिलका जमकर कड़ा हो गया। समस्त पृथ्वी में भयंकर हलचल हो रही थी, वायुमंडल का निर्माण हो रहा था, ऊपरी छिलके के नीचे धधकते हुए गैस की गति के फलस्वरूप ज्वालामुखी उद्गार उठते थे, भयंकर प्रकम्पन होते थे; स्थल और जल-विभागों का निर्माण होने लगा था। अजन्तुक युग में (Azoic or Pre-Cambrian), आज से ५० करोड़ वर्ष के पहले के काल में, उन पर्वतों, पठारों तथा चट्टानों का निर्माण हो चुका था,

१. प्रो० सी० बी० मामोरिया की पुस्तक "आर्थिक और वाणिज्य भूगोल" के 'मनुष्य और उसका वातावरण' नामक अध्याय से उद्धृत।

जो आज बाल्टिक प्रदेश, दक्षिणी भारत (दक्षिण पठार), ब्राज़िल, अफ्रीका एवं उत्तरी कनाडा में स्थित हैं। इस प्रकार परिवर्तन होते-होते करोड़ों वर्षों में जाकर पृथ्वी अपने वर्तमान रूप को प्राप्त हुई। भूगर्भ-वेत्ताओं ने यह अनुमान लगाया है कि आज से लगभग ३५ करोड़ वर्ष पहले पृथ्वी पर दो भूखंडों का निर्माण हो चुका था। विद्वानों ने उन दो भूखंडों में से उत्तरीय भूखंड को लौरेशिया, दक्षिणी भूखंड को गोंडवाना, ये नाम दिये। इन दोनों भूमि-खंडों के पूर्व-पश्चिम में जो महासमुद्र लहलहा रहे थे उनको आदि-प्रशांत महासागर, और उन दोनों भूमि-खंडों के बीच वाले जल-विभाग को टेथिस या पाथोधि नाम दिये गये। प्रकृति में निर्माण-कार्य लगातार हो रहा था और ऐसा अनुमान है कि कार्बोनिफैरस युग में (३५ से ३२ करोड़ वर्ष पूर्व) उक्त दो भूखंडों में विघटन प्रारंभ हुआ, जिसके फलस्वरूप उत्तरीय भूखंड के तीन विभाग हुए। पश्चिमी विभाग वह केन्द्र भूमि बनी जिसने कालान्तर में उत्तरी अमेरिका का रूप प्राप्त किया; मध्य विभाग वह केन्द्र बना जिसने यूरोप का रूप प्राप्त किया, और पूर्वीय विभाग वह केन्द्र बना जिसने एशिया का रूप (उत्तरी एशिया, जिसमें अरब और दक्षिण पठार सम्मिलित नहीं थे) प्राप्त किया। इसी प्रकार मूल दक्षिणी भूखंड (गोंडवाना) में विघटन हुआ और उसमें से छितर कर या पृथक् होकर पश्चिम में ब्राज़िल, मध्य में अंटार्कटिका (दक्षिणी ध्रुव प्रदेश), अफ्रीका, अरब और दक्षिण भारत का पठार और पूर्व में आस्ट्रेलिया निर्मित हुए। अभी तक पृथ्वी पर हिमालय, आल्प्स, रोकी एवं एन्डीज़ पर्वत-श्रेणियों का अस्तित्व ही नहीं था। ऐसा अनुमान है कि टर्शियरी अर्थात् तृतीयक युग में (आज से ७ करोड़ वर्ष पहिले से १० लाख वर्ष पहिले के काल में) उक्त पर्वत-श्रेणियों का उभरना प्रारम्भ हुआ और शनैः-शनैः उनका निर्माण हुआ। इसके पहिले मध्यजीव-युग के अंत में (लगभग १२ करोड़ वर्ष पूर्व से ७ करोड़ वर्ष पूर्व तक) आधुनिक अहमदाबाद के आस-पास ज्वालामुखी क्रियाओं के कारण बहुत-सा लावा निकला था जो कि आधुनिक मालवा और खानदेश के भागों में फैल गया था, जिससे वहाँ

काली मिट्टी के मैदानों का निर्माण हुआ। जिस समय हिमालय पर्वत-श्रेणी का उभार शुरू होने लगा था उस समय वह स्थल-भाग जो आज गंगा, यमुना और सिंधु के दक्षिणी भाग का मैदान कहलाता है, कुछ नीचे धँस गया था और उस जगह छिछला-सा समुद्र लहलहाने लगा था। हिमालय पर्वत-श्रेणी का उभार कायम रहा और ऐसा अनुमान है कि मायोसीन युग (मध्यनूतनयुग, आज से लगभग ३½ करोड़ वर्ष पहिले) के आते-आते लगभग आज जैसे एक पृथक् से उप-महाद्वीप के रूप में भारत की भौगोलिक रूप-रेखा स्पष्ट हो गई थी। किन्तु एक तो हिमालय का अभी पूरा निर्माण नहीं हो चुका था और दूसरी बात यह है कि उक्त गंगा सिंधु के मैदानों की जगह अभी छिछला समुद्र या दलदल था। ऐसा अनुमान है कि हिमयुग (प्लीस्टोसीन) के मध्य में, अर्थात् आज से लगभग ५-६ लाख वर्ष पूर्व, हिमालय प्रायः अपने वर्तमान रूप में आया, और दूसरी ओर हिमालय की बर्फ पिघल-पिघल कर जो नदियाँ बहने लगी थीं उन्होंने उक्त दलदल को रेत और मिट्टी से भर-भर कर उपजाऊ मैदान के रूप में परिवर्तित कर दिया। यह क्रिया तो आज से लगभग केवल ५०-६० हजार वर्ष पूर्व ही पूर्ण हुई और उक्त दलदल मानव के रहने-योग्य भूमि बनी।

इस प्रकार भारत के भूगर्भिक निर्माण का अनुमान मोटे तौर से हम तीन प्रमुख घटनाओं के आधार पर लगा सकते हैं।

१. आज से ५० करोड़ वर्ष से भी पहिले दक्षिण के पठार का निर्माण हो जाना। यह पठार पृथ्वी की पुरातनतम चट्टानों का भाग है।

२. आज से लगभग ७ करोड़ वर्ष पहले से हिमालय की पर्वत-श्रेणियों के उभरने का आरम्भ होना; ३½ करोड वर्ष पहले उन श्रेणियों की रूप-रेखा का स्पष्ट हो जाना, और आज से केवल ५-६ लाख वर्ष पहले हिमालय का प्रायः वर्तमान रूप को पा लेना।

३. हिमालय के उभार के साथ आधुनिक गंगा, यमुना के मैदान और सिंधु प्रांत के पूर्वकाल से आते हुए स्थल-भाग की जगह छिछला समुद्र या दलदल हो जाना, और आज से केवल ५०-६० हजार वर्ष

पहिले उसका निवासयोग्य सूखी भूमि में परिवर्तित होना।

पृथ्वी पर हिमालय का निर्माण एक महत्वपूर्ण घटना मानी जाती है, क्योंकि भूगर्भ-वेत्ताओं और नृतत्व-वेत्ताओं का ऐसा अनुमान है कि हिमालय के पूर्ण विकास के साथ ही साथ इस पृथ्वी पर मानव सृष्टि प्रारम्भ हुई।

भारत के भौगोलिक रूप को हम जानते हैं। यह एक विशाल प्रदेश है···काश्मीर से कुमारी अंतरीप तक और सिन्धु से असम तक फैला हुआ,—अपने आप में पूर्ण, मानो प्रकृति ने शेष दुनिया से अलग इसको अपने आप में ही एक इकाई बनाकर रख दिया हो। क्या सचमुच ही यह अपने आप में एक इकाई नहीं जिसको शेष दुनिया से विलग किये हुए हैं उत्तर में हिमालय की पर्वत-मालाएँ, और दक्षिण में तीन ओर लहलहाते हुए समुद्र। हाँ, पर्वत की उस दीवार के उत्तर-पश्चिम में दो द्वार, खैबर और बोलन, अवश्य बन गये, मानो प्राचीन काल की सभ्यताओं से इस देश का सम्बन्ध साधने के लिए। इस विशाल इकाई के तीन प्राकृतिक खंड हैं, (१) उत्तर में हिमालय पर्वत-खंड (२) मध्य में गंगा और सिन्धु के उपजाऊ मैदान, और (३) दक्षिण में दक्षिणी पठार। उच्चतम पर्वत-शिखर सस्यश्यामल मैदान, कलकल बहती हुई नदियाँ, अनेक झीलें, वन उपवन, और रेगिस्तान, प्रत्येक पौ फटने पर रंगमयी उषा और रात्रि के समय निरभ्र आकाश में अनंत दूर तक फैली हुई अनेक सृष्टियाँ; शरद्, हेमन्त, शिशिर, वसंत, ग्रीष्म, वर्षा आदि अनेक ऋतुएँ, अनेक प्रकार के जंगली जीव यथा शेर, भालू, चीता और हाथी; और मनुष्य के चिर सहचर गाय, बैल, कुत्ता, घोड़ा, ऊँट और कोयल व मयूर सब कुछ इस भारत भूमि की विशालता में एकरस होकर समाये हुए हैं।

३. भारत भूमि का इसके वासियों पर प्रभाव

उल्लेख किया जा चुका है कि मानव अपनी परिस्थितियों का जीव है। भारत की भी भौगोलिक परिस्थितियों ने सामान्य भारतीय जन में एक विशेष प्रकार के मानस का निर्माण किया, जो शेष मानवों के मानस से तत्वतः भिन्न नहीं है फिर भी स्वभाव

और रुचि की अपनी विशेषता को लिये हुए है। इस सम्बन्ध में पहले एक प्रचलित भ्रान्ति को दूर कर लेना चाहिए। यह ठीक है कि भारत के विशेष भाग की जलवायु प्रमुखतः गरम और मॉनसूनी है; किन्तु इसी आधार पर यह जो मान लिया गया कि भारत का मानव शिथिल और सुस्त है, साहसी और परश्रमी नहीं—इससे अधिक गलत बात और कुछ नहीं हो सकती। वस्तुतः भारतीय मानव वीर और साहसी है···खुले मैदान में डटकर लड़नेवाला···आखिर दम तक लड़ने वाला, इतिहास इसका साक्षी है। आधुनिक दुनिया को इसका सबूत मिला पिछले दो महान् विश्व-युद्धों में। मध्ययुग में उत्तर-पश्चिम से आने वाली जातियों और आधुनिक युग में अंग्रेज़ों के सामने भारतीय जन की बार-बार हार का कारण उसमें वीरता की कमी नहीं थी; उसके कुछ अन्य कारण थे, राजनैतिक और सामाजिक, चरित्र में शौर्य की कमी नहीं। इसके अतिरिक्त भारतीय जन में काम करने की खूब शक्ति है, वह काम में जुटा रह सकता है; अनुपम सहनशक्ति उसमें है, कष्ट सहता हुआ भी वह आस्तिक भाव को बनाये रखता है। अब देखना है भारतीय वातावरण से कौनसी विशिष्ट बातें भारतीय स्वभाव में आयीं।

आस्तिकता

भारत भूमि की कुछ ऐसी स्थिति बनी कि मानो वह पृथ्वी का एक अलग ही-सा भाग, अन्य भू-भागों से पृथक्-सा अपने में ही सम्पूर्ण-सा अतीत काल से चला आ रहा है। मानो, अपनी ओर से उसे और किसी देश की अपेक्षा या आवश्यकता न हो, वह अपने में ही सम्पूर्ण हो। शनैः-शनैः भारतीय मानस में भी कुछ ऐसे भाव की उद्भावना होती रही, उसकी चेतना में यह संस्कार जमता गया कि उसका जो कुछ भी चिंतन और अनुभूति है, वह अपने आप में पूर्ण है। और सचमुच निःश्रेयस और सच्चिदानन्द स्वरूप ब्रह्म (reality) का उसका ज्ञान अपने आप में सम्पूर्ण था। संस्कार रूप से यही विश्वास भारतीय साधारण जन के हृदय में जमा हुआ मिलता है कि भारतीय आध्यात्मिक ज्ञान अपने आप

में पूर्ण है, यह आस्तिक भाव भारतीय मानव का सनातन स्वभाव-सा बन गया है ।

विभिन्नता में एकता का भाव

भारत भूमि में विभिन्न प्रकार की जलवायु है, वनस्पति है, और कई रूपों की ही यहाँ की मिट्टी और धरती है । किन्तु फिर भी यहाँ की भौगोलिक बनावट में जो एक सम्पूर्णता सी है उसके फलस्वरूप यहाँ की समस्त विभिन्नता, एकता में समायी हुई है । यह एकता हमें स्पष्ट देखने को मिल सकती है यहाँ के समस्त साहित्य और कला में । सब में एक भावात्मक समानता छिपी हुई है, मानो यहाँ की समस्त सांस्कृतिक अभिव्यक्ति को कोई एक ही संवेदनात्मक भाव प्रेरित कर रहा हो । भारतीय स्वभाव इतना सहिष्णु बन गया है कि प्रत्येक विभिन्नता को वह एक ही सत्य का रूप मानता है और उस विभिन्नता को वह छोड़ता नहीं है ।

विशालता का भाव

भारत एक महाद्वीप-सा है । इस महाभूमिखंड में स्थानीय परम्पराएँ बनीं, रीतियाँ बनीं, संस्कार बने, किन्तु वे सब स्थानीय होते हुए भी भारतीयता में समाहित रहे । भारतीय विशालता ने सबको अपने में संजो लिया—भारतीय दृष्टिकोण में (स्थानीय संकुचितता होते हुए भी) विशालता आ गयी ।

संतोष का भाव

भारत की अधिकतर धरती सस्यश्यामला रही है; जीवनोपयोगी सभी कुछ सामग्री बड़ी सरलता से यहाँ उपलब्ध रही है, अतः भारतीय जन के स्वभाव में संतोष की भावना अपने आप उत्पन्न होकर संस्कार रूप में स्थापित हो गयी है ।

संक्षेप में हम कह सकते हैं कि भारतीय भौगोलिक वातावरण ने भारतीय व्यक्तित्व या भारतीय स्वभाव को बनाया—आस्तिक, सहिष्णु, संतोषी, विशाल···विभिन्न भावनाओं को अपने आप में समा लेने वाला

भारतीय व्यक्तित्व जैसे किसी दूसरे व्यक्तित्व से कहा रहा हो, "मित्र, तुम भी जीवो, हम भी जियें। आखिर सबको एक ही जगह तो जाना है किसी भी रास्ते से जायँ।"

विश्व की पृष्ठभूमि में मानव का आरम्भिक विकास

हम कल्पना कर सकते हैं कि सृष्टि की आदि स्थिति वर्णनातीत, निराकार, परिव्याप्त, ज्वलंत, घनीभूत गैस के पिंड की-सी होगी, मानो भूत द्रव्य में निहित वह गतिमान् शक्ति थी, महापुञ्जीभूत ज्योति थी। इस ज्योति में से अनेक नक्षत्रगण उद्भूत हुए। एक नक्षत्र से, जो हमारा सूर्य है, हमारी यह पृथ्वी उत्पन्न हुई। यह पृथ्वी सूर्य का ही एक खंड थी, अतएव सूर्य के ही समान प्रारंभ में यह धधकती हुई आग का विशाल गोला थी। करोड़ों वर्षों तक यह पृथ्वी निष्प्राण, शून्य-सी पड़ी रही। अनेक प्रकार की घटनाएँ, अनेक प्रकार के परिवर्तन इस पर हुए। शनैः-शनैः यह आग का गोला ठंडा हुआ। इस पर समुद्र बने, झीलें और नदियाँ बनीं, पहाड़ एवं उर्वर मैदान बने। किन्तु अब तक इन घटनाओं का कोई द्रष्टा नहीं था।

आज से करोड़ों वर्ष पहले···संभवतः ६०,७० करोड़ वर्ष पहले किसी युग में, किसी दिन इन अप्राण घटनाओं की पृष्ठभूमि पर जड़भूत द्रव्य में से प्राण का आविर्भाव हुआ। ये प्राण सर्वप्रथम अतिसूक्ष्म जीव-कोषों में एवं अतिसाधारण जीवों में प्रकट हुए। विकासवाद के सिद्धान्त के अनुसार उपरोक्त सरलतम जीव कोषों में से—अस्थिहीन, रीढहीन जीवों में से—पहले रीढ़युक्त एवं अस्थियुक्त जीवों का विकास हुआ; फिर मेंढक, टोडपोल, सामुद्रिक बिच्छू-जैसे अर्धजलचर प्राणियों का, फिर साँप, अजगर, मगर जैसे सरीसृप प्राणियों का, और फिर इन्हीं से एक तरफ़ तो हवा में उड़ने वाले पक्षियों का और दूसरी तरफ़ गाय, भैंस, घोड़ा, कुत्ता, शेर, लंगूर, वानर आदि स्तनधारी प्राणियों का। स्तनधारी प्राणियों की किसी एक जाति में से ही मानव विकसित हुआ।

आजकल के वैज्ञानिक लोगों में यह मत प्रायः मान्य है कि मनुष्य का

मानव के निकटतम पूर्वज

निकटतम पूर्वज जमीन पर चलने वाला बिना पूँछ के वानर जैसा कोई प्राणी था। मनुष्य का यह पूर्वज, निपुच्छ कपि, नवजीव युग में (जिसका प्रारम्भ आज से लगभग ६ करोड़ वर्ष पहले हुआ था) पेड़ों पर नहीं बल्कि जमीन पर रहता था, चट्टानों में इधर-उधर छिपा फिरता था और संभवतः अखरोट आदि सूखे फल तोड़ने में पत्थर का उपयोग करता था। इस निपुच्छ कपि के पूर्वजों ने शायद मध्यजीव युग (१८ करोड़ वर्ष पूर्व से ६ करोड़ वर्ष पूर्व तक के काल) में ही पेड़ों पर रहना छोड़ दिया था चाहे उनकी एक पृथक् वंशशाखा आज जैसे वन्दरों की तरह पेड़ों पर कूदने-फांदने वाली बनी रही हो।

यह तो हुई मनुष्य के निकटतम पूर्वज की बात जो आज से प्रायः ४ करोड़ वर्ष पहले मिलता था। अब प्रश्न यह रहा कि वह प्राणधारी जीव जिसे हम मनुष्य कहते हैं, सर्वप्रथम कब इस पृथ्वी पर अवतरित हुआ? प्राणि-विज्ञान अब तक इतना अपूर्ण है कि इस सम्बन्ध में निश्चयपूर्वक कुछ नहीं कहा जा सकता। ऐसे मनुष्यों के, जिन्हें हम अपने ही जैसे पूर्ण मानव देहधारी मान सकते हैं उत्पन्न होने के पहले कुछ अपूर्ण विकसित मानव प्राणी जिन्हें हम अर्ध-मानव की श्रेणी में रख सकते हैं, इस पृथ्वी पर उत्पन्न हुए। ऐसा अनुमान है कि अर्धमानव का आगमन हिमयुग (प्लीस्टोसीन), में हो चुका था। भूगर्भ-वेत्ताओं ने पता लगाया है कि इस पृथ्वी पर लगभग १० लाख वर्ष पूर्व के काल से प्रारम्भ होकर २५ हजार वर्ष पूर्व तक के काल में चार ऐसे युग आय जब पृथ्वी के प्रायः उत्तरी गोलार्ध के अधिकांश भागों में उत्तरी ध्रुव से प्रारम्भ होकर दक्षिण की ओर चार बार हिम-प्रसार हुआ था, और इस प्रकार प्रसारित होती हुई वह बर्फ चार ही बार हटकर धीरे-धीरे विलुप्त हो गयी थी। प्रत्येक हिम-प्रसार कितने वर्ष तक रहता होगा निश्चयपूर्वक नहीं कहा जा सकता…कई हज़ार वर्ष तक तो वह चलता होगा; और प्रत्येक हिम-विलय का काल कितना लम्बा होता था, यह भी नहीं कहा जा सकता। द्वितीय हिमविलय-काल दो लाख वर्ष का माना जाता है। बर्फ के इस

प्रसार-काल में पृथ्वी के तत्कालीन अनेक जीवन नष्टप्राय हो जाते थे, और बर्फ के विलय-काल में मानों जीवन का वसंत आ जाता था, और लुप्त होते हुए, ये जीव फिर खिल उठते थे, पृथ्वी पर उनकी चहल-पहल बढ़ जाती थी। तो इसी हिमयुग (प्लीस्टोसीन) के किसी भाग में, १० लाख वर्ष पूर्व से आरम्भ होकर कभी भी, कह सकते हैं, आज से ५,६ लाख वर्ष पूर्व सर्वप्रथम अर्धमानव का आगमन इस पृथ्वी पर हुआ। यह अर्ध-मानव प्राणी अन्य जंगली जानवरों की तरह जंगल में ही उत्पन्न हुआ था। जंगली जानवरों से घिरे रहने के कारण और आंधी तूफ़ान और सर्दी से अरक्षित रहने के कारण उसका जीवन अनिश्चित-सा रहता था, हर घड़ी भयातुर स्थिति में। धीरे-धीरे उसने, अपनी रक्षा के लिए, पत्थर के औजार और हथियार बनाना सीख लिया था। इन हथियारों से वे अपन देह की रक्षा करते थे और साथ ही साथ जानवरों का शिकार भी कर लेते थे। जंगल में मिलनेवाले कंदमूल खाते थे और साथ ही जानवरों का मांस भी। पहले तो वे अन्य जंगली जानवरों की तरह बिलकुल ही नंगे रहा करते होंगे किन्तु धीरे-धीरे पेड़ के पत्तों से और फिर जानवरों की खाल से उन्होंने अपना बदन ढकना सीख लिया होगा। पेड़ों के नीचे एवं गुफाओं में ये लोग रहते थे। छोटे-छोटे समूहों में इधर-उधर घूमते-फिरते थे। इन लोगों की चेतना बहुत विकसित नहीं थी, विचारों की उद्भावना अभी प्राय: नहीं के बराबर थी, अत: ये लोग कई लाख वर्षों तक अपने पाषाणीय हथियारों और औजारों की बनावट और प्रयोग इत्यादि में कुछ भी सुधार नहीं कर पाये। इनकी सभ्यता पाषाण-युगीय सभ्यता कहलाती है।

वास्तविक मानव प्राणी (होमोसेपियन—मेधावी मानव)

उक्त अर्धमानव की परम्परा चतुर्थ हिमयुग तक चलती रही, आज से प्राय: ५० हजार वर्ष पूर्व तक। उसके उपरांत अर्धमानव की परम्परा तो अचानक लुप्त हो गयी और उसकी जगह पूर्ण विकसित मानव का आविर्भाव हुआ, आज से लगभग ५० हजार वर्ष पूर्व। ऐसा अनुमान लगाया

जाता है कि जिस काल में अर्धमानव इस पृथ्वी पर रह रहा था उसी काल में एक अन्य प्रकार के मानव की परम्परा प्राचीन काल में किसी निपुच्छ वानरसम प्राणी से उद्भूत होकर पहिले से ही चली आ रही थी। यह मानव अर्धमानव से अधिक सभ्य था, अर्धमानव की तरह उसकी रीढ की हड्डी झुकी हुई नहीं थी। उसका सिर, उसके हाथ-पैर और रीढ सम्पूर्णतया उसी भाँति के थे जैसे आज के मानव के हैं। यह वस्तुतः पूर्ण मानव था। वास्तविक मानव की इस शाखा को प्राणि-शास्त्रज्ञों ने "होमोसेपियन" अथवा आधुनिक मानव या मेधावी मानव नाम दिया है। आज इस संसार के सभी मानव प्राणी चाहे उनके शरीर की बनावट, शरीर का वर्ण, भाषा और संस्कृति भिन्न-भिन्न हों, इस होमोसेपियन प्राणी से अवतरित हुए हैं। आज संसार में सभ्यता और संस्कृति का जो विशालरूप हम देखते हैं वह उसी होमोसेपियन मानव की हलचल का फल है।

ऐसे पूर्ण विकसित मानव के अस्थि-अवशेष हमें आज से लगभग ५० हजार वर्ष पूर्व के मिलते हैं। इसी से अनुमान लगाया जाता है कि आधुनिक पूर्ण मानव का अवतरण इस पृथ्वी पर इसी समय के लगभग हुआ होगा।

यह प्रश्न अभी विवादास्पद है कि वास्तविक मानव की परम्परा चलाने वाला आरंभ में एक ही मानव था या एकसाथ अनेक मानव उद्भूत हुए। यह भी विवादग्रस्त है कि वास्तविक मानव पृथ्वी के किसी एक ही भूखंड में विकसित हुआ या एक ही साथ पृथ्वी के कई भागों में। कुछ पुरातत्व और नृतत्व[1] वेत्ता यह अनुमान लगाते हैं कि वास्तविक मानव सर्वप्रथम मध्य एशिया में उद्भूत हुआ और वहाँ से दुनिया में

---

१. नृतत्व-वेत्ताओं ने प्रमुखतः निम्नाङ्कित बनावट और वर्ण सम्बन्धी विभेद बतलाये हैं, जिनके आधार पर मानव की विभिन्न प्रजातियों की कल्पना की गयी है, जैसे शरीर—लम्बे या नाटे कपाल वाला, पतली या चपटी नाक वाला, खड़े या ऊन जैसे लहरदार बाल वाला, गौर, पीत या कृष्ण वर्ण वाला।

चारों ओर फैला, और कालान्तर में कुछ अन्तःपरिवर्तन (mutation) और वातावरण के प्रभाव से कई प्रजातियों[1] (Races) में विभक्त हो गया।

यह वास्तविक मानव 'होमोसेपियन' पहले तो अर्धमानव के पाषाणयुगीय जीवन और सभ्यता के स्तर से गुजरा होगा। धीरे-धीरे उसने अपनी कुशलता में विकास किया और वह अर्धमानव के पत्थर और चकमक के औजारों की अपेक्षा अधिक सुन्दर और सुघड़ औजार बनाने लगा। गुफाओं में रहते-रहते उनमें चित्रांकन भी करने लगा, यहाँ तक कि उन चित्रों में रंग का प्रयोग भी करने लगा। धीरे-धीरे विकास करता हुआ आज से लगभग १५ हजार वर्ष पूर्व वह ऐसी स्थिति में पहुँचा जब वह तांबा और कांसा धातुओं का प्रयोग सीख गया, कृषि का आविष्कार कर लिया; पशुपालन करने लगा; कच्चे घर बनाने लगा और गाँव बसाकर रहने लगा, एवं चाक चलाकर मिट्टी के बर्तन बनाने लगा। विशाल प्रकृति के व्यापारों से भयातुर और विस्मित होकर धीरे-धीरे वह उनमें देवी-देवताओं की कल्पना करने लगा और बलि, भेंट आदि चढ़ाने लगा। आज के हम सब मानव उसी आदिमानव (होमोसेपियन) की परम्परा में विकसित हुए हैं। जब से मनुष्य का इस पृथ्वी पर आविर्भाव हुआ वह बराबर प्रगति करता जा रहा है और उसकी इस प्रगति के इतिहास का ही दूसरा नाम मनुष्य की संस्कृति और सभ्यता का इतिहास है।

भूगर्भ-वेत्ताओं ने हिम प्रसार के चिह्न हिमालय तक ढूंढ निकाले हैं।

३. भारतभूमि पर मानव का आगमन

हिमालय पहाड़ की प्रशाखा शिवालिक पहाड़ियों में उन्होंने मायोसीन-युग (लगभग दो-ढाई करोड़ वर्ष पहले) के मानव-सम वानरों की पथराई हुई अस्थियों का पता लगाया है। ये उन्हीं वानर प्राणियों की अस्थियाँ हैं जिनसे अंत में मानव का उद्भव हुआ

---

१. संसार की प्रमुख प्रजातियाँ—नॉर्डिक, अल्पाइन, भूमध्यसागरीय, मंगोलियन, आस्ट्रेलॉइड, और नीग्रो।

था। किन्तु यह तो निश्चयपूर्वक नहीं कहा जा सकता कि भारत भूखंड में ही सर्वप्रथम अर्धमानव अस्तित्व में आया। भूगर्भ-वेत्ताओं का ऐसा अनुमान है कि प्रथम हिमयुग की समाप्ति पर या द्वितीय हिमयुग के प्रारम्भिक काल में (अनुमानतः ४, ५ लाख वर्ष पूर्व) आरम्भिक मानव उत्तर-पश्चिमी पंजाब, सिंध, झेलम के दोआब, आधुनिक रावलपिंडी, अटक और जम्मू एवं पंजाब की शिवालिक पहाड़ियों में कहीं बाहर से चलकर आया। इस युग के मानव के पत्थर के औजार रावलपिंडी, मध्यभारत में होशंगाबाद और जबलपुर जिलों की भूमि में पाये गये हैं। ये औजार बहुत सुघड़ नहीं थे, इसके उपरांत ४ से २ लाख वर्ष पूर्व के गोल पत्थर के हथियार और औजारों के अवशेष जो पहले के औजारों से अधिक सुघड़ थे, झेलम नगर के निकट सोन और सिंधु नदी की घाटियों में मिले हैं। सोन घाटी के औजारों का प्रचलन उत्तर-पश्चिमी भारत में अंतिम हिम-विलय-युग (५० हजार वर्ष पूर्व) तक चलता रहता है। इसी प्रकार के पाषाण उद्योगों के अवशेष दक्षिण-पूर्व भारत (मद्रास) कर्नूल, मध्यभारत, पश्चिमी भारत (बंबई के आसपास) एवं बिहार की सोन नदी की घाटी में भी मिले हैं। इन बातों के अतिरिक्त इस भारतभूमि पर उस आदि-अर्धमानव की हलचल की विशेष जानकारी अभी तक उपलब्ध नहीं हो पायी है।

इसके उपरान्त जैसा कि ऊपर उल्लेख किया जा चुका है, प्राक् या अर्धमानव की परम्परा तो शेष दुनिया की तरह भारत में भी समाप्त हो जाती है, और उसके समाप्त होने पर इस पृथ्वी पर प्लीस्टोसीन-युग के अंतिम वर्षों में आज से लगभग ५० हजार वर्ष पहले, पूर्ण मानव का आगमन होता है। कोई पूर्ण मानव भारत में ही उद्भूत हुए हों और यह भूमि ही उनकी आदिजन्म-स्थान रही हो, यह निश्चयपूर्वक नहीं कहा जा सकता। भूगर्भ वनस्पति एवं जीव संबंधी शास्त्रों की साक्षी के आधार पर तो विद्वानों का यही मानना है कि प्रागैतिहासिक काल से ऐतिहासिक काल तक अनेक मानव अन्य भूखंडों से भारत में आये और बसे, और उन्हीं सबके सम्मिश्रण से 'भारतीय मानव' बना। इस बात का संकेत

ऊपर किया जा चुका है कि पृथ्वी पर मानव के आगमन के बाद वह कई प्रजातियों में विभक्त पाया जाता है। अब देखना यह है कि किन-किन प्रजातियों के लोग भारत में आये जिनकी सन्तान वर्तमान भारत के ३६ करोड़ जन (१६५० की जनगणना के अनुसार) हैं। यह खयाल गलत है कि भारतवासी शुद्ध रूप से किसी एक ही नौर्डिक (आर्य) या इतर-आर्य जाति की सन्तान हैं,··· वस्तुतः आज दुनिया में कहीं भी, कोई भी लोग शुद्ध रूप से किसी एक ही प्रजाति की सन्तान नहीं हैं, सब ही प्रजातियों के रक्त से मिल-जुलकर आज की दुनिया का मानव बना है। वैसा ही भारत में हुआ। प्रजातियों के लोगों का भारत में आगमन हुआ, उनके सम्मिश्रण से भारतीय जनता बनी, और उनकी प्रत्येक की अपनी प्रतिभा, संस्कार और स्वभाव की देन से[1] भारतीय संस्कृति का निर्माण हुआ।

४. निष्कर्ष

नीग्रो (हब्शी) भारतवर्ष के सबसे प्राचीन निवासी माने जाते हैं। ये लोग होमोसेपियन मानव के ग्रीमाल्डी स्टाक में से निकले थे। ऐसा माना जाता है कि ये लोग एशिया में, अरब से भारत तक फैले हुए थे। कालान्तर में निषाद या आग्नेय लोग भारत में आये। उन्होंने नीग्रो लोगों को भारतभूमि से प्रायः खदेड़ दिया, और वे मलाया और पूर्वी द्वीप-समूह में जा बसे। निषाद लोग गंगा-यमुना की अन्तर्वेदी, बंगाल, बिहार, मध्यप्रदेश एवं दक्षिणी भारत में फैले हुए पाये जाते थे। निषाद लोगों के बाद भारत में पहले तो आदि-भूमध्यसागरीय जाति के लोग (असभ्य द्रविड़) आये और इन्होंने निषाद लोगों को दक्षिण भारत और बनों में इधर-उधर भगा दिया। दक्षिण भारत से 'निषाद लोग' पूर्वी द्वीपसमूह और आस्ट्रेलिया की ओर भी चले गये, जहाँ उनके और हब्शी तत्त्वों के मिलने से आस्ट्रेलॉइड प्रजाति का विकास हुआ। आदि-द्रविड़ों

---

१. 'भारत में विभिन्न प्रजातियों के लोगों का मिलन और भारतीय संस्कृति तथा सभ्यता को उनकी देन' नामक विस्तृत तालिका इसी पुस्तक के परिशिष्ट 'क' में देखिए।

के बाद भूमध्यसागरीय प्रजाति की दूसरी शाखा के लोग भारत में आये। वे सिन्ध, पंजाब और उत्तरप्रदेश में फैल गये। इन्हीं लोगों ने, ऐसा माना जाता है, सिन्धु-सभ्यता का विकास किया। ऐसा भी माना जाता है कि सुमेरियन सभ्यता से इनका निकट सम्पर्क था। इनकी उच्च नागरिक सभ्यता न केवल सिन्ध और पंजाब प्रान्तों में फैली, वरन् उसका अस्तित्व और प्रसार उत्तरप्रदेश और मध्यप्रदेश तक हुआ। बलूचिस्तान में आज जो ब्रूही भाषा मिलती है वह द्रविड़ भाषा का ही एक रूप है। आर्य लोग जब भारत में आये, तब उनका सामना अर्धसभ्य मुण्डा और निषाद लोगों से नहीं हुआ था, जैसा कि अब तक माना जाता रहा है। किन्तु सामना हुआ द्रविड़ लोगों की उस उन्नत सभ्यता से जो भौतिक दृष्टि से आर्य-सभ्यता की अपेक्षा बहुत अधिक बढ़ी-चढ़ी थी। आर्य लोग आये और ज्यों-ज्यों वे इस देश में सप्तसिन्धु प्रदेश से पूर्व की ओर गंगा-यमुना की अन्तर्वेदी में, और दक्षिण की ओर मध्यभूमि में फैले, त्यों-त्यों द्रविड़ लोग दक्षिण की ओर खिसकते गये और अन्त में वहीं बस गये। इसी के फलस्वरूप दक्षिण भारत में आज द्रविड़ भाषाओं की प्रधानता मिलती है। अन्य प्रजातियों के लोग भी जैसे पृथुकपाली वाले लोग पश्चिम से, एवं मंगलोइड (किरात) पूर्व से आकर भारत में बस गये थे। ज्यों-ज्यों समय बीतता गया त्यों-त्यों इन सब जातियों के लोगों का वैवाहिक सम्बन्ध द्वारा सम्मिश्रण होता गया, इन सब की शारीरिक विशेषताओं ने घुलमिल कर एक विशिष्ट भारतीय मानव का, एवं इनके रहन-सहन के तरीकों, विचारों, भावनाओं और मान्यताओं ने घुलमिल-कर विशिष्ट भारतीय संस्कृति और सभ्यता का निर्माण किया।

(अ) इस तरह भारत में भाषा-संस्कृति की दृष्टि से मानव-परिवार की छः प्रमुख प्रजातियाँ चार परिवारों में सन्निहित हो जाती हैं। यथा आग्नेय (मुण्डा-निषाद), द्रविड़, तिब्बती, चीनी (किरात) एवं आर्य। जिनमें से तीन यथा आग्नेय, द्रविड़ और आर्य ने भारतीय संस्कृति के विकास में विशेष योग दिया।

(आ) भारतीय सभ्यता और संस्कृति केवल नॉर्डिक (आर्य)

जाति की, कुलीन लोगों की, ही सभ्यता-संस्कृति नहीं है। यह सभ्यता-संस्कृति है मूक-से दीखने वाले उन कोटि-कोटि जनों की जो किसी भी जगह पत्थर स्थापित करके उस पर सिन्दूर-रोली चढ़ाकर उसको पूजने से लेकर अद्वैत की महानतम अनुभूति तक के वैचित्र्य से जीवन में रंग भरते रहते हैं, भारतभूमि को रंगमयी, भावनामयी, विचारमयी, गति-मयी बनाये रखते हैं। यह सत्य है कि भारत में आर्यों के उद्गम या आगमन के बाद उनके वेद, उपनिषद्, शास्त्र, साहित्य, उनके आचार-विचार, भारतीय समाज में मानो सर्वत्र फैल गये। और भारतीय मानस में वे संस्कार-रूप में प्रतिष्ठित हो गये। मानो भारतीय संस्कृति सर्वथा आर्य-संस्कृति ही हो। किन्तु अन्य लोगों की देन भी भारतीय संस्कृति के निर्माण में कम महत्त्वपूर्ण और कम व्यापक नहीं है। वस्तुतः भारतीय संस्कृति के मूल को प्राग्-वैदिक (आगम) और वैदिक (निगम) दोनों धाराएँ सिंचित करती रही हैं। यदि आगम अर्थात् वे भावनाएँ, विश्वास और विचार जो आर्यों के पूर्व प्राचीनतम काल से आदिम आग्नेय (मुण्डा-निषाद) और द्रविड़ लोगों में प्रचलित थे—भारतीय संस्कृति का ताना हैं तो निगम अर्थात् वेद और उपनिषद् आदि में निहित विश्वास, विचार और भावनाएँ उसका बाना हैं। यदि निराकार परमात्मतत्त्व के उद्बोधन में होम (यज्ञ, हवन), निगम की भावना का सूचक है तो साकार इष्टदेव का चन्दन, पत्र-पुष्प, नैवेद्य, आरती आदि से पूजन आगम की भावना का सूचक। यदि 'ऋषि' निगम धर्म यज्ञ, हवन, जीवन और लोक में प्रगति और उत्साह एवं उत्तरोत्तर उन्नति का प्रतीक है तो 'मुनि' आगम धर्म के एक ओर लोक-निवृत्ति या मोक्ष-भावना का और दूसरी ओर पूजन, तंत्र और योग-साधना का प्रतीक है। निगम-आगम, ऋषि-मुनि, प्रवृत्ति-निवृत्ति, भोग-योग दोनों प्रकार की वृत्तियाँ साथ-साथ चलती रही हैं, और उन दोनों में, ज्यों-ज्यों एक ऐतिहासिक युग के बाद दूसरा युग आया है, प्रत्येक युग-विशेष की आवश्यकता के अनुसार समन्वय स्थापित होता चला है। पण्डित नेहरू ने ठीक ही कहा है कि भारतीय जनता की संस्कृति का रूप सामासिक है और उसका विकास धीरे-धीरे

हुआ है।[1] इस तथ्य की मधुर अभिव्यक्ति हम पाते हैं, महाकवि टैगोर की इन पंक्तियों में :—

हेथाय आर्य, हेथा अनार्य हेथाय द्राविड़-चीन।
शक-हूण-दल पाठान-मोगल एक देहे होलो लीन।

भारतीय संस्कृति की अद्भुतता यही है कि इसमें सब कोई आकर समाविष्ट हो जाते हैं। संस्कृति में व्याप्त इस भावनामूलक ज्ञान से कि जीवनेच्छा तो सभी में है, सब परस्पर खूब विभिन्नता होते हुए भी, एक-दूसरे को खुशी-खुशी जी लेने देते हैं, सबके विचारों को, भावनाओं को स्थान मिल जाता है। यदि ऐसा न होता तो सनातन काल से आज तक एक अजस्रधारा के समान चली आती हुई भारतीय संस्कृति कभी की विनष्ट हो गई होती। भारतभूमि में ही मानो कुछ ऐसे तत्त्व हैं। यहाँ की दया (हृदय की व्यापकता, विशालता) में क्रूरता अपने आप हार कर खत्म हो जाती है।

५. ऐतिहासिक पृष्ठभूमि

भारतीय जाति और संस्कृति का अपना विशिष्ट रूप प्रागैतिहासिक काल से आरम्भ होकर आग्नेय और द्रविड़ लोगों की देन वृक्ष, नाग और मूर्ति-पूजा एवं आर्य लोगों की देन वेद, उपनिषद्, धर्म, दर्शन को अपने में समाहित करता हुआ प्रायः ५०० ईसवी पूर्व तक निर्मित हो चुका था। किन्तु आश्चर्य की बात यह है कि इस काल का (आरम्भ से ५०० ईसवी पूर्व तक के काल का) जिसमें भारतीय संस्कृति का रूप निर्मित और स्थापित हुआ, क्रमबद्ध इतिहास उपलब्ध नहीं हो रहा है।

जब तक घटना काल से संबद्ध न की जाय तब तक इतिहास कैसा या संस्कृति की ऐतिहासिक पृष्ठभूमि कैसी? अतः भारतीय संस्कृति की तात्त्विक विशेषताओं और सही पृष्ठभूमि में उसके विकास को समझने के लिए भारतीय इतिहास के कालक्रम को ध्यान में रखना हम आवश्यक मानते हैं। खुशी की बात है कि विद्वानों ने अपनी अभी हाल की

---

१. दिनकर की 'संस्कृति के चार अध्याय' की भूमिका में।

गवेषणाओं से वेद और पुराण-ग्रंथों में पाये जाने वाले ऐतिहासिक तत्त्वों में साम्य सिद्ध करके, समस्त वैदिक काल का क्रमवार इतिहास खड़ा किया है, जिसका तारतम्य अनुमान से प्राग्वैदिक काल से भी बैठाया जा सकता है। उसी आधार पर (नयी खोजों के परिणामस्वरूप भविष्य में यह आधार गलत साबित हो सकता है, किन्तु आखिर किसी सहारे को तो लेकर चलना ही पड़ता है।) प्रागैतिहासिक युग से प्रारम्भ कर समस्त वैदिक काल को समाहित करते हुए ५०० ईसवी पूर्व तक की ऐतिहासिक राजनीतिक घटनाओं का कालक्रम एक सांकेतिक तालिका के रूप में हम आगे देते हैं।[1] और फिर, यद्यपि ५०० ई० पूर्व तक जाति एवं संस्कृति का एक भारतीय रूप बन चुका था, उनकी कुछ आधारभूत बातें स्थिर हो चुकी थीं तथापि उनका इतिहास तो उस काल में आकर समाप्त नहीं हो गया। उस काल के बाद भी बाहरी जगत् से सम्पर्क बना रहा। देशान्तरों के लोग भारत में आते रहे, नये जातीय एवं सांस्कृतिक अंश भारतीय जाति एवं संस्कृति में मिलते रहे, जैसे, ५०० ई० पूर्व तक के आग्नेय, द्रविड़ एवं आर्यों के बाद भिन्न-भिन्न युगों में आये—ईरानी, यवन, रोमक, शक, हूण, अरब, पठान, मुगल और

---

१. तालिका को तैयार करने में हमने निम्न ग्रंथों का आधार लिया है जो विद्वानों में प्रायः मान्य हैं :

1. F. E. Pargiter : Ancient Indian Historical Tradition, London, 1922.
2. F. E Pargiter : Dynasties of the Kali Age, London, 1933.
3. The Vedic Age : Prepared by the Bhartiya Itihasa Simiti and Published by Allen and Unwin Ltd, London, 2nd impression, 1957.

नोट :—तालिका में वैदिक-युग (६०० ईसवी पूर्व तक) की घटनाओं का जो कालक्रम दिखलाया गया है उसे सिद्ध नहीं मान लेना चाहिए। उसे अभी प्रस्ताव रूप में ही समझना चाहिए।

भारतीय इतिहास का कालक्रम

हिम युग—४-५ लाख वर्ष पूर्व	भारत का भौगोलिक निर्माण पूर्ण; अर्धमानव प्राणी का आगमन; आदि-पाषाणी सभ्यता।
पूर्व पाषाण युग	होमोसेपियन (वास्तविक मानव) की नीग्रो प्रजाति के लोगों की हलचल, उनकी पूर्व पाषाणी सभ्यता।
नव पाषाण युग (अनुमानतः ७-८ हजार वर्ष ई० पू०)	आग्नेय-निषाद-वंशी लोगों की हलचल, नव-पाषाणी सभ्यता।
ई० पूर्व ४-५ हजार वर्ष	भूमध्य-सागरीय प्रजाति के द्रविड़-लोगों की नगर-सभ्यता।
ई० पू० ३२५०-२७५०	उन्नत सिन्धु-सभ्यता।
आर्यों का सप्तसिंधु में प्रवास	ई० पू० ३००० मनु वैवस्वत, आदि-भारतीय आर्य, (अनुश्रुति के अनुसार) १—सप्तसिन्धव प्रदेश में वेद की परम्परा प्रारम्भ। २—मनु के पुत्र इक्ष्वाकु, जिनकी वंश-परम्परा में राम हुए। ३—मनु की पुत्री इला का पुत्र पुरूरवस् जिसकी वंश-शाखा-प्रशाखा में योगिराज कृष्ण और कौरव-पाण्डव हुए।
ऋग्वेद में संकलित अधिकतर मन्त्र दृष्ट हुए।	,, २६०० दुष्यन्त और शकुन्तला का पुत्र भरत, कौरव-पाण्डवों के पूर्वज, सरस्वती से गंगा तक के प्रदेश में पहुँचनेवाले प्रथम आर्य राजा। हरिश्चन्द्र (भगीरथ एवं दाशरथि राम के पूर्वज) ,, २००० राजा भगीरथ—गंगा की अन्तर्वेदी में राज्य स्थापित करने वाले प्रथम आर्य राजा, कोसल प्रदेश में अयोध्या राजधानी (राम के पूर्वज)।
आर्यों का गंगा की अन्तर्वेदी में प्रसार—वैदिक मन्त्र दृष्ट होते रहे।	,, १५०० रामायण की घटना (दाशरथिपुत्र राम जिनके समय में आर्यों का विस्तार दक्षिण भारत तक हुआ।) ,, १३८० परीक्षित प्रथम का राज्याभिषेक (प्राचीन पुरु-भरत वंश की परम्परा में)

	ई० पू०	१०००	महाभारत की घटना । योगिराज कृष्ण । कृष्ण-द्वैपायन व्यास द्वारा वेद-संहिताओं का सम्पादन ।
ब्राह्मण-आरण्यक-उपनिषदों की रचना ।	,,	७००	यास्काचार्य द्वारा निरुक्त का प्रणयन ।
	,,	६००	वाल्मीकि-रामायण, पाणिनीय व्याकरण और महाभारत का प्रणयन, पुनर्जन्म का सिद्धांत, कर्मफलवाद, मूर्ति-पूजा और भक्ति से संबंधित विचारों का आरम्भ और प्रचलन ।
गीता, वेदांग-साहित्य एवं सूत्र-ग्रंथ ।	,,	५००	महावीर, बुद्ध एवं भारत-युद्ध-कालीन राजाओं की २२वीं से २५वीं पीढ़ी में वत्स, कोसल और मगध के राजा उदयन प्रसेनजित् और रिपुंजय । न्याय दर्शन के ऋषि गौतम ।
जैन-दर्शन, बौद्धदर्शन एवं षड्-दर्शनों का प्रारम्भ ।	,,	३६०	महापद्मनन्द का राज्याभिषेक ।
	,,	३२०	चन्द्रगुप्त, चाणक्य, सिकन्दर ।
			अशोक का राज्य (२७३-२३२ ई० पू०)
	,,	२००	जैमिनी का मीमांसा-सूत्र, मनुस्मृति ।
	,,	१४०	पतंजलि का योगसूत्र ।
	,,	५७	गौतमीपुत्र शातकर्णि (विक्रमादित्य प्रथम) वि. सं. चलानेवाले,
	ई० सन्		महाभारत का अन्तिम रूप ।
	,,	७८	कुषाण राजा कनिष्क, चरक, सुश्रुत ।
	,,	४००	चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य (३७४-४१३) चीनी यात्री फाह्यान, कालिदास ।
	,,	४७६	ज्योतिर्विद् आर्यभट्ट का जन्म, वराहमिहिर ।
	,,	६०६	हर्षवर्धन का राज्याभिषेक, चीनी यात्री ह्वांसांग, बाण भट्ट कवि ।
	,,	७८८	कुमारिल भट्ट, शंकर, मंडनमिश्र
	,,	१०००	सुलतान महमूद की कन्नौज के राजा जयचन्द पर विजय ।

योरोपीय। अतः उक्त ऐतिहासिक कालक्रम की तालिका को हम आधुनिक युग तक खींच लाये हैं और उसमें केवल उन्हीं कुछ घटनाओं या व्यक्तियों का निर्देश किया है जिनका जातीय या सांस्कृतिक महत्त्व है, और जो इतिहास का क्रम समझने में सहायक हैं।

तालिका का स्पष्टीकरण

विश्व की कई प्राचीन जातियों के साहित्यों में, जैसे सुमेर बेबीलोन का साहित्य, यहूदी लोगों की ओल्ड टैस्टामेन्ट, हिन्दुओं के पुराणों में जल-प्रलय की एक अनुपम कहानी आती है जिसके अनुसार उक्त जातियों के अधिकतम जन बाढ़ में विनष्ट हो गये और कुछ ही जन पर्वत-शिखरों पर पहुँचकर जीवित रह सके। सम्भव है कि उक्त जल-प्रलय अन्तिम हिम-युग के बरफ़ पिघलने के फलस्वरूप हुआ हो। भारतीय अनुश्रुति के अनुसार जब बाढ़ आयी तो लम्बे सुडौल, गौरवर्ण वाले लोग जो अपने आपको आर्य कहते थे अपने नेता मनु वैवस्वत के साथ, हिमालय शिखर से उतरकर भारत के उस प्रदेश में आकर बस गये जहाँ सरस्वती एवं आधुनिक सतलज, व्यास, रावी, चिनाब, झेलम और सिन्धु नदियाँ बहती हैं। इस प्रदेश का नाम सप्तसिंधु पड़ा। यहीं पर आर्य मनु और उनके वंश का प्रसार हुआ। आर्य लोग चारों ओर फैल गये और उन्होंने सप्त-सिंधु प्रदेश में कई छोटे-छोटे राज्य स्थापित किये। अनुश्रुति में यह बात भी आती है कि मनु के चार पुत्रों—इक्ष्वाकु, प्रांशु, सुद्युम्न और शर्याति ने सर्वप्रथम आर्य-राज्य स्थापित किये। आधुनिक इतिहासकारों ने इस घटना का काल लगभग ३००० वर्ष ईसा-पूर्व अनुमानित किया है। तभी से सारे भारत में आर्य लोगों के इतिहास का आरम्भ होता है।

आर्य लोग सचमुच अनुपम प्रतिभाशाली मानव थे। तभी तो वे अपने वैदिक एवं वेदांग-साहित्य के रूप में मनुष्य-जाति को ऐसी अनुपम निधि दे सके जिसकी गम्भीर अनुभूति, सत्य-दर्शन, तात्त्विक ज्ञान और उदात्त गीतात्मक कविता की तुलना में विश्व का कोई भी अन्य साहित्य शायद ही ठहरता हो—वह भाषा जिसके आधार पर योरोप में सर्वथा नये विज्ञान, यथा तुलनात्मक भाषा-विज्ञान एवं तुलनात्मक पुराण-विद्या

का आविर्भाव हुआ, वह ज्ञान जिसकी तात्त्विक मान्यताएँ विज्ञान के प्रतिकूल नहीं किन्तु अनुकूल ठहरती हैं, एवं वे उदात्त भावनाएँ जिनमें एक जाति-विशेष की आत्मा नहीं वरन् समस्त मानव-जाति की आत्मा मुखरित हुई है। ऐसा मत योरोपीय और भारतीय विद्वानों का है। भारत का इतिहास प्रमुखतया इन्हीं आर्य लोगों का इतिहास है। एक दृष्टि से यह बात सत्य है कि भारतीय साधारण जन में अनेक ऐसे संस्कार, विश्वास और मान्यताएँ प्रचलित हैं जैसे, पेड़, पशु और मूर्ति की पूजा, जाति-प्रथा इत्यादि, जो अवैदिक हैं, तब भी भारत के अधिकतम जन वेद और उपनिषदों को ही अपने धर्म, विश्वास, संस्कार और प्रेरणा का स्रोत मानते हैं।

भारत में इन आर्य लोगों का किसी सुनिश्चित काल-क्रम के अनुसार इतिहास अब तक उपलब्ध नहीं था। इधर अभी हाल के कुछ इतिहास-कारों ने यह काल-क्रम निश्चित करने का प्रयास किया है। उसी के आधार पर ऊपर की तालिका तैयार की गयी है। इसकी कुछ द्रष्टव्य बातें नीचे दी जाती हैं।

१—लगभग ३००० ई० पूर्व में आर्य सप्तसिन्धु में बसे और उन्होंने अपने छोटे-छोटे राज्य स्थापित किये।

२—सप्तसिंधु के रम्य वन, उपवन और आश्रमों में रहते हुए ही आर्य ऋषियों ने वैदिक ऋचाओं और मंत्रों का दर्शन और प्रणयन किया।

३—३०००-२००० ई० पूर्व तक जो मंत्रद्रष्टा या आर्य-ऋषि हुए, उनमें से कुछ प्रमुख ये थे :—अत्रि, मरीचि, भृगु, कश्यप, दधीचि, उशनस्, शुक्र, उषिज्, वृहस्पति, संवर्त, भरद्वाज और कण्व।

४—२०००-१००० ई० पूर्व तक जो मन्त्रद्रष्टा या आर्य-ऋषि हुए उनमें से कुछ प्रमुख थे—गोपवन, उर्व, ऋचीक, वशिष्ठ, अगस्त्य, जमदग्नि, विश्वामित्र, पराशर और उपमन्यु।

५—लगभग ३००० ई० पूर्व में मनु वैवस्वत के पुत्र आर्य राजा इक्ष्वाकु हुए जिनके वंश की लगभग ७०वीं पीढ़ी में रामायण महाकाव्य

के नायक दाशरथि राम उत्पन्न हुए। इसी वंश की एक और शाखा थी जिसका प्रारम्भ इक्ष्वाकु के द्वितीय पुत्र निमि से होता है। इस वंश में राम की पत्नी सीता के पिता जनक ने जन्म लिया था। राम के बाद महाभारत-काल तक इस वंश के लगभग २८ राजाओं का उल्लेख मिलता है। महाभारत के समय इस वंश का राजा बृहद्रथ था। यह वंश सूर्यवंश के नाम से प्रसिद्ध हुआ।

मनु की पुत्री इला का पुत्र पुरूरवस् ऐल प्रसिद्ध आर्य राजा हुआ, जिसका उल्लेख ऋग्वेद "१०/९५" में भी आता है। अपनी पत्नी (उर्वशी) के साथ यह राजा मंत्रद्रष्टा भी था। पुरूरवस् के नाती नहुष ने इस वंश का खूब विकास किया। नहुष के पुत्र ययाति की ये सन्तानें हुईं—यदु, दुर्वसु, द्रुह्यु, अनु और पुरू—जिनका ऋग्वेद में उल्लेख है। इनमें से यदु की वंश-परम्परा में महाभारत-काल में योगीराज कृष्ण हुए।

६—लगभग २६०० ई० पूर्व में पुरूरवस् की ही वंश-परम्परा में राजा दुष्यंत और शकुन्तला के पुत्र भरत हुए जिनके नाम पर इस देश का नाम भारतवर्ष पड़ा। भरत की ही वंश शाखा-प्रशाखा में महाभारत महाकाव्य के कौरव और पाण्डव राजवंश हुए।

७—लगभग २००० ई० पूर्व में राजा भगीरथ हुए। यही पहले आर्य राजा थे जिन्होंने सप्तसिंधु से पूर्व की ओर प्रयाण किया, यमुना, गंगा पार की, गंगा की अन्तर्वेदी के कोसल प्रदेश में अपना राज्य स्थापित किया, और अयोध्या को राजधानी बनाया। इसी काल में आर्य पूर्व की ओर बढ़ने लगे थे। भगीरथ उसी इक्ष्वाकु-वंश-परम्परा में थे जिसमें बाद में जाकर राजा रामचन्द्र हुए।

८—लगभग १५०० ई० पू० में रामायण की घटना हुई। लगभग इसी काल में आर्य लोग दक्षिण प्रदेश में पहुँचे और वहाँ उनकी सभ्यता और संस्कृति का प्रसार होने लगा।

९—लगभग १००० ई० पूर्व में महाभारत की घटना हुई, (किन्हीं विद्वानों ने इस घटना का काल लगभग १५०० ई० पूर्व माना है।) यदुवंशी कृष्ण भी इसी समय हुए। इसी समय कृष्णद्वैपायन व्यास ऋषि हुए जिन्होंने

ऋषियों की ऋचाओं और मंत्रों का संकलन एवं सम्पादन किया और समस्त ऋचाओं और मंत्रों को चार वैदिक संहिताओं में ग्रथित किया। मुख्य तो ऋग्वेद ही है और उसी में सप्तसिन्धु एवं गंगा की अन्तर्वेदी काल के प्रमुख मंत्र संगृहीत हैं। दशम मंडल में १००० ई० पूर्व तक के मंत्र आ गये हैं। अन्य संहिताओं में ऋग्वेद मंत्रों के अतिरिक्त भी अनेक मंत्र हैं, जिनमें कई तो बहुत प्राचीन भी हैं।

१०—महाभारत की घटना के बाद लगभग १००० ई० पूर्व से ६०० ई० पूर्व तक ब्राह्मण, आरण्यक और उपनिषद् साहित्य का विकास हुआ। ऋग्वेद में मोटे तौर पर दो विषय हैं, ज्ञानकाण्ड और कर्मकाण्ड। इनमें से कर्मकाण्ड का विकास ब्राह्मणों में और ज्ञानकाण्ड का उपनिषदों में हुआ। वैसे यह साहित्य वेदोत्तरकाल का है किन्तु इसमें भी एक संख्या में ऐसे मंत्र हैं जो प्राचीन काल में ही वैदिक ऋषियों को दृष्ट हुए थे। वेद के ऋषि ने प्रकृति के समस्त व्यापार के पीछे एक प्रच्छन्न शक्ति की अनुभूति की थी, उपनिषद् के ऋषि ने इस प्रच्छन्न शक्ति को सर्वव्यापी रूप में देखा और उसे परमात्म तत्त्व की संज्ञा दी।

उपनिषद् काल के बाद किन्तु बुद्ध के पहले ही भगवद्गीता की रचना हुई। एक यह मान्यता भी है कि गीता का निर्माण जैन और बौद्ध धर्मों और दर्शनों के बाद हुआ। इतना स्पष्ट है कि गीता का रचयिता कोई महान् मनीषी, विचारक, तत्त्व-द्रष्टा और कवि था।

११—महाभारत युद्ध के बाद युधिष्ठिर कुरु प्रदेश के राजा बने थे। वह तो अपने भाइयों के साथ हिमालय की ओर प्रयाण कर गये, और उनके बाद परीक्षित, अर्जुन का पौत्र एवं अभिमन्यु का पुत्र, राजा बना। उस का राज्य पश्चिम में आधुनिक थानेश्वर और दिल्ली से लेकर गंगा के ऊपरी दोआब तक प्रसारित था। महाभारत के बाद देश में वस्तुतः कई पृथक्-पृथक् राज्य थे जिनमें तीन प्रमुख हैं, यथा कुरु, कोसल और मगध। इन तीनों राज्यों की परम्परा महाभारत के अन्त से लेकर ई० पू० चौथी शताब्दी तक चली। महाभारत के बाद पौरव या कुरु राज्य के प्रथम

राजा ऊपर उल्लिखित परीक्षित थे। परीक्षित के बाद उसका पुत्र जनमेजय कुरु-प्रदेश का प्रसिद्ध राजा हुआ। जनमेजय की तीन-चार पीढ़ियों के बाद कुरुवंश के लोग गंगा के ऊपरी दोआब से पूर्व की ओर खिसक गये और वहाँ प्रयाग के निकट वत्सभूमि में कौशाम्बी राजधानी बनाकर उन्होंने अपना नया राज्य स्थापित किया। परीक्षित की २५वीं पीढ़ी में प्रसिद्ध राजा उदयन हुआ जो बुद्ध का समकालिक था। दूसरे प्रमुख राज्य कोसल में महाभारत के समय में बृहद्बल राजा था। भारत युद्ध में उसकी मृत्यु के बाद, उसकी २२वीं या २३वीं पीढ़ी में प्रसेनजित् राजा हुआ जो बुद्ध का समकालीन था। तीसरे प्रमुख राज्य मगध के महाभारतकालीन राजा जरासंध की २२वीं या २३वीं पीढ़ी में मगध का राजा रिपुंजय हुआ जो बुद्ध का समकालीन था। बुद्ध के ही समय में रिपुंजय का मंत्री बिम्बसार (ई० पू० ५५४–५२७) रिपुंजय का वध करके, मगध का शासक बन बैठा। ई० पू० की चौथी शताब्दी तक मगध के शासकों ने वत्स और कोसल राज्यों को समाप्त कर विशाल मगध साम्राज्य की स्थापना की। ३२० ई० पू० में मगध के नंद-वंश को समाप्त कर चन्द्रगुप्त मौर्य भारत का सम्राट् बना। तभी से मानो भारतीय इतिहास के सुज्ञात और सुक्रमबद्ध अध्याय का आरम्भ होता है।

१२—७०० ई० पू० के लगभग यास्क ने वेदांग-साहित्य निरुक्त की रचना की।

६०० ई० पू० के ही लगभग पाणिनि ने अपनी प्रसिद्ध व्याकरण अष्टाध्यायी की रचना की।

ई० पू० ५०० से ३०० वर्षों तक कल्पसूत्रों, (श्रौत, गृह्य, एवं धर्म-सूत्रों) की रचना हुई, इन्हीं सूत्रों से बाद में स्मृतियां निकलीं—जैसे मनुस्मृति, जिसका रचना काल ई० पू० २०० के आस-पास माना जाता है।

स्मृतियों के साथ-साथ पुराण-ग्रंथों का उल्लेख भी आवश्यक है। पुराण वस्तुतः वैदिककाल से ही संगृहीत होते आ रहे थे। ये एक प्रकार की अनुश्रुतियां थीं जिनमें आर्य-जाति के इतिहास का प्रारम्भ से ही

संकलन होता जा रहा था। इनकी रचना की परम्परा मध्य-युग में ८वीं-१०वीं शताब्दी तक चली। पौराणिक विचार और भावना के विकास की दृष्टि से ई० शती के आरम्भ से १०वीं शती तक के काल को पौराणिक युग माना जा सकता है।

१३—ई० पू० ६०० के लगभग वाल्मीकि कवि हुए जिन्होंने अयोध्या के राजगृह के चारणों में प्रचलित राजा राम की वीरगाथाओं के आधार पर रामायण की रचना की। परम्परा तो यह है कि वाल्मीकि राम के समकालीन थे, यह बात ठीक हो तो वाल्मीकि का समय १५०० ई० पू० होगा, और वही काल रामायण की रचना का।

ई० पू० ६०० के लगभग ही, किन्तु रामायण के बाद, किसी प्रतिभाशाली कवि ने भारत-युद्ध की गाथाओं के आधार पर 'महाभारत' का प्रणयन अथवा संकलन किया। आदि-महाभारत में केवल ८८०० श्लोक थे। जुड़ते-जुड़ते इसको अन्तिम रूप, जिसमें एक लाख श्लोक हैं, ई० सन् के आरम्भ में प्राप्त हुआ।

१४—तालिका में ई० पू० ६०० की रेखा के सामने यह तथ्य अंकित किया गया है कि इस काल में 'जन्मान्तरवाद' और कर्मफल की मान्यताएँ पूर्णरूप से स्थापित हुईं, एवं मूर्तिपूजा तथा भक्ति का आरम्भ हुआ। इसका इसी स्थान पर कुछ विशेष स्पष्टीकरण आवश्यक है। वस्तुतः ६०० ई० पू० के लगभग भारतीय जनता के विचारों और विश्वासों में अजीब उथल-पुथल हो रही थी। कर्म-फल एवं मृत्यु के बाद जन्म—इन बातों के सम्बन्ध में कुछ धुंधली-सी मान्यताएँ पहले से चली आ रही थीं वेदों में इन बातों के सम्बन्ध में स्पष्टतापूर्वक विचार नहीं किया गया था और न वैदिक-कालीन ऋषियों और साधारण आर्यजनों में इन बातों के विषय में कोई स्पष्ट और स्थिर मान्यता ही थी। वेदों के ब्राह्मण-भाग की रचना के समय भी लगभग यही स्थिति रही, यद्यपि इस दिशा में विचारों का कुछ विकास अवश्य हुआ। उपनिषद्-काल (वही ५०० ई० पू० के पहले) में औपनिषदिक ऋषियों के विचारों के प्रभाव

से मोक्ष, कर्मफल-वाद, पुनर्जन्म, संन्यास, वैराग्य एवं योग-ध्यान[1] आदि की बातें लोक में पूर्णरूप से स्थापित हो गईं, और साथ ही साथ मूर्ति-पूजा और परमात्मा की 'एक व्यक्ति के रूप में' भक्ति (सगुण) का आरंभ हुआ। भारतीय मानस में यह एक महत्त्वपूर्ण घटना थी। जनधर्म और जनमानस में इन बातों की स्थापना में आगमयुग (प्राक्आर्य नीग्रो, निषाद एवं द्रविड़ लोगों) की मान्यताओं का प्रभाव अवश्य था, किन्तु वह प्रभाव आर्य-धारा में इस प्रकार घुल-मिलकर आया कि वह आर्येतर नहीं दीखता था। इस स्थिति में आकर भारतीय विचार और परम्परा (आत्मा-परमात्मा, मोक्ष, कर्मफल, जन्मांतरवाद) का रूप मानो सुनिश्चित और स्थिर-सा हो गया था, जिसकी मूर्त अभिव्यक्ति जन-साधारण के लिए, कालांतर में पुराणों में जाकर हुई।

१५—ई० पू० ७०० के आसपास श्री पार्श्वनाथ स्वामी और फिर ५०० ई० पू० के लगभग श्री महावीर स्वामी जैन-धर्म का प्रसार कर रहे थे। इसी समय बुद्धधर्म के प्रवर्तक महात्मा बुद्ध भारत में उपदेश दे रहे थे। ये दो ज़बरदस्त धार्मिक आन्दोलन थे जिन्होंने पूर्वप्रचलित कर्म-फल, जन्मांतरवाद और मोक्ष को तो अपने-अपने विचारों की दार्शनिक पृष्ठभूमि के रूप में अपना लिया, किन्तु याज्ञिक कर्मकाण्ड, आडम्बर, वर्ण-भेद और पुरोहितवाद के जटिल ब्राह्मण धर्म की जगह आचार की पवित्रता, मानव में ही नहीं प्राणीमात्र में समानता और अहिंसा पर आधारित सुबोध धर्मों का प्रचलन किया। इन दोनों धर्मों का मार्ग निवृत्ति-प्रधान था।

१६—ई० पू० ३०० के लगभग यूनानियों (यवन, ग्रीक लोग) ने

---

1. "···Self-concentration and Yoga had developed as a technical method of mystic absorption sometime before the Buddha."—S. N. Das Gupta : A History of Indian Philosophy, Cambridge University Press, 1932, Vol. I, pp 327.

सिकन्दर के नेतृत्व में खैबर की घाटी से भारत में प्रवेश किया, सीमान्त प्रदेश पर छोटे-छोटे राज्य स्थापित किये जो चार-पाँच सदियों के बाद लुप्त हो गये। जो थोड़े से ग्रीक आये थे वे भारतीय जनता में ही घुल-मिल गये और अपनी संस्कृति का प्रभाव भारत की कला, ज्ञान-विज्ञान पर छोड़ गये। भारतीय चन्द्रगुप्त मौर्य, सम्राट् अशोक एवं अन्य मौर्य राजाओं का यह युग था (३२२ ई० पू०–१८४ ई० पू०)। इसके पश्चात् दक्षिण के ब्राह्मण राजा शालिवाहन द्वारा प्रतिष्ठापित शातवाहन सम्राटों का युग (१८४ ई० पू० से १७६ ई० तक) रहा।

१७—ईस्वी सन् की दूसरी सदी से सातवीं सदी तक कई आक्रमण-कारी जातियों ने उत्तर-पश्चिम से भारत में प्रवेश किया—जैसे पार्थियन, शक और हूण। पार्थियन लोग सीमान्त प्रदेशों के भारतीयों में, शक लोग मालवा, सौराष्ट्र, गुजरात तथा महाराष्ट्र की लड़ाकू जातियों में घुल-मिल गये। इनसे राजपूतों का विकास माना जाता है। इस काल में तीन वंशों के सम्राटों का राज्य रहा :—

१. भारशिव, वाकटक साम्राज्य (१७६-३४० ई०)

२. गुप्त साम्राज्य (३४०–५४० ई०) जिसमें पौराणिक धर्म, साहित्य एवं कला, और ज्ञान-विज्ञान का अभूतपूर्व विकास और प्रसार हुआ, संसार को चकित कर देने वाला।

३. पिछले गुप्त, मौखरि एवं वैस (हर्ष) राज्य (५४०–६५० ई०) जिनमें सर्वप्रसिद्ध सम्राट् हर्षवर्धन हुआ (६०६–६४७ ई०)।

हर्षवर्धन के साथ-साथ मानो भारतीय इतिहास का एक युग समाप्त होता है—प्राचीन गौरवशाली युग। इसके बाद इतिहास के मध्य-युग का प्रारम्भ होता है।

१८—हर्ष के बाद भारत का राजपूतकालीन शौर्यपूर्ण युग आता है (६५०–१२०६ ई० तक)। राजपूतों का इतिहास हिन्दू-मुस्लिम-द्वन्द्व का इतिहास है। किन्तु इसी द्वन्द्व के फलस्वरूप भारतीय संस्कृति अनेक नये तत्त्वों को अपने में मिलाकर आगे बढ़ती है।

८वीं सदी में अरब लोगों ने सिंध में प्रवेश किया—सांस्कृतिक

आदान-प्रदान हुआ। किन्तु, इस मुस्लिम आक्रमण का केवल स्थानीय महत्त्व रहा। इसके तीन सौ वर्ष बाद उत्तर-पश्चिम से पठान तुर्कों के हमले प्रारम्भ हुए, १२०६ ई० में दिल्ली पर मुसलमानी राज्य कायम हो गया।

१२०६–१५२६ ई० तक पठान-तुर्क सुलतानों का राज्य रहा।

१५२६ से १८वीं सदी तक मुग़ल सम्राटों का राज्य रहा।

जिस प्रकार यूनानी, पार्थियन, शक और हूण भारतीय जनता में घुल-मिल गये थे और उनका पृथक् सामाजिक-सांस्कृतिक-धार्मिक अस्तित्व नहीं रहा था—वैसा मुसलमानों के साथ न हो सका, वे भारत-निवासी तो हो गये, उनके सम्पर्क से भारतीय संस्कृति का विकास भी हुआ, किंतु उन्होंने अपना पृथक् सामाजिक-धार्मिक अस्तित्व बनाये रक्खा। यह सब होते हुए भी इन समस्त मध्यकालीन शताब्दियों में भारतीय संस्कृति की धारा अविच्छिन्न रूप से प्रवाहित होती रही, और हिन्दू-मुस्लिम सम्पर्क से भारत में उत्पन्न हुए—संत कबीर और नानक, कवि जायसी, रसखान और रहीम, ताजमहल, चित्रकारी की नयी शैलियाँ, और संगीत के नये राग।

१६—१७०७ ई० के बाद मुगलों का पतन होने लगा। १७५७ ई० में अंग्रेजी राज्य की नींव पड़ी, लगभग २०० वर्ष तक यह राज्य चलता रहा, १९४७ में वह भी समाप्त हो गया। अंग्रेजों के द्वारा पश्चिम के सम्पर्क से नये आधुनिक भारत का उदय हुआ। बदलती हुई दुनिया में, विकासमान मानव-जीवन और संस्कृति को हमारा यह प्राचीन देश भारत अपने योगदान के लिए सर्वथा समर्थ है।

तीसरा अध्याय

भारतीय संस्कृति के युग

पिछले अध्याय में किये गये ऐतिहासिक विवेचन के आधार पर भारतीय संस्कृति का अध्ययन हम निम्न युगों या काल-विभागों के अनुसार कर सकते हैं। किन्तु यह याद रखना होगा कि संस्कृति की धारा को इस प्रकार सुनिश्चित काल-विभागों में बाँट देना कि मानो वे एक-दूसरे से सर्वथा पृथक् हों, ठीक नहीं, क्योंकि किसी भी युग की कोई विशेषता केवल उसी युग तक सीमित नहीं रहती है। ठीक-ठीक नहीं कहा जा सकता कि कौनसी विशेषता वस्तुतः ठीक कब प्रारम्भ हुई और कब सर्वथा समाप्त हो गयी। केवल अध्ययन की सरलता की दृष्टि से इतिहास या किसी भी लम्बी धारा का काल-विभाजन कर लिया जाता है।

१. प्राग्-वैदिक

प्राग्-ऐतिहासिक-युगीय भारत के प्रारम्भिक निवासियों यथा निषाद, द्रविड़ आदि की सभ्यताओं की भारतीय संस्कृति के निर्माण में जो देन रही है उसका समुचित उल्लेख हम ऊपर कर आये हैं। यहाँ उसके अधिक विस्तार की आवश्यकता नहीं है। वह तो मानो इस भूमि पर मानव की प्रारम्भिक हलचल थी। अब भारत की सर्वप्रथम उन्नत संगठित सभ्यता—सिंधु-सभ्यता का अध्ययन करेंगे।

प्राचीन सिंधु-सभ्यता

भारत में सिंधु प्रान्त के लरकाना नामक स्थान पर, सिंधु नदी से हटकर पश्चिम में कुछ रेतीले टीले हैं। इन टीलों का नाम आसपास के सिंधु-निवासियों में 'मोहेंजोदाड़ो' प्रचलित है—जिसका अर्थ है 'मुर्दों का टीला'। इन टीलों पर स्थित एक बौद्ध विहार तथा स्तूप के सम्बन्ध में भारतीय पुरातत्त्व-विभाग के द्वारा सन् १९२२ ई० में कुछ खुदाई हो रही थी। खुदाई होते-होते अचानक प्रागैतिहासिक युग की

	सांस्कृतिक युग का नाम	समय	ऐतिहासिक युग का नाम
प्रागैतिहासिक युग ३००० ई० पूर्व तक	प्राग्-वैदिक (आगम)	ई० पू० ८००० से ३००० (अनुमानतः)	... नीग्रो एवं निषाद लोगों की पाषाणी सभ्यता, एवं द्रविड़ सभ्यता
		ई० पू० ३२५०-२७५०	... सिंधु सभ्यता
प्राचीन युग ई० पू० ३००० से ६५० ई० सन्	वैदिक (निगम)	ई० पू० ३००० से १५००	... ऋग्वैदिक
		ई० पू० १५०० से १०००	... उत्तर ऋग्वैदिक एवं ब्राह्मणीय ग्रंथ
		ई० पू० १००० से ५००	... औपनिषदिक
	बौद्ध और जैन	ई० पू० ५०० से ई० सन् की प्रथम शती	... मगध राज्य एवं मौर्य और कुषाण सम्राटों का समय
	पौराणिक	ई० स० प्रथम शती से ६५० ई०	... गुप्त एवं हर्षकाल
मध्य युग ६५०-१७५० ई०	पौराणिक रूढ़िवादिता	[६५०-१२०० ई०	... राजपूत-काल
	हिन्दु-मुस्लिम-संस्कृतियों का सम्पर्क—	[१२००-१७५७ ई०	... तुर्क, पठान और मुगल-काल
आधुनिक युग १८५० ई० से	पाश्चात्य संस्कृति से सम्पर्क	[१७५७-१९४७ ई०	... अँग्रेजी राज्य-काल
	एक मानव-संस्कृति की ओर	[१९४७ से	... स्वतन्त्र भारत

कुछ मुद्राएँ मिलीं। ऐसी ही अनेक मुद्राएँ पंजाब में मोंटगोमेरी जिले के हरप्पा नामक गाँव में कुछ वर्ष पूर्व मिली थीं। इन बातों से प्रभावित होकर मोहेंजोदाड़ो में विशेष खुदाई के लिए पुरातत्त्व-विभाग द्वारा एक विशेष योजना बनायी गयी, एवं सन् १९२२ से लेकर कुछ वर्षों तक मोहेंजोदाड़ो एवं सिन्ध के कई स्थानों पर खुदाई की गयी, और उसके फलस्वरूप प्राचीन सभ्यता का निश्चित रूप से पता लगा। पुरातत्त्व-वेत्ताओं ने इस सभ्यता का नाम 'मोहेंजोदाड़ो तथा हरप्पा' की सभ्यता अथवा प्राचीन सिंधु-सभ्यता रखा। खोजों के आधार पर यह निर्धारित हुआ कि उन स्थानों में जहाँ आजकल सिन्ध, बलूचिस्तान तथा दक्षिण-पश्चिम पंजाब स्थित हैं, प्राचीनकाल में एक बहुत ही विकसित अवस्था की सभ्यता विधमान थी। मोहेंजोदाड़ो एवं हरप्पा उस प्राचीनकाल में उन प्रदेशों के बहुत ही सुन्दर ढँग से बने हुए समृद्धिशाली नगर थे, जो संभव है उन प्रदेशों की राजधानियाँ रहे हों। मोहेंजोदाड़ो में प्राप्त अवशिष्ट चिह्नों से यह धारणा बनायी गयी है कि मोहेंजोदाड़ो नगर का प्रारम्भिक काल ३२५० ई० पू० था—इसी काल में वह नगर पूर्ण विकसित रूप में था। इससे यह तो अनुमान लगाया जा सकता है कि ईसा से प्राय: ४-५ हजार वर्ष पूर्व इस सभ्यता का आरम्भ वहाँ हो गया होगा। इन नगरों के विकास और सभ्यता के अवशेष प्राय: २७५० ई० पू० तक के मिले हैं। प्राय: कुछ वर्ष इधर-उधर इसी काल तक के अवशेष-चिह्न हरप्पा तथा दूसरे स्थानों पर मिलते हैं। इससे यह अनुमान लगाया जाता है कि प्राय: २५०० वर्ष ई० पूर्व में ये नगर ध्वस्त और विलीन हो गये थे। इनके अचानक ध्वस्त और विलीन होने के कई कारण हो सकते हैं—सिन्धु नदी में भयंकर बाढ़ों का आना, जलवायु में असाधारण परिवर्तन, विशेषत: मौसमी हवाओं के रुख बदलने से, उसके फलस्वरूप वर्षा कम होने से एवं शनै:-शनै: बालू के टीलों द्वारा भूमि के ढक जाने से। प्राचीन मेसोपोटेमिया एवं मिश्र की सभ्यताओं का लोप तो उत्तर से सेमेटिक तथा आर्यजाति के लोगों के आक्रमण द्वारा हुआ, किन्तु सिंधु प्रदेश में भी ऐसे कोई आक्रमण हुए हों इसके कोई भी चिह्न

नहीं मिलते हैं। इसका लोप तो स्यात् प्रकृति के प्रकोप से ही हुआ। किन्तु इतना अवश्य है कि सिंधु-सभ्यता के प्रदेशों में कालांतर में आर्य लोग और उनकी सभ्यता प्रसारित हो गये।

कौन ये लोग थे जिन्होंने सिंधु-सभ्यता का विकास आज से ५-६ हजार वर्ष पूर्व किया और कैसी यह सभ्यता थी ? यद्यपि इस सभ्यता का विकास भारत में सिंधु नदी की उपत्यका में हुआ, किन्तु यह भारतीय आर्य-सभ्यता नहीं थी। यह सभ्यता मिश्र और सुमेर-सभ्यता की समकालीन थी और बहुत-सी बातों में यहाँ का रहन-सहन, मन्दिर, पूजा आदि का ढँग सुमेर की सभ्यता से मिलता है। वास्तव में ऐसा मालूम होता है कि उस काल में पश्चिम में भू-मध्यसागरीय तटवर्ती प्रदेशों से लेकर, यथा मिश्र, एशिया माइनर, सीरिया से लेकर इलम (प्राचीन ईरान), मेसोपोटेमिया और फिर मोहेंजोदाड़ो और हरप्पा एवं दक्षिण भारत, और सुदूरपूर्व में चीन के तटवर्ती प्रदेशों तक जिस नवपाषाण-युगीय सभ्यता का (खेती, पशुपालन, मन्दिर, पुजारी और पूजा) प्रसार था—और जिसके अनन्तर मिश्र में मिश्र-सभ्यता का विकास हुआ, मेसोपोटेमिया में सुमेर, बेबीलोन, असीरिया सभ्यता का विकास हुआ, उसी प्रकार सिंधु प्रान्त में सिंधु नदी की उपत्यका में मोहेंजोदाड़ो और हरप्पा (सिंधु सभ्यता) का विकास हुआ। यह भी निश्चित है कि इन सब देशों का परस्पर सम्पर्क था और इनमें व्यापार एवं सांस्कृतिक विनिमय होता रहता था। ये सब सभ्यताएँ नगर-प्रधान एवं व्यापार-प्रधान थीं। इन्हीं बातों से अनुमान लगाया जाता है कि सिन्धु-सभ्यता वाले उसी जाति के लोग थे, जिस जाति के सुमेरियन लोग थे। आज इसी मत की अधिक मान्यता है कि भूमध्यसागरीय प्रजाति के लोगों (द्रविड़ों) ने ही सिंधु-सभ्यता का विकास किया। इन सभी लोगों का क़द मध्यम, शरीर पुष्ट और वर्ण भूरा-सा (काला-गोरा-मिश्रित या गहरा बादामी) था। कुछ भारतीय विद्वानों का यह भी मत है कि सप्त-सिंधु से जो आर्य दस्यु एवं वृत लोग अपने आदि घर को छोड़कर इधर-उधर फैले, उन्हींने सिंधु-सभ्यता का विकास किया। जो कुछ हो, जिस प्रकार प्राचीन मिश्र,

मेसोपोटेमिया एवं चीन के लोगों की आदि उत्पत्ति के विषय में कुछ निश्चयपूर्वक नहीं कहा जा सकता वैसे ही मोहेंजोदाड़ो-हरप्पा के लोगों की उत्पत्ति के विषय में अभी बिल्कुल निश्चयपूर्वक तो कुछ नहीं कहा जा सकता।

जीवन तथा रीति-रस्म

सिन्धु प्रान्त में गेहूँ, जौ और सम्भवतः चावल की भी खेती होती थी। दूध, घी से लोग परिचित थे। पालतू पशुओं में बैल, भैंस, भेड़, हाथी, कुत्ता, ऊँट था, जंगली पशुओं में हरिण, नीलगाय, बन्दर, भालू, खरगोश आदि के अवशेष चिह्न मिले हैं। हरी तरकारी, शाक-भाजी, मिठाई, मछली, अण्डे, मांस आदि भी लोगों के भोजन के अंग थे। इन सब बातों का पता खुदाई में प्राप्त वस्तुओं के आधार पर मिला है। खुदाई में बड़े-बड़े पालिश किये हुए मिट्टी के घड़े जिनमें अनाज रखा जाता होगा, एवं तश्तरियाँ, प्याले, थाली, चम्मच आदि बड़ी संख्या में मिले हैं, जिनसे यह भी अनुमान किया जाता है कि त्यौहार, विवाह इत्यादि के अवसर पर दावतें भी होती होंगी। कताई, बुनाई की कला में ये लोग बहुत ही प्रवीण मालूम होते थे। कपास, रेशम और ऊनी कपड़ों का प्रचलन था। पुरुष लोग तो केवल एक शाल की तरह का कपड़ा शरीर पर लपेट लेते थे, गरीब लोग साधारण कपड़े पहनते थे, एवं धनी लोग सुन्दर कलापूर्ण कपड़े। तरह-तरह के केश-प्रसाधन का इन लोगों में बड़ा शौक था। सुमेरियन लोगों की तरह पुरुष छोटी-छोटी दाढ़ी रखते थे, ओष्ठ का ऊपरी भाग प्रायः साफ रहता था। दोनों ओर से चलने वाले उस्तरे मिले हैं। इन लोगों के कला-प्रेम का सर्वोत्तम उदाहरण उन के आभूषण हैं। स्त्रियों के अतिरिक्त बच्चे भी आभूषण पहनते थे। सब देवी-देवताओं की मूर्तियाँ आभूषणों से लदी हुई रहती थीं। ये आभूषण स्वर्ण के होते थे, किन्तु गरीब लोग लाल पकी हुई, पॉलिश की हुई, मिट्टी के आभूषण पहनते थे। कुछ आभूषण हाथीदांत के भी होते थे। स्त्रियों के शृंगार के लिए अनेक प्रसाधन विद्यमान थे—लकड़ी और हाथीदांत के कंघे, लाल चमकीले रंग की अनेक डिब्बियाँ जिनमें चेहरे पर

श्वेत तथा गुलाबी आभा लाने के लिए कुछ पाउडर-से रखे होते थे—इत्यादि अनेक वस्तुएं खुदाई में मिली हैं। शृंगार के ऐसे ही प्रसाधन सुमेर तथा मिश्र के लोगों में भी प्रचलित थे। बच्चों के खेल के लिए अनेक खिलौनों के अवशेष भी मिले हैं। अनेक प्रकार के लैम्प तथा मिट्टी के दीपकों का प्रयोग होता था।

गाड़ी तथा रथों का प्रचलन था। ये लकड़ी, तांबे इत्यादि के बने हुए होते थे। स्यात् गधे एवं बैल इनको खींचते थे—घोड़ों से ये लोग अभी अनभिज्ञ थे। गाड़ी और रथों का प्रचलन मिश्र और सुमेर में भी था। ये लोग पशु-पक्षियों का शिकार भी करते थे। धनुष इन लोगों का प्रमुख अस्त्र था। पत्थर की गोलियाँ और गुलेल का प्रयोग भी ये लोग करते थे। इसके अतिरिक्त अन्य औज़ार तथा हथियार जैसे तलवार, आरियां, दरातियां, हँसिये इत्यादि भी मिले हैं। पशु-पक्षियों को लड़ाना, उनके अनेक प्रकार के खेल, ये उन लोगों के प्रमोद के मुख्य साधन थे।

स्थापत्य तथा नगर-निर्माण-कला

मोहेंजोदाड़ो की नगर-निर्माण-प्रणाली वास्तव में बहुत सुविकसित एवं प्रौढ़ थी। कुछ विद्वानों का मत है कि ऐसी उत्तम प्रणाली संसार के अन्य किसी प्राचीन देश में देखने को नहीं मिलती। नगर में चौड़ी-चौड़ी सड़कें थीं, किसी सुनिश्चित योजना के अनुसार गलियां तथा मकान बने थे, सफ़ाई के लिए नाली-प्रणाली (Gutter System) थी। मेसोपोटेमिया के इश्नूना नगर में भी नालियों का अच्छा प्रबन्ध था, किन्तु मिश्र के नगरों की नालियाँ इतनी वैज्ञानिक और सुन्दर नहीं थीं। नगर में बड़े-बड़े स्नानगृह तथा शौचगृह भी सुनिश्चित स्थानों पर सर्व-साधारण के लिए बने हुए थे। कूड़ा-कर्कट इत्यादि डालने के लिए स्थान-स्थान पर कूड़े-खाने (Dust Bins) बने हुए थे। सुमेर और मिश्र में धनिकों के घरों पर तो स्नानगृह बने हुए थे, किन्तु नगरों में सर्व-साधारण के लिए कोई स्नानगृह नहीं थे। इससे

अनुमान होता है कि सिंधु सभ्यता में नागरिकता का भाव अधिक विकसित था।

मोहेंजोदाड़ो और हरप्पा नगरों की इमारतें प्रायः दो खण्डों की हैं। इन मकानों में पकाई हुई ईंटें प्रयोग में लायी गयी हैं। मिश्र की तरह पत्थर का प्रयोग नहीं है। मेसोपोटेमिया में तो अधिकतर कच्ची ईंटें ही दीवारों के लिए प्रयुक्त होती थीं। वहाँ केवल स्नानगृहों और शौचगृहों में पकाई हुई ईंटो का प्रयोग हुआ है। दीवारों पर पलस्तर प्रायः मिट्टी का ही होता था। मकानों की छत पीटी हुई मिट्टी, अथवा कच्ची या पकी हुई ईंटों की होती थी। छतों में कड़ियों का प्रयोग बहुत होता था। पानी के लिए कूएँ बने थे। इन कूओं की दीवारें मजबूत ईंटों की बनी हैं। ईंटें इतनी सफ़ाई के साथ चुनी गई हैं कि खुदाई में प्राप्त कूएँ साफ किये जाने पर आज भी खूब काम दे रहे हैं। नगरों एवं मकानों के इस सुन्दर प्रबन्ध को देखकर ऐसा अनुमान होता है कि कोई उच्च संस्था नगर का प्रबन्ध करती होगी।

कला-कौशल

सिंधु प्रान्त में सैकड़ों मृण्मूर्तियाँ (मिट्टी की मूर्तियाँ) प्राप्त हुई हैं। अनेक मुद्राएँ तथा तावीज प्राप्त हुए हैं, एवं अनेक मिट्टी के बर्तन मिले हैं जिन पर सुन्दर पालिश किया हुआ है। ये मिट्टी की मूर्तियाँ विशेषतः बच्चों के खिलौने और मन्दिरों और देवताओं की भेंट की जाने वाली, तथा पूजा की ही मूर्तियाँ हैं।

देवताओं की मूर्तियों में अधिकतर 'मातृ देवी' की मूर्तियाँ मिली हैं। मिट्टी के बर्तनों की कला बहुत ही सुन्दर तथा विकसित थी। मिट्टी के बर्तन दो प्रकार के थे--एक वर्ग के बर्तनों पर पतले, हल्के लाल रंग की पालिश होती थी। इन पर रेखागणित के वृत्तों या कोणों की कारीगरी की हुई है। दूसरे वर्ग के बर्तन अच्छी तरह पकाई चमकीली मिट्टी के होते थे। बर्तनों पर चित्रकारी बहुत ही सुन्दर है। चित्रकारी में विशेषतः बेल-बूटे, पशु-पक्षी, पेड़-पत्तियों की आकृतियाँ चित्रित की गई हैं। मिश्र तथा मूसा तथा सुमेर के मिट्टी के बर्तनों पर विशेषतः मानवी

आकृति का चित्रण हुआ है। मिट्टी के बर्तनों की यह कला जितनी उस काल में सुन्दर थी वैसी तो आजकल भी बहुत कम देखने को मिलती है।

मोहेंजोदाड़ो में एक पत्थर की मूर्ति भी प्राप्त हुई है जिसे कुछ पुरातत्त्ववेत्ता तो पुजारी की मूर्ति बतलाते हैं, एवं कुछ अन्य पुरातत्त्ववेत्ता किसी योगी की मूर्ति। इस पुजारी या योगी की मूर्ति की शक्ल बेबीलोन के पुरोहितों से मिलती है। इसके अतिरिक्त महत्त्वपूर्ण शिल्प की दो मूर्तियाँ हरप्पा से प्राप्त हुई हैं। इनमें से एक लाल और दूसरी नीले-काले पत्थर की है। इन मूर्तियों का शरीर-सौष्ठव यूनान की मूर्तियों से कम आकर्षक नहीं। यहाँ की खुदाइयों में कुछ पीतल की नर्तकियों की भी मूर्तियाँ मिली हैं—जिससे ज्ञात होता है कि इन लोगों में नृत्यकला का भी प्रचलन था और यह नृत्य-कला काफी विकसित थी। किन्तु नृत्य का उस काल में क्या ध्येय था, यह ज्ञात नहीं। मोहेंजोदाड़ो में थोड़ी अलंकृत लाल गोमेदा की गुरियाँ भी प्राप्त हुई हैं। यहाँ पीतल की भी कुछ वस्तुएँ प्राप्त हुई हैं। सिन्धु प्रान्त की मुद्राओं तथा पट्टियों पर अंकित आकृतियाँ सिन्धु कला के सर्वोत्तम उदाहरण हैं। इन मुद्राओं पर बैल, भैंस तथा नीलगाय के चित्रण बहुत ही यथार्थ और सुन्दर हैं।

रुई के कपड़े

उस काल के सभ्य देशों में, स्यात् मिश्र को छोड़कर, अकेले सिन्धु प्रांत में ही रुई के कपड़े बुने जाते थे। रुई के सूत के बहुत ही सुन्दर ढंग के कई डिजाइनों के कपड़े बुने जाते थे और मिश्र तथा बेबीलोन के बाज़ारों में बिकते थे। अन्य देशों में तो विशेषतः ऊन या हैम्प, या रेशम के ही कपड़े बुने जाते थे।

भाषा और लिपि

सुमेर के लोगों की तरह इन लोगों की भी भाषा पर्याप्त विकसित थी। लिपि, जिसमें वह भाषा लिखी जाती थी, सुमेर की लिपि से मिलती-जुलती स्यात् एक प्रकार की चित्र-लिपि ही थी। विद्वानों ने सुमेर

की भाषा और लिपि का तो अध्ययन कर लिया है, किन्तु सिन्धु-सभ्यता की भाषा और लिपि को पढ़ने में वे अभी सफल नहीं हुए हैं। इस लिपि का रहस्य खुलने पर तो अनेक नयी बातें इस सभ्यता के विषय में मालूम होंगी, और सम्भवत: सुमेर और मिश्र की सभ्यताओं पर भी नया प्रकाश पड़े।

धार्मिक विश्वास

सिन्धु प्रान्त के लोगों के धर्म का स्वरूप निश्चित रूप से ज्ञात नहीं। इतना अनुमान लगाया जाता है कि इन लोगों ने भी मिश्र एवं मेसोपोटेमिया की तरह विशाल मंदिर, भवन बनवाये थे। ये लोग मूर्तियों की स्थापना अपने भवनों में भी किसी विशेष कमरे में करते रहे होंगे। उस काल की ज्यादातर मातृदेवी की मृण्मूर्तियां मिली हैं। मातृदेवी की पूजा प्राचीन काल में ईजियन से सिंधु प्रान्त के बीच के सभी देशों में जैसे इलम, फारस, मेसोपोटेमिया, मिश्र तथा सीरिया में प्रचलित थी। मातृदेवी की पूजा की उत्पत्ति धरतीमाता की पूजा से ही हुई है। धरतीमाता—प्रकृति ही मनुष्यों का पालन-पोषण करती है। मेसोपोटेमिया के कई लेखों से ज्ञात होता है कि मातृदेवी नगर-निवासियों की हर प्रकार की व्याधियों से रक्षा करती थी। यूफ्रीटीज, टाईग्रिस, नील और सिंधु नदी के तटों पर रहने वाले लोगों की आजीविका बहुत कुछ खेती पर ही निर्भर थी, अत: यह स्वाभाविक ही है कि वे धरतीमाता, प्रकृति देवी, मातृदेवी की पूजा विशेषत: करते। मातृदेवी की मूर्ति के अतिरिक्त शिव तथा शिवलिंग की भी कई मूर्तियाँ मिली हैं, एवं शिवजी की त्रिमुखों वाली आकृति कई मुद्राओं एवं ताम्रपत्रों पर अंकित मिली हैं। इससे यह अनुमान है कि सिंधु प्रान्त के लोग शिवजी की पूजा करते थे और स्यात् योग की प्रणालियों से भी परिचित थे। इसके अतिरिक्त 'लिंग' की पूजा भी होती थी। लिंगों की अनेक प्रकार की मूर्तियाँ मिली हैं। प्राचीन मिश्र, यूनान, रोम में भी बालपीट की पूजा होती थी—बालपीट लिंग-सम्प्रदाय से सम्बन्ध रखने वाला देवता था। सिंधु प्रान्त में स्यात् शक्ति-उपासना भी प्रचलित थी, एवं पशु-पूजा भी होती थी। कुछ सभ्यताओं के लोगों का

विश्वास था कि मनुष्य-रूप में आने से पहले देवता पशु-रूप में ही पूजे जाते थे। पशुओं में जिनकी पूजा होती थी उनमें सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण तो था बैल, किन्तु हाथी, गेंडा, नीलगाय की भी पूजा होती थी। बैल स्यात् सिंधु प्रान्त में शिवजी का वाहन माना जाता था। बैल का सिंधु प्रान्त में ही नहीं किन्तु संसार के सभी प्राचीन देशों में धार्मिक महत्त्व था। ऐसा प्रतीत होता है कि सिन्धु प्रान्त के निवासी वृक्ष-पूजा में भी विश्वास रखते थे। नाग, जल तथा तुलसी की पूजा का भी प्रचलन था। स्वस्तिक तथा यूनानी क्रूस का चित्रण भी मुद्राओं तथा धातु की पट्टियों पर दीख पड़ता है। इन चिह्नों का धार्मिक महत्त्व माना जाता था। स्वस्तिक तथा चक्र के चिह्नों का सम्बन्ध सूर्य और अग्नि से माना जाता है, और सूर्य और अग्नि देवताओं के रूप में पूजित रहे हैं। सिंधु-प्रान्त के निवासियों को ताबीजों एवं जादू-टोनों पर भी विशेष श्रद्धा थी। इन तमाम बातों से यही अनुमान लगा सकते हैं कि इन लोगों की बुद्धि का विकास, मनन एवं चिन्तन का विकास अभी विशेष नहीं हुआ था। तथा बुद्धि, तर्क, विज्ञान एवं दर्शन की गहराइयों को ये प्रारम्भिक मानव स्यात् छू भी नहीं पाये थे। नवीन पाषाणयुगीय पुजारी, पुरोहितों एवं शनैः-शनैः बनते हुए आदिकालीन धार्मिक संस्कारों पर ही इन लोगों की धार्मिक भावना आधारित थी। इन लोगों का जीवन विशेषकर ऐहिक था। ऐहिक जीवन का सुख उच्च-वर्ग के लोग यथा शासक, पुजारी, पुरोहित तथा अन्य धनिक लोग भोगते थे—किन्तु उस सुख में भी 'चेतना' अधिक जाग्रत् नहीं थी, चेतन अनुभूति गहरी नहीं थी।

'सिंधु-सभ्यता' आज से लगभग ६-७ हजार वर्ष पूर्व इस सृष्टि के रंगमंच पर आकर, मिश्र और बेबीलोन की सभ्यताओं की भाँति कुछ क्षणों तक नटी का-सा नृत्य करके विलीन हो गई, किन्तु उस नटी के नृत्य की कुछ तरंगें आज भी मानो प्रवाहित हैं—उनका प्रभाव भारत में आज भी विद्यमान है।

मातृदेवी की पूजा, शक्तिपूजा, शिव और शिवलिंग की पूजा जादू-टोना, मंत्र-तंत्र, योग, धूप-दीप और नैवेद्य आदि से मूर्ति की पूजा इत्यादि

बातें हिन्दू-संस्कृति में सिंधु-सभ्यता से ही आयीं, मानों ये बातें भारतीय संस्कृति में उस अतीव प्राचीन काल से 'आगम' रूप में चली आ रही हों। कई पौराणिक हिन्दू देवता सिंधु-सभ्यता के देवताओं के ही तो विकसित रूप हैं, जैसे :—

सिंधु सभ्यता का देवता	पौराणिक हिन्दू देवता
लालवर्ण देवता पशुपति	रुद्र, शिव
माँ देवी	उमा (शक्ति)
नीलवर्ण आकाश देवता	विष्णु
शौर्य और युद्ध का देवता	मुरुकुरा (शिव का पुत्र स्कन्द)
यौवन और सौंदर्य का देवता	कन्नन (कृष्ण)
गरोश	गरोश

हिन्दू लोग बातचीत में प्राय: युग्म शब्दों का प्रयोग किया करते हैं। यथा—निगम-आगम और ऋषि-मुनि। इनमें निगम-आगम से इस तथ्य का संकेत मिलता है कि आर्य-धर्म और संस्कृति (निगम) की परम्परा के साथ इस देश में कुछ सनातन धार्मिक मान्यताएँ (आगम) प्रचलित भी रही हैं। 'ऋषि-मुनि' से इस तथ्य का आभास होता है कि आशा, आनन्द, उत्साह और लौकिक विजय की भावना (ऋषि) के साथ-साथ निवृत्ति-मूलक और सहिष्णुता-प्रधान भावना (मुनि) हर समय जुड़ी रही है।

चौथा अध्याय

वैदिक युग

क—भारत में आर्य लगभग ५०० ई० पू० तक

पृथ्वी के मानव-प्राणियों में कौन वे आर्य लोग थे जिनके विषय में यह कहा जाता है कि उन्होंने भारत में रहते हुए सत्य-ज्ञान वेद के दर्शन किये (वह वेद जिसको आज संसार अपना एक अति प्राचीन ग्रन्थ मानता है) और सृष्टि के आदि-सत्य

आत्मा और परमात्मा के निगूढ रहस्य को खोज निकाला ?

कैसे वे आर्य थे, कब भारत में बसे थे, कब इन्होंने वेदों की रचना की, इत्यादि प्रश्न हमारे सामने उठते हैं और इनका उत्तर हमें वैज्ञानिक आधार पर ढूँढना है, अन्धविश्वास या मताग्रह के आधार पर नहीं जिससे हमको मानव-संस्कृति का सही ज्ञान हो।

आर्यों की उत्पत्ति

आर्यों की उत्पत्ति के विषय में कई मत हैं अर्थात् इस विषय में कि आर्यों का आदि-निवासस्थान कहाँ था, कब वे सबसे पहले अपने उस आदिम निवासस्थान में रहने लगे थे, उनकी स्वतन्त्र ही एक पृथक् उपजाति थी या किसी पूर्व-स्थित अन्य उपजाति की एक शाखा के वे लोग थे,...इस सम्बन्ध में कई मत हैं। ये सब मत अपने-अपने ढंग से बनाये तो अवश्य गये हैं अध्ययन एवं अनुसन्धान द्वारा उद्घाटित तथ्यों के आधार पर किन्तु अभी तक पूर्णतया सिद्ध नहीं हुए हैं। इतनी बात तो सर्वमान्य है कि आर्यों की अपनी ही एक स्वतन्त्र उपजाति थी, दूसरी उपजातियों से जैसे भूमध्यसागरीय, निग्रोइड, मंगोलियन आदि से भिन्न। ये सभी उपजातियाँ मनुष्य नाम के एक ही पूर्वज की संतान थीं या भिन्न-भिन्न कालों में भिन्न-भिन्न देशों में परिस्थितियों के अनुकूल स्वतन्त्र पृथक्-पृथक् उत्पन्न हुईं, इस बात पर पूर्व अध्याय में विचार हो चुका है।

आर्य लोगों के निवासस्थान एवं काल के विषय में पहला मत यह है कि ये लोग सबसे पहले मध्य यूरोप में, यूराल पहाड़ से लेकर पश्चिम अतलांतिक महासागर तक जो लम्बा मैदान है उसी में रहते थे और वह भाषा बोलते थे जिसका नाम आधुनिक विशेषज्ञों ने इन्डो-यूरोपियन (भारोपीय) भाषा रखा है। वहाँ से ये लोग दक्षिण-पश्चिम की ओर फैले जिनकी सन्तान आज जर्मन, फ्रेंच, अंग्रेज, इटालियन, स्केन्डिनेवियन, डच इत्यादि हैं। उन्हीं में से कुछ लोग पूर्व की ओर फैले जो ईरान में जाकर बसे। वहाँ से कुछ लोग और आगे दक्षिण-पूर्व की ओर बढ़े और लगभग डेढ़ दो हजार वर्ष ई० पू० में भारत में आकर बसे। यही लोग भारतीय आर्य

थे, जिन्होंने आदिम इन्डो-यूरोपियन भाषा के एक रूप संस्कृत (वैदिक) का विकास किया। ये आर्य लोग जो मध्य यूरोप से इधर-उधर फैले उन्हीं गोरे और लम्बे नॉर्डिक लोगों की प्रशाखा थे जिनका उल्लेख हो चुका है। ये ईसा के लगभग १०,१२ हजार वर्ष पूर्व मध्य तथा उत्तरी यूरोप में रहते थे और इनके पूर्वज सम्भवतः क्रामैग्नन टाइप के वे आदिम मनुष्य थे जो लगभग ४० हज़ार वर्ष पहले पश्चिमी यूरोप में बसे हुए मिलते थे। इस मत के प्रवर्त्तक एवं समर्थक विशेषतया कई यूरोपीय विद्वान् ही हैं।

दूसरा मत यह है कि आर्यों का आदिम निवासस्थान मध्य एशिया था, विशेषतया वह भाग जो बेक्ट्रिया कहलाता है। इस भूभाग में ईसा के कई हज़ार वर्ष पहले ये गोरे और लम्बे लोग रहते थे और इन्डो-यूरोपियन (आयन) भाषा बोलते थे। वहीं से ये लोग पश्चिम की ओर यूरोप में गये। इनकी सन्तान प्रायः सभी यूरोपियन जातियाँ हैं जो उनकी आदिम भाषा इन्डो-यूरोपियन (आर्यन) में से ही निकली हुई अनेक भाषाएँ जैसे अंग्रेजी, जर्मन, फ्रेंच, इटालियन, रूसी इत्यादि बोलती हैं। इन्हीं मध्य एशिया में रहने वाले आर्यों की एक शाखा दक्षिण की ओर ईसा के लगभग दो हजार वर्ष पहले भारत में आयी। उस शाखा के लोग भारतीय आर्य कहलाये जिन्होंने भारतीय आर्य-संस्कृति और अपनी आदिम भाषा इन्डो-यूरोपियन से संस्कृत भाषा का विकास किया। इस मत के भी प्रवर्तक एवं समर्थक कई प्रसिद्ध यूरोपियन विद्वान् हैं जैसे क्यूनो, र्‌होड और मैक्सम्यूलर आदि। यही मत आज बहुमान्य है, जिसे भारतीय इतिहासज्ञों ने भी प्रायः मान ही सा लिया है।

इस सम्बन्ध में आजकल कुछ भारतीय विद्वानों ने भी अध्ययन एवं अनुसन्धान के बाद अपने स्वतन्त्र मत बनाये हैं जिनका उल्लेख आगे किया जायगा। इसके पूर्व उपरोक्त दो मतों के अर्थ को हमें अच्छी तरह समझ लेना चाहिए।

आज से लगभग १५० वर्ष पहले पाश्चात्य विद्वानों द्वारा संस्कृत का अध्ययन होने लगा, और अध्ययन करते-करते उन्हें यह लगा कि संस्कृत

में एवं ईरान, अफ़गानिस्तान और यूरोप की भाषाओं जैसे फारसी, पश्तो, बलूची, ग्रीक, लेटिन, अंग्रेजी, जर्मन, फ्रेंच, इटालियन, डच, रूसी इत्यादि में एक अद्भुत साम्य है, इतना अधिक साम्य कि यह बात निःसंदेह रूप से सिद्ध हो चुकी है कि इन सब भाषाओं की जन्मदात्री प्राचीन काल में कोई एक ही भाषा रही है, जिसमें से ये सब भाषाएँ निकलीं। और चूंकि भारत, ईरान और यूरोप-निवासियों की पूर्वज भाषा एक ही रही है, इसी तथ्य से यह बात भी अनुमानित कर ली गयी कि भारत, ईरान, अफ़गानिस्तान और यूरोप के निवासी भी सब एक ही पूर्वजों की संतान होने चाहिए। जर्मनी के प्रसिद्ध भाषाशास्त्री एवं संस्कृत भाषा और साहित्य के प्रकाण्ड पंडित प्रोफेसर मैक्सम्यूलर ने तो यहाँ तक अनुमान किया—"एक समय ऐसा था जब कि भारतवासियों, ईरानियों, यूनानियों, रोमनों, रूसियों, केल्टों और जर्मनों के पूर्वज एक ही बाड़े में नहीं वरन् एक ही छत के नीचे रहते थे। इसके पूर्व कि भारतवासियों और ईरानियों के पूर्वज दक्षिण की ओर रवाना हुए एवं ग्रीक, रोमन, केल्टिक, जर्मन और रूसी लोगों के पूर्वज यूरोप की ओर रवाना हुए आर्यों की एक छोटी-सी जाति थी जो मध्य एशिया के सबसे ऊंचे पठार बैक्ट्रिया पर बसी हुई थी और एक ऐसी भाषा बोलती थी जो अभी न तो संस्कृत थी, न ग्रीक और न जर्मन किन्तु जिसमें इन सब भाषाओं के धातु रूप (Roots) विद्यमान थे। भाषा-विशेषज्ञों ने अनेक भाषाओं की जन्मदात्री इस पुरानी भाषा का नाम इन्डो-यूरोपियन रक्खा, और भाषा ही के इस नाम पर ही इन अनेक देशों के निवासियों के पूर्वजों की एक उपजाति का नाम भी इन्डो-यूरोपियन ही रक्खा······किन्तु बाद में जाकर इस पुरानी भाषा एवं उपजाति का नाम 'आर्य' प्रचलित हुआ। इस धारणा के अनुसार आज यूरोप (अमेरिका, आस्ट्रेलिया, दक्षिण अफ्रीका के सभी गोरे निवासी), भारत, अफ़गानिस्तान और ईरान के निवासी आर्य हैं। इनकी धमनियों में एक ही पूर्वजों का रक्त बहता है, और इन सबकी भाषाएँ एक आर्य-परिवार की भाषाएँ हैं। हाँ, कालान्तर में जब ये आदि-आर्य अपने आदिम निवास-स्थान से दूसरे देशों में फैले तो काल के प्रभाव

से, जलवायु के प्रभाव से तथा दूसरे लोगों के सम्पर्क में आने के कारण इनकी यह आदि भाषा भिन्न-भिन्न रूप लेने लगी, और इनकी सभ्यता और संस्कृति भी भिन्न-भिन्न रास्तों और आदर्शों पर विकसित हुई, यद्यपि इन आर्यों की आदिम भाषा एक थी, आदिम निवासस्थान एक था और आदिम सभ्यता एक थी।

रहन-सहन

भाषा एवं निवास-स्थान की बात तो यहाँ तक हो चुकी, अब देखना है कि इनकी आदिम सभ्यता कैसी थी। इस विषय में भी यह बात ध्यान में रखने की है इन आदिम आर्यों की तत्कालीन सभ्यता की जो तस्वीर खड़ी की गयी है वह भी केवल अनुमान के आधार पर है, और यह अनुमान मुख्यतया भाषा की सहायता से लगाया गया है। जिन शब्दों का अस्तित्व मिलते-जुलते रूपों में एक ही अर्थ लिये हुए सभी भाषाओं में मिलता है, उन शब्दों के आधार पर आर्यों की रहन-सहन सम्बन्धी बातें गढ़ ली गयी हैं। उदाहरणस्वरूप गौ के लिए इन सब भाषाओं में एक मिलता-जुलता रूप पाया जाता है यथा संस्कृत में 'गौ', ईरानी में 'गाव' और अंग्रेजी में 'काऊ'। इससे यह बात मान ली गई कि आर्य लोग गौ पाला करते थे। ऐसे अनेकों शब्द हैं। हम यहाँ दो महान् यूरोपीय विद्वानों के लेखों में से उद्धरण देकर इस बात को स्पष्ट करते हैं। मैक्सम्यूलर महाशय के लेखों में एक स्थान पर आता है, "यदि हम भाषा के सभी अवशेषों (Relics) की परीक्षा करने बैठें तो पूरी एक किताब बन जाय, गो कि इसमें कोई सन्देह नहीं कि प्रत्येक शब्द से हमारा मत पुष्ट होगा और प्रत्येक शब्द मानो एक कड़ी होगी जिससे हम इस प्राचीन एवं आदरणीय आर्य-जाति के मानस की तस्वीर बना सकें।" डा० सैसी (Sayce) लिखते हैं, "इस आदिम आर्य-भाषा में बस्ती का हमें कोई लिखित उल्लेख नहीं मिला है। किन्तु इस जाति के रहन-सहन एवं विचारों का विवरण किसी भी लिखित विवरण में जितना मिल सकता था उससे कहीं अधिक पूरा और सच्चा विवरण तो हमें इनकी भाषा के अभिलेखों (Archives) में मिल जाता है।"

विद्वानों द्वारा ऐसे आधारों पर बनायी गयी तत्कालीन आर्यों के रहन-सहन की रूपरेखा कुछ इस प्रकार है :—इन प्रारम्भिक आर्य लोगों की सभ्यता काफी विकसित थी। साफ किये हुए खुले वनों एवं उपवनों में ये रहते थे। इनके घर मिट्टी एवं लकड़ी के बने साफ-सुथरे होते थे। घरों के बीच में पत्थर का भी एक पक्का दालान-सा बना हुआ होता था। कालान्तर में गांव भी बस गये थे। गांव में कई पैतृक कुटुम्ब बसे हुए होते थे, और उन पैतृक कुटुम्बों के स्वामी ही गांव के बड़े एवं नेता होते थे। कुटुम्ब का संगठन अनुशासन एवं मर्यादायुक्त होता था। ये लोग गेहूँ की खेती करते थे, गौ पालते थे, दूध पीते थे। पशुओं को चराने के लिए बड़े चरागाह होते थे। कुटुम्ब की दुहितृ गाय का दूध दूहा करती थी। एक प्रकार का नशीला रस भी पिया जाया करता था जो मधु एवं जौ से बनाया जाता था। वे ऊन और सूत के बुने हुए कपड़े पहिनते थे, जिनको स्यात् स्त्रियां घर पर बनाती थीं। हलों में बैल जोते जाते थे और अनाज एवं घरेलू सामान गाड़ियों में, जिनमें बैल जुते होते थे, इधर-उधर ले जाया करते थे। ये लोग कांसी, लोहा आदि धातुओं का प्रयोग भी जान गये थे। कुछ विशेष कौटुम्बिक सम्पत्ति को छोड़कर सब खेत एवं चरागाह सारे गांव की या सब लोगों की मिली-जुली सम्पत्ति मानी जाती थी, यह एक प्रकार का प्रारम्भिक साम्यवाद था। कोई भी कुटुम्ब धनिक या गरीब इसी आधार पर माना जाता था कि उसके पास कितने पशु हैं।

इन लोगों के सामूहिक जीवन के केन्द्र गांव के वयोवृद्ध जन होते थे और वे ही धार्मिक, सामाजिक मामलों में लोगों का नेतृत्व किया करते थे। इनके धर्म में उपासना का समावेश तो था पर मूर्तिपूजा का नहीं। जिस प्रकार इस जाति से पहिले की तथा कुछ तत्कालीन जातियों में मन्दिरों की प्रतिष्ठा होती थी, उन मन्दिरों में देवताओं की अनोखी-अनोखी मूर्तियों की पूजा होती थी, उनमें नरमेध होता था और मन्दिर का पुजारी ही देवता के प्रतिनिधि के रूप में सम्पूर्ण जाति का संचालक एवं मालिक होता था, इस प्रकार की कोई भी बातें इस आर्य-जाति के जीवन में

प्रचलित नहीं थीं। ये लोग अपने मृतकों को जलाते थे, दूसरी कई जातियों की तरह गाड़ते नहीं थे।

इस जाति की एक मुख्य विशेषता यह थी कि इसके लोग वाग्मी या वाक्कुशल बहुत होते थे। इनमें बड़े-बड़े गायक-कवि (Bards) होते थे जो उच्च, मधुर, संगीतमय वाणी में गाथाएँ गाया करते थे जिनमें पूर्वजों की स्मृति होती थी, देवों की उपासना होती थी। ये गायक कवि मानो जीवित ग्रन्थ थे, मानो मनुष्य का प्रारम्भिक उच्चारण, मनुष्य की प्रारम्भिक बोली इन लोगों में सुघड़, सुन्दर एवं सुसंस्कृत बनकर अवतरित हुई हो। वाणी और श्रवण के ये सर्वप्रथम कलाकार थे। इन लोगों को अभी स्यात् लिखने की कला का ज्ञान नहीं था, अतएव गाथाएँ वंश-परम्परा से कंठस्थ की जाती थीं, और गायी जाती थीं, उनमें परिवर्तन, परिवर्धन भी होता रहता था और इस प्रकार यह परम्परा चलती रहती थी। इस जाति की ग्रीक उपशाखा के दो महाकाव्य 'इलियड' और 'ओडेसी' अब भी मिलते हैं। ईरानी उपशाखा का 'जिन्देवस्ता' ग्रंथ मिलता है और भारतीय उपशाखा के 'वेद' मिलते हैं। ये लोग मानव बुद्धि के एक विशेष विकसित स्तर तक पहुँच चुके थे और सोचते रहते थे कि दृश्य सृष्टि और मानव-मन के परे भी 'कुछ' है।

आर्यों के विषय में भारतीय मत

यह भी एक परम्परानुगत भारतीय मान्यता है कि उनके पूर्वज आर्य तो अनादिकाल से यहीं भारत में ही बसते थे और यहीं उनको मानवसृष्टि के आदि में वेद (ज्ञान) के दर्शन हुए। भारत ही में आर्य-संस्कृति का उदय हुआ और यही देश इस संस्कृति के विकास का क्षेत्र है। उनके इस विश्वास का आधार है श्रद्धा। अधिकांश भारतीयों को कभी यह कल्पना भी नहीं हुई कि आर्य कहीं बाहर से आकर इस देश में बसे। जब यूरोपीय विद्वानों ने अध्ययन, अनुशीलन एवं अनुसंधान करके यह मत प्रकट किया कि आर्य भारत के आदिनिवासी नहीं थे और उनका प्राचीनतम धर्म-ग्रंथ ऋग्वेद ईसा के लगभग केवल २००० वर्ष पहले ही बना, तब भी पुराने परिपाटी के

भारतीय विद्वानों पर उस बात का कोई प्रभाव नहीं पड़ा और वे अपने पुराने विचार पर ही दृढ़ रहे। किन्तु जो नवशिक्षित भारतीय विद्वान् थे उनको यह आवश्यकता प्रतीत हुई कि किसी भी बात के अनुसन्धान और प्रतिपादन में पाश्चात्त्य वैज्ञानिक ढंग को अपनाना चाहिए, इसी से प्रेरित होकर प्रसिद्ध भारतीय विद्वान् श्री बालगंगाधर तिलक ने आर्यों के आदि-निवास-स्थान और ऋग्वेद के रचनाकाल के सम्बन्ध में अपना स्वतन्त्र मत प्रकट किया। उन्होंने न तो परम्परागत भारतीय मत की पुष्टि की और न प्रचलित पाश्चात्त्य मत का समर्थन किया। ऋग्वेद में से ज्योतिषसम्बन्धी एवं ऋतु-परिवर्तन सम्बन्धी अनेक मन्त्रों का उद्धरण देते हुए अन्तःसाक्ष्य-प्रणाली द्वारा उन्होंने अपना जो मत प्रतिपादित किया वह संक्षेप में इस प्रकार है। किसी समय पृथ्वी का वह भाग जो उत्तरी ध्रुव के पास है प्राणियों के बसने योग्य था। यह उत्तरी ध्रुव प्रदेश ही आर्यों का आदि-देश था। यहाँ पर ये लोग ईसा के लगभग ८००० वर्ष पहले बसे हुए थे। कालान्तर में किन्हीं प्राकृतिक कारणों से जब वहाँ अत्यधिक सर्दी पड़ने लगी तो आर्यों को यह देश छोड़ना पड़ा। कुछ लोग यूरोप में जाकर बसे, कुछ ईरान में और कुछ भारत में आये। यहीं पर वेदों की रचना हुई। इस रचनाकाल को उन्होंने चार काल-खंडों में विभक्त किया।

१. ६००० से ४००० ई० पू० जब कि केवल कुछ खंड-मन्त्रों का देवता की उपासना में प्रयोग होता था। पूर्ण-सूक्त (Finished Hymns) अभी तक स्यात् नहीं बने थे।

२. ४००० से २५०० ई० पू० जब ऋग्वेद के अनेक सूक्त रचे गये। वैदिक सभ्यता का यह सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण काल है।

३. २५०० से १४०० ई० पू० जब तैत्तिरीय संहिता एवं कई ब्राह्मण-ग्रन्थों की रचना हुई। इसी काल में वेदसंहिता का स्यात् उचित ढंग से संकलन हुआ।

४. १४०० से ५०० ई० पू० जब सूत्र एवं दर्शन-शास्त्रों का प्रणयन हुआ।

एक दूसरे विद्वान् हैं श्री धीरेन्द्रनाथ पाल जिन्होंने अपनी पुस्तक 'हिन्दू धर्म का अध्ययन' (A Comprehensive History of the Religion of the Hindus) में आर्यों की उत्पत्ति एवं उनके आदि-देश, इन दो प्रश्नों पर विवेचन किया है। इन दो प्रश्नों पर अधिकतर यूरोपियन विद्वानों का जो मत रहा है, जिसका विवरण हम ऊपर कर आये हैं, वह पाश्चात्य विद्वानों में आजकल साधारणतया केवल मान्य ही नहीं किन्तु उनके विश्वास का एक सर्वसिद्ध अंग-सा बन गया है। वह मत संक्षेप में यह है कि आजकल के यूरोपनिवासी, ईरान एवं भारत-निवासी प्रायः सभी एक ही उपजाति 'आर्य' की सन्तान हैं। इस उपजाति के आर्य लोगों का आदि-निवास-स्थान मध्य एशिया था। इन दोनों बातों का पाल महाशय ने खण्डन किया। मैक्सम्यूलर की उक्ति का जिसका उद्धरण हम ऊपर दे चुके हैं और जिसका आशय यह था कि एक वह समय था जब कि भारतीयों, ईरानियों एवं यूरोपियनों के पूर्वज एक ही बाड़े में नहीं किन्तु एक छत के नीचे रहते थे, पाल महाशय ने एक दूसरे महान् यूरोपियन विद्वान् मिस्टर टेलर का एक उद्धरण देकर विरोध किया है। टेलर महाशय अपनी पुस्तक 'आर्यों का उद्गम' (The Origin of the Aryans) में मैक्सम्यूलर की उपर्युक्त उक्ति का ज़िक्र करते हुए लिखते हैं—"...ऐसी तस्वीर चित्रित करने वाले शब्दों से अधिक अशुद्ध शब्द स्यात् ही कभी किसी महान् विद्वान् ने कहे हों।" इस प्रकार यूरोपीय विद्वानों के मत का यूरोपीय विद्वानों द्वारा विरोध बतलाते हुए एवं ऋग्वेद और जेन्दावस्ता (दुनिया का दूसरा बहुत प्राचीन ग्रंथ) में जो साक्षी मिलती है उसका आधार लेते हुए पाल महाशय ने अपना स्वतन्त्र मत प्रतिपादित किया जो संक्षेप में इस प्रकार है :

(१) भारतीय आर्य एवं यूरोपियन लोगों के पूर्वज एक ही नहीं थे। यूरोपियन लोगों की अपनी स्वतन्त्र ही एक उपजाति बनी। आर्य लोगों के आविर्भूत होने से पहले लाल रंग के लोगों की एक असभ्य जाति, जिसका विद्वानों ने ट्यूरेनियन नाम रखा, उत्तरी यूरोप और उत्तरी

एशिया में बसती थी। आर्य-जाति का भारत में पृथक् ही आविर्भाव हुआ; भारतीय आर्यों में से जो कुछ उत्तर की ओर बढ़ गये होंगे उनका, एवं उपरोक्त ट्यूरेनियन जाति के लोगों का सम्मिश्रण होने से भूरे बालों वाली, नीली आँखों वाली, एक नयी 'लाल-गोरी' जाति का उदय हुआ। इस नयी जाति का उदय युराल पर्वत के समीप घास के मैदानों में हुआ, जहाँ से वे सारे यूरोप में फैले। आज के यूरोपवासी प्रायः उन्हीं की संतान हैं। इन लोगों की भाषाओं का संस्कृत से साम्य इसीलिए है कि उन्होंने प्राचीन काल में ही आर्यों के साथ सम्मिश्रण होने के फलस्वरूप संस्कृत भाषा के रूपों को अपना लिया था।

(२) आर्य लोगों का उदय भारत में ही हुआ—भारत के उस भाग में जो यहाँ का स्वर्ग कहलाता है, सुषमामय काश्मीर। यही काश्मीर ऋग्वेद में वर्णित सप्तसिन्धु है, जहाँ पर वेद (ज्ञान) का सर्वप्रथम दर्शन हुआ और आर्य-सभ्यता का विकास हुआ। वैदिक सभ्यता ही सबसे प्राचीन सभ्यता है। अन्य जिन प्राचीन सभ्यताओं का उल्लेख आता है जैसे मिश्र, सीरिया, बेबीलोन और क्रीट की सभ्यताएँ, इनका विकास तद्देशीय लोगों का आर्य लोगों के साथ सम्पर्क में आने के बाद हुआ।

पाल महाशय अपनी इस मान्यता के पक्ष में कि काश्मीर ही आर्यों का आदि-देश था, अनेक यूरोपीय विद्वानों के मतों का भी उद्धरण देते हैं, जैसे तुलनात्मक भाषा विज्ञान के प्रवर्तक विद्वान् एदलंग (Adelung) एवं महान् प्राणी-शास्त्रवेत्ता महाशय ब्रोका (Broca)।

कई भारतीय विद्वान् हैं जिन्होंने इस सम्बन्ध में अथक परिश्रम अनुशीलन एवं अनुसंधान के बाद अपने मत प्रकट किये हैं, जैसे डा० प्रधान, डा० अविनाशचन्द्रदास, डा० संपूर्णानन्द इत्यादि। डा० संपूर्णानन्द का मत संक्षेप में यह है :

१. आर्य लोग भारत में कहीं बाहर से नहीं आये, यही देश उनका आदि-निवास-स्थान है। भारत में ही आर्य-संस्कृति का उदय हुआ और यहीं उसका विकास।

२. संस्कृति का यह उदय और विकास भारत के उस भूभाग में हुआ

जिसका वर्णन ऋग्वेद में सप्तसिन्धु नाम से आता है। सप्तसिन्धु प्रायः वही प्रदेश है जो आजकल पंजाब-काश्मीर से सूचित होता है। सप्त-सिन्धु प्रदेश में सात नदियाँ बहती थीं, यथा : सिन्धु, विपाशा (व्यास), शतद्रु (सतलज), वितस्ता (झेलम), असिक्नी (चिनाब), परुष्णी (रावी), और सरस्वती। इन्हीं सात नदियों के कारण इस प्रदेश का नाम सप्तसिन्धु पड़ा था। वैदिक काल में सिन्धु और सरस्वती का ही यशोगान होता था। उन्हीं के तट पर आर्यों की बस्तियाँ थीं और ऋषियों के तपोवन थे। सिन्धु और सरस्वती ही ऐहिक तथा आमुष्मिक उन्नति की सोपान थी।

यह प्रदेश सुन्दर और सौरभमय था, सम-शीतोष्ण था, छः ऋतुओं का इस भूमि पर आवागमन होता था। इसी प्रदेश में आर्यों का अभ्युदय हुआ और यही उनको निःश्रेयस की शिक्षा मिली।

नवीनतम गवेषणाओं के आधार पर अपने अध्ययन में हम यह प्रस्तावना (Hypothesis) लेकर चले हैं कि भारतीय आर्य अपने नेता वैवस्वत मनु के नेतृत्व में किसी जल-प्रलय के बाद उच्च पर्वतीय प्रदेशों से आकर लगभग ३१०० ई० पू० में सप्त-सिंधु-प्रदेश में फैल गये, जहाँ आर्य-कुल नेताओं ने अपने राज्य और आर्य-ऋषियों ने अपने तपोवन स्थापित किये। जीवन और सृष्टि के रहस्यों को उद्घाटित करने वाले मंत्र दृष्ट किये जो वेद कहलाये। इस वैदिक युग को हमने तीन भागों में बांटा है।

१. ई० पू० ३००० से १५०० ऋग्वैदिक प्रेरणा = राम के पूर्व तक

२. ई० पू० १५०० से १००० उत्तर ऋग्वैदिक संहिताएँ, एवं ब्राह्मण और आरण्यक ग्रंथ = कृष्ण के पूर्व तक।

३. ई० पू० १००० से ५०० तक औपनिषदिक प्रेरणा = बुद्ध के समकाल तक।

ई० पू० ३००० से ५०० तक के इस २५०० वर्ष लम्बे युग में जीवन एक ही प्रकार का नहीं चलता रहा। जनसंख्या की वृद्धि के साथ-साथ नयी-नयी आर्थिक सामाजिक परिस्थितियाँ और समस्याएँ आयीं

और तदनुकूल सामाजिक धार्मिक मान्यताओं में परिवर्तन और विकास होता रहा।

१. ऋग्वैदिक युग

इस काल में शुद्ध ऋग्वैदिक प्रेरणा समस्त आर्य-जाति पर छायी रही। उस समय मानो नयी उर्वरा भूमि में नया-नया जीवन आरंभ हुआ था और वह आशा और उत्साह से भरा था, और भरा था एक विस्मय की भावना से। मंत्र दृष्ट होते थे और उन मंत्रों में सन्निहित विचार और भावनाएँ लोगों के जीवन का आधार बन जाती थीं। उस काल में किसी ग्रंथ या शास्त्र-विशेष का, उस अर्थ में जिसमें आज हम ग्रंथ या शास्त्र का अर्थ एक पुस्तक के रूप में लगाते हैं, निर्माण नहीं हुआ था। उत्तर वैदिक काल में जाकर कहीं वे मंत्र जो कि दृष्ट होते जा रहे थे चार संहिताओं में विभाजित किये गये। आर्यों के जीवन का जो आदर्श था उसके अनुरूप वैदिक काल में विशाल राज्यों या साम्राज्यों का विकास नहीं हुआ और न कोई विशाल स्मारक, समाधियाँ, महल, मन्दिर इत्यादि बनवाये गये। मुख्यतः तपोभूमि एवं गाँवों का सरल जीवन था। धीरे-धीरे विशेष नगरों में या विशेष परिमित स्थानों में आर्य राजाओं की राजधानियों का विकास अवश्य हो गया था। अधिक प्रतिष्ठित बनने के उद्देश्य से राजाओं में परस्पर युद्ध भी होते थे, किन्तु किसी विशाल राज्य की स्थापना नहीं हो पायी थी।

इन लोगों का लक्ष्य सरल उपासनामय जीवन था जिसमें सांसारिक सुख भी हो, किन्तु वह सुख कृषि, दुग्ध, फल-फूल एवं निर्भय संतान की इच्छा और अनार्य शत्रुओं से रक्षा तक ही सीमित था। सृष्टि, प्रकृति, जीवन और आनन्दानुभूति के ज्ञान के विषय में आर्य लोग जिस गहराई तक पहुँच चुके थे, उस गहराई तक संसार में मानव अन्य कहीं नहीं पहुँच पाया था। मिश्र और बेबीलोन के मानव की बुद्धि अभी बहुत सीमित और उसका मानस भयातुर था, उसे विमुक्ति की अनुभूति नहीं हो पायी थी। ग्रीक दार्शनिकों एवं मनीषियों ने जिस बौद्धिक स्वतन्त्रता और मानसिक निर्भयता की अनुभूति की थी, वह भी थी अद्भुत

किन्तु उनका सृष्टि के तात्त्विक तथ्य का ज्ञान न तो अनुभूत्यात्मक ही था और न वे निश्चित रूप से शुद्ध 'आत्म तत्त्व' की कल्पना तक पहुँच पाये थे। चीनी दार्शनिक भी दृष्ट संसार की परिवर्तनशीलता तक ही रह गये, इसके परे किसी अपरिवर्तनीय तत्त्व को वे नहीं देख पाये। सारांश यही है कि प्राचीन भारतीय इतिहास के दर्शन हमें नगरों, महलों, साम्राज्यों के अवशेषों में नहीं, किन्तु विशेषतः उनके तत्त्व सम्बन्धी साहित्यिक अवशेषों में मिलते हैं।

लोग वैदिक संस्कृत भाषा बोलते थे, उस भाषा का लिखित रूप शुरू में विद्यमान नहीं था, अतएव जीवन-विज्ञान एवं अध्यात्म-सम्बन्धी ज्ञान का विनिमय चर्चा और उपदेश के रूप में होता था, और दृष्ट मंत्रों की रक्षा विद्यार्थों को कंठस्थ करके की जाती थी। इस प्रकार विद्यार्थों की परम्परा चलती रहती थी। उस समय मूर्ति-पूजा बिल्कुल नहीं थी और न मन्दिरों का निर्माण कराया जाता था। अनंत आकाश के तले यज्ञ, हवन, देव-प्रार्थना एवं उपासना होती थी। जीवन-निर्वाह के लिए मुख्य काम कृषि और पशुपालन था। शरीर पर अधोवस्त्र एवं उत्तरीय धारण करते थे। दही, घी, जौ, गेहूँ और मांस उनके खाद्य पदार्थ थे। वे एक प्रकार का रस पीते थे जिसे सोमरस कहा जाता था और जिसके पीने से वे तन्मय हो जाते थे। आखेट और रथों एवं घोड़ों की दौड़ इत्यादि उनके मनोरंजन के साधन थे। संगीत, वाद्य और नृत्य भी जीवन के अंग थे। रक्षा के लिए विशेषतः तीर, कमान, फरसा, भाला, कवच, तलवार, शिरस्त्राण, बाहुरक्षक और गदा का प्रयोग होता था। सैनिक पैदल ही युद्ध करते थे, केवल राजा या उसके प्रमुख संबंधी रथारूढ होकर युद्ध करते थे। कोई विधिवत् संगृहीत अश्व-सेना नहीं थी, यद्यपि अश्वों का युद्ध में प्रयोग होता था। अधिकतर समय सामूहिक यज्ञ, हवन और उपासना करने में ही व्यतीत होता था। उसकी प्रार्थनाएँ अधिकतर सामूहिक लोक-कल्याण के लिए होती थीं। उनकी वृत्ति सात्त्विक होती थी।

इस काल में कुटुम्ब एवं कौटुम्बिक भावना ही सामाजिक या राजनैतिक व्यवस्था का आधार थी। एक कुटुम्ब के सभी सदस्य एक ही

घर या गृह में रहते थे। घर अधिकतर लकड़ी, घास-फूस और मिट्टी के बने होते थे, किन्तु वे होते थे बहुत स्वच्छ और सुथरे। कुटुम्ब का आधार पैतृक था न कि मातृक। वरिष्ठ पुरुष ही कुटुम्ब का स्वामी होता था, उसी की आज्ञानुसार कुटुम्ब के शेष सदस्यों को (स्त्री, बाल-बच्चों को) चलना होता था। लड़कियाँ बड़ी हो जाने पर, पूर्ण वयस्क हो जाने पर ही प्रेम-विवाह करती थीं। माता-पिता के आदेश के अनुसार भी पुत्रियों के विवाह सम्पन्न होते थे। बहु-पत्नीत्व के उदाहरण तो मिलते हैं किन्तु बहुपतित्व के नहीं। वस्तुतः सामाजिक व्यवस्था में कोई जटिलता नहीं थीं और न किन्हीं सुनिश्चित नियमों का कड़ा बंधन। उस समय न कर्म-भेद था, न वर्ण-भेद और न आश्रम-भेद। ये भेद तो उत्तर ऋग्वैदिक काल में प्रारंभ हुए, और उपनिषद्काल के आते-आते सामाजिक संस्कार के रूप में स्थिर हुए। चार वर्ण अभी स्पष्टतया नहीं बन पाये थे। हाँ, पुरोहित-वर्ग का धीरे-धीरे विकास हो रहा था जो यज्ञ इत्यादि धार्मिक कार्यों में नेतृत्व करता था और उनका संचालन भी करता था। बहुत काल तक तो भिन्न-भिन्न कुटुम्बों के लोग अपना सब काम मिलकर किसी पुरोहित की सहायता के बिना ही कर लेते थे। धीरे-धीरे ही ब्राह्मण, क्षत्रिय या राजन्यवर्ग एवं वैश्य वर्गों का अपने व्यवसाय और धंधे के अनुसार विकास हुआ, किन्तु इन भिन्न-भिन्न धंधों या व्यवसायों से आर्य लोगों के परस्पर संबंधों में किसी भी प्रकार की अड़चन या बंधन नहीं था। सभी आर्य एक ही जाति के लोग थे और ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य शब्दों से व्यवसायों का बोध होता था न कि जाति का। हां, इतर आर्य लोगों को जो गौर वर्ण के नहीं थे अवश्य हेय या हीन समझा जाता था और उनसे खुला सामाजिक संबंध प्रायः नहीं जोड़ा जाता था।

वैदिक काल के आरम्भ में नगरों का विशेष उल्लेख नहीं मिलता। उन लोगों का जीवन गाँव का ही जीवन था, यहाँ तक कि जब हम प्राचीन आर्य राजाओं दुष्यंत, हरिश्चन्द्र आदि की बात करते हैं तो उनकी राजधानी की कल्पना किसी नगर के रूप में नहीं कर सकते किन्तु एक

साधारण पर समृद्ध गाँव के रूप में ही करते हैं। हाँ, आर्य लोग ज्यों-ज्यों पूर्व की ओर बढ़े, उन्होंने नगरों का विकास किया। काशी और कान्यकुब्ज जैसे नगरों की प्राचीनता ऋग्वैदिक काल तक जाती है। उत्तर वैदिक काल में तो अनेक नगरों का विकास हो चुका था जैसे अयोध्या, मिथिला, चम्पा, वैशाली इत्यादि।

राजकीय संगठन

ऐसा अनुमान है कि आर्य जाति के आरम्भिक काल में कोई राजा नहीं था; लोग अपने-अपने परिवारों में, परिवार के वयोवृद्ध पुरुषों के नेतृत्व और आदेश में रहते थे। ऐसे कई परिवार मिलकर एक समुदाय बन जाता था जिसको वे 'जन' कहते थे। यह एक प्रकार का एक ही प्राचीन वंश का, या एक जाति का समुदाय होता था। इस समुदाय की जनसंख्या में जब वृद्धि हो जाती थी तो समुदाय के लोग कई गाँवों में फैल जाते थे। इस प्रकार जब जनों और गाँवों में वृद्धि हुई तो उन्हें किसी राजकीय व्यवस्था की आवश्यकता प्रतीत हुई। ऐसी स्थिति आने पर ये जन एक मुखिया का 'वरण' करने लगे थे जिसे राजा कहा जाता था। वरण का यह अर्थ था कि प्रजा राजा को चुनती थी। यदि कोई राजपुत्र भी होता तो प्रजा की स्वीकृति के बाद ही वह राजा होता था। राजा को प्रजा के प्रतिकूल होने पर हटाया जा सकता था। राजकीय अधिकार की उत्पत्ति के विषय में महाभारत में कुछ ऐसी बात आती है कि ज्यों-ज्यों जनसंख्या बढ़ने लगी, पारस्परिक झगड़े आरम्भ हुए, लोग अत्यन्त दुखी हो गये, तो वे प्रजापति के पास गये और उनको अपनी समस्या कह सुनायी। प्रजापति ने कहा—इसका एक ही उपाय है, वह यह कि तुम लोग अपने में से एक राजा चुनो, उसकी आज्ञा का तुम पालन करो, और वह तुम्हारी रक्षा करे। उसके खर्चे के लिए तुम अपनी आय का एक नियमित भाग उसको दिया करो। इस प्रकार मनु पहला राजा बनाया गया। उसने नियम बनाये और दंड निश्चित किये।

मृत्यु, पुनर्जन्म और कर्म-फल आदि सम्बन्धी विचार :

ऋग्वेद में कुछ ऐसे मन्त्र आते हैं जिनसे भासित होता है कि वैदिक आर्य पुनर्जन्म एवं कर्म-सिद्धांत में विश्वास करते थे, यद्यपि यह निश्चयपूर्वक नहीं कहा जा सकता कि उस काल में ये विश्वास सर्वमान्य और सुस्पष्ट हो गये थे। उनके विचार में—

सूर्यं चक्षुर्गच्छतु वातमात्माद्यां च गच्छ पृथिवीं न धर्मणा।
अपो वा गच्छ यदि तत्र ते हित मोषधीषु प्रति तिष्ठा शरीरैः॥

(**ऋग्वेद**, १०-१६-३)

यद्यपि शरीर अग्नि से भस्म हो जाता है (आर्य लोग मृतकों को जलाया करते थे) तथापि उसकी आत्मा नष्ट नहीं होती है। भिन्न-भिन्न इन्द्रियाँ अपने-अपने भौतिक पदार्थों में मिल जाती हैं; प्राण वायुलोक में मिल जाता है और जीवात्मा अपने किये हुए कर्म के अनुकूल, स्वर्ग, पृथ्वी तथा अंतरिक्ष में शरीर को धारण कर भोगों को भोगता है। किन्तु इस विषय में कई भारतीय विद्वानों में ही मतभेद है। कुछ तो निर्विवाद रूप से अब यह मानते हैं कि भारत में आर्यों के आगमन के पहले यहाँ कम-से-कम दो सभ्यताएँ मौजूद थीं जो आर्यों से किसी भी प्रकार निम्न कोटि की नहीं थीं...यथा आस्ट्रिक (कोल) और द्रविड़ सभ्यताएँ, और इन्हीं सभ्यताओं से प्रभावित होकर ही आर्यों में पुनर्जन्म और श्राद्ध के विचार जो इन सभ्यताओं में आदिकालीन (Primitive) भय के रूप में विद्यमान थे, धीरे-धीरे विकसित हो गये और कालांतर में वे आर्यों की सभ्यता और विश्वासों के प्रमुख अंग बन गये।

वैदिक संहिताओं के विद्वानों के अध्ययन का निष्कर्ष तो यही है कि मृत्यु के बाद जन्म की स्थिति के विषय में ऋग्वेद में कोई सुस्पष्ट और निश्चित विचार नहीं है। मृत्यु के उपरांत शरीर को जला दिया जाता था। ऐसा भाव अवश्य आता है कि मृत्यु के अनन्तर प्राणी यमलोक में शान्ति से रहता है। पुनर्जन्म या कर्म के अनुसार किसी भी ऊँची या

नीची योनि में जन्म लेने जैसे विचार न ऋग्वेद में हैं और न उस युग के आर्य लोगों में।

२. उत्तर ऋग्वैदिक काल

आर्यों की जनसंख्या में वृद्धि होने से सप्तसिंधु से फैलते-फैलते वे पूर्व में काशी, प्रयाग और बिहार तक फैले और दक्षिण में विन्ध्याचल के उस पार भी। पुरोहित और ब्राह्मण नेता तो अपनी यज्ञभूमि, अपनी संस्कृति का प्रसार करने के लिए उत्साह से आगे बढ़ते थे, और साथ ही साथ कुलों अथवा वंशों के राजा और राजकुमार अपने राज्य और गौरव का विस्तार करने के लिए। यह वही काल था जब कई पीढ़ियों पूर्व से कोसल (अयोध्या) में इक्ष्वाकु वंश के राजाओं का राज्य स्थापित हो चुका था और अब दशरथ-पुत्र राम के जीवन की घटनाएँ घट रही थीं।

ऋचाओं का वर्गीकरण होने लगा था; यज्ञ-भावना प्रधान मंत्र (यजुर्वेद, गान-भावना-प्रधान मंत्र सामवेद, लौकिक जीवन और तंत्र-भावना-प्रधान मंत्र-अथर्ववेद के नाम से संकलित होने लगे थे; कालांतर में वेद एक श्रुति-शास्त्र, एक पूजनीय संस्था के रूप में प्रतिष्ठित हो गये जिनको श्रद्धा की दृष्टि से देखा जाता था और जिनका अनुशीलन समाज के विशिष्ट कुलों में होता था। इसी काल में उन मंत्रों का प्रणयन हुआ जो 'ब्राह्मण' भाग के नाम से वेदों में संकलित कर लिये गये। संहिता-भाग के मंत्र तो छन्दोबद्ध, गेय और कवित्वपूर्ण हैं, ब्राह्मण-भाग गद्य में हैं, और वे अधिकतर यज्ञों के विधि-विधान का निर्देश करते हैं। इसी काल में उन मंत्रों का प्रणयन हुआ जो आरण्यक कहलाते हैं, जो 'ब्राह्मणों' के बाद वेदों में संकलित हुए, एवं जिन्हें 'ब्राह्मणों' का परिशिष्ट कहा जाता है। आरण्यक मंत्र यज्ञों का विधि-विधान नहीं बतलाते, बल्कि उनमें यज्ञ सम्बंधी निगूढ़ रहस्यवादी और प्रतीकात्मक भावना सन्निहित है। आरण्यकों का अध्ययन अरण्यों (वनों) में ही किया जा सकता था, गाँव में रहते हुए घर पर नहीं; और इनमें दीक्षा उन्हीं को दी जाती थी जिनको ऋषि या गुरु लोग उचित पात्र समझते थे। सामाजिक संगठन प्रारंभिक सरलता से अपेक्षाकृत जटिल होने लगा था, धीरे-धीरे समाज

और धर्म का रूप स्थिर होने लगा था। सामाजिक संगठन के दो मूलभूत आधार संस्था के रूप में इसी युग में स्थापित हुए। वे थे वर्ण-धर्म और आश्रम-धर्म। यह व्यवस्था इसी काल में आकर पूर्णतः संगठित हुई, यद्यपि मूल रूप में इसकी भावना ऋग्वैदिक काल में ही अभिव्यक्त होने लगी थी।

वर्ण-धर्म

भारतीय वैदिक समाज में धीरे-धीरे चार वर्ण हो गये। (१) ब्राह्मण (२) क्षत्रिय (३) वैश्य और (४) शूद्र। ब्राह्मण वह जो समाज का बौद्धिक, धार्मिक एवं आध्यात्मिक संचालन एवं नेतृत्व करे। क्षत्रिय वह जो समाज की रक्षा करे। वैश्य वह जो समाज का भरण-पोषण करे। शूद्र वह जो समाज की शरीर से सेवा करे। व्यक्ति अपने स्वभाव एवं विकास की स्थिति के अनुसार शूद्र को छोड़कर शेष तीन में किसी भी एक को ग्रहण कर सकता था; शूद्र तो अनार्य ही होते थे। व्यक्तियों का वर्ण-निर्धारण जन्म से नहीं होता था। किन्तु उत्तर वैदिक काल के आते-आते तात्त्विक बात को भुलाया जाने लगा था, लोग परम्परानुगामी होने लगे थे, एवं एक ऐसी स्थिति आ गयी थी जब वर्ण जन्म से माने जाने लगे।

आश्रम-धर्म

धीरे-धीरे आर्य मनीषियों ने, मानव-जीवन किस प्रकार बिताया जाना चाहिये इस बात की मनोवैज्ञानिक आधार पर एक कल्पना की। यह सोचकर कि मनुष्य की आयु प्रायः सौ वर्ष की होनी चाहिये, इसे चार आश्रमों में बाँट दिया गया। (१) ब्रह्मचर्याश्रम—विद्यार्थी २५ वर्ष की आयु तक ब्रह्मचर्य-व्रत पालन करे एवं विद्याध्ययन करे। उस काल में विद्याध्ययन तपोभूमियों में स्थित ऋषियों के आश्रम या गुरुओं के गृहों में होता था। (२) गृहस्थाश्रम—२५ से ५० वर्ष की आयु का मनुष्य वैवाहिक जीवन व्यतीत करे, परिवार और समाज का पालन करे। (३) वानप्रस्थ-आश्रम—५० से ७५ वर्ष की आयु तक पति और पत्नी अपने परिवार को छोड़कर, अपने पुत्रों को परिवार-संचालन एवं सांसारिक

कार्यों का सब उत्तरदायित्व देकर अकेला रहें, धार्मिक चिंतन करें और साथ ही साथ समाज-सेवा के कार्यों में भी प्रवृत्त हों। (४) संन्यास-आश्रम—७५ वर्ष की आयु के बाद मनुष्य बिल्कुल अकेला रहे, अध्यात्म-चिंतन करे, एवं लोक-कल्याण के लिए समाज का उचित मार्ग-प्रदर्शन करे।

समाज में स्त्रियों का स्थान

जैसा ऊपर बताया जा चुका है, स्त्रियाँ परिवार में प्रमुख पुरुष के अधीन रहती थीं। बौद्धिक और आध्यात्मिक विकास की सुविधा थी। समाज में उनकी प्रतिष्ठा थी। विवाह युवावस्था में ही होता था, पति के चयन में उनकी इच्छा का भी आदर किया जाता था। परदे की प्रथा नहीं थी। त्यौहारों आदि सामाजिक अवसरों पर वे शृंगार करती थीं, कई प्रकार के प्रसाधनों और अलंकारों का उपयोग करती थीं, सदाचारिणी होती थीं और इसीलिए समाज में कहीं-कहीं (बहुत कम) बहु-पत्नीत्व होते हुए भी मर्यादा और अनुशासन का वातावरण था। स्त्रियों की समाज में प्रशंसनीय स्थिति होते हुए भी स्त्री-पुरुष सभी पुत्री की अपेक्षा पुत्र की कामना अधिक करते थे। विधवाओं को पुनर्विवाह करने की अनुमति कुछ विशेष परिस्थितियों में होती थी। सती-प्रथा का प्रचलन तब तक नहीं हुआ था। यज्ञ-यागादि के धार्मिक अवसरों पर पति के साथ पत्नी का होना अनिवार्यतः आवश्यक था।

इस युग के आरम्भ में (१५०० ई० पू० अनुमानतः) तो वह घटना हुई जो आर्यों के महाकाव्य 'रामायण' में वर्णित है; और अन्त में (१००० ई० पू० अनुमानतः) वह घटना हुई जो आर्यों के दूसरे महाकाव्य 'महाभारत' में वर्णित है। रामायण का नायक है आर्यकुल-इक्ष्वाकु का वंशज मर्यादा-पुरुषोत्तम राम। महाभारत में कथा है—ऋग्वैदिक काल से चले आते हुए आर्यकुल-भरत के वंशज कौरव और पांडवों के युद्ध की, जिसकी पृष्ठभूमि में है योगिराज श्रीकृष्ण का अपूर्व व्यक्तित्व।

इन दोनों कथाओं को बहुत संक्षेप में हम यहाँ दे रहे हैं; इनसे

तत्कालीन राजकीय तथा सामाजिक संगठन का चित्र कुछ स्पष्ट हो सकेगा।

रामायण

रामायण की कथा इस प्रकार है: अयोध्या के राजा दशरथ के तीन रानियाँ थी—कौशल्या, कैकेयी, सुमित्रा; एवं चार पुत्र थे। कौशल्या के राम, कैकेयी के भरत एवं सुमित्रा के लक्ष्मण व शत्रुघ्न। दशरथ ने राज्य-भार से मुक्त हो राजगद्दी ज्येष्ठ पुत्र राम को देनी चाही, कैकेयी ने चाहा भरत को राज्य मिले; दशरथ ने कैकेयी को एक वरदान दे रखा था, फलतः कैकेयी की बात माननी पड़ी। राम को १४ वर्ष का वनवास हुआ, उनके साथ उनकी स्त्री सीता भी बन को गई। राजगद्दी भरत के लिए रही किन्तु भरत ने राजगद्दी स्वीकार नहीं की और अपनी माँ कैकेयी को फटकारा। आखिर बड़े भाई राम के आदेशानुसार उनके प्रतिनिधि-रूप में भरत १४ वर्ष तक राज-काज चलाते रहे। वनवास काल में दक्षिण में लंका देश का राजा रावण सीता को हर ले गया; राम ने दक्षिण की वानर इत्यादि जातियों की सहायता से, जिनके नेता सुग्रीव और हनुमान थे, लंका के राजा रावण का वध किया, सीता को पुनः प्राप्त किया एवं १४ वर्ष की अवधि की समाप्ति पर अयोध्या लौटे। प्रजा ने राम को सिंहासनारूढ़ किया। रामराज्य में अयोध्या की प्रजा सुख-शांति से रही।

रामायण काल में मुख्य राज्य निम्न थे—कोसल जिसका आधुनिक नाम अवध है। इस राज्य की मुख्य नगरी अयोध्या थी जहाँ राम के पिता राजा दशरथ राज्य करते थे। कैकय राज्य (आधुनिक पश्चिमी पंजाब) दशरथ की तीसरी रानी कैकेयी इसी देश की थी। कोसल राज्य के पूर्व में विदेह देश था। जिसे आज तिरहुत कहते हैं। जहाँ के राजा जनक कहलाते थे। ऐसे ही एक जनक राजा की पुत्री सीता थी, जिसने स्वयंवर में राम का वरण किया था। इसके अतिरिक्त उत्तर भारत में सिन्धु और गांधार प्रदेश थे। गांधार प्रदेश (आधुनिक अफ़गानिस्तान के पूर्वीय भाग) में कहते हैं, राम के भाई भरत के दो पुत्रों तक्ष

और पुष्कर ने दो नगरियाँ बसाई थीं—तक्षशिला और पुष्करावती। तक्षशिला आधुनिक रावलपिंडी से २० मील उत्तर-पश्चिम में स्थित थी और पुष्करावती आधुनिक काबुल के पूर्व में।

उस काल तक दक्षिण भारत में आर्यों की बस्तियाँ नहीं बसी थीं, सम्भवत: रामचन्द्र ने ही पहले-पहल दक्षिण का रास्ता खोला हो। वानर, ऋक्ष, राक्षस, इत्यादि ये दक्षिण की पुरानी जातियाँ थीं, जिनमें राम के संपर्क से भारतीय संस्कृति का प्रसार हुआ।

महाभारत

महाभारत-काल तक भारत में रामायण-काल की अपेक्षा आर्यों की और अधिक वस्तियाँ बस चुकी थीं और वे दूर-दूर तक फैल चुके थे। महाभारत-काल के मुख्य राज्य निम्न थे: कुरुदेश शूरसेन (आधुनिक मथुरा के आस-पास का देश)। चेदि (यमुना के दक्षिण का प्रदेश—आधुनिक बुन्देलखंड), यहाँ का राजा शिशुपाल था। अवन्ति (आधुनिक मालवा)। सौराष्ट्र—यहाँ की नगरी द्वारिका में यादवों के नेता वासुदेव कृष्ण थे। विदर्भ (आधुनिक बरार)। हस्तिनापुर नगरी (यमुना के पश्चिम में)—यहाँ प्राचीन राजा कुरु के वंशज कौरव राज्य करते थे। वत्स (आधुनिक प्रयाग के आस-पास का देश)—जिसकी राजधानी कौशाम्बी (प्रयाग से ३२ मील उत्तर) थी। मगध (आधुनिक बिहार)—महाभारत-काल में यहाँ का राजा जरासंध था। मद्रदेश (पंजाब में रावी और चिनाव नदियों के बीच), जिसकी राजधानी शाकल (आधुनिक स्यालकोट) थी। पांडु (जिसके वंशज पाँच पांडव थे) की रानी माद्री इसी मद्रदेश की रहने वाली थी। पंचाल—जहाँ राजा द्रुपद राज्य करता था, जिसकी पुत्री द्रौपदी को पांडवों ने स्वयंवर में वरण किया था। इन्द्रप्रस्थ नगर जिसको यमुना नदी के तट पर पांडवों ने बसाया, आधुनिक दिल्ली के पुराने किले के पास अब भी एक बस्ती है जिसे इन्दरपत कहते हैं। अंगदेश, (मगध के पूर्व में)—जहाँ का राजा कर्ण था। गांधार देश—कौरव राजा धृतराष्ट्र की रानी गांधारी इसी देश की थी। मत्स्य देश (आधुनिक अलवर)—यहाँ राजा विराट् राज्य करता था; यहीं

पांडवों ने अपने अज्ञातवास का एक वर्ष बिताया था।

महाभारत की मुख्य घटनाएँ इस प्रकार हैं : हस्तिनापुर एक राज था जहाँ कौरव-वंश के राजाओं का राज्य था। इस वंश में दो भाई हु धृतराष्ट्र और पाण्डु। धृतराष्ट्र की रानी गांधारी के कई पुत्र हुए जिन मुख्य दुर्योधन और दुःशासन थे। पांडु की दो रानियाँ थीं, कुन्ती और माद्री विवाह होने के पहले कुन्ती के एक पुत्र हो चुका था—कर्ण। विवाह के बा पांडु के कुन्ती से तीन पुत्र हुए—युधिष्ठिर, भीम और अर्जुन, और माद्री दो पुत्र हुए—नकुल एवं सहदेव। ये पाँच पुत्र पाँच पांडव कहलाये धृतराष्ट्र के पुत्र दुर्योधनादि कौरव कहलाए। कुन्ती का पुत्र कर्ण इन कौरव में जाकर मिल गया। कौरवों और पांडवों में द्वेष बना रहता था पाँचों पाँडवों ने पंचाल के राजा द्रुपद की कन्या द्रौपदी को स्वयंवर प्राप्त किया। उन्होंने दुर्योधन से अपने राज्य का हिस्सा माँगा। दुर्योध ने कुछ नहीं देना चाहा। अन्त में यह तय हुआ कि यमुना-पार कुरुक्षे के दक्षिण के जंगलों को, जो खांडव वन कहलाते थे, वे बसा लें। उ जंगलों को साफ कर पांडवों ने इन्द्रप्रस्थ नगर बसाया और धीरे-धी उन्होंने अपनी श्री और शक्ति में वृद्धि की। शक्तिमान् होने के बा उन्होंने राजसूय-यज्ञ किया। कौरवों की ईर्ष्या बढ़ गयी। कौरवों मामा गांधार देश के शकुनि की सलाह से दुर्योधन ने पांडवों को जुआ खेलने के लिए आमन्त्रित किया। जुए में पांडव लोग सब कुछ हार गये अपना राज्य भी। और अन्त में एक शर्त के अनुसार उन्हें बारह व का वनवास और एक वर्ष का अज्ञातवास भुगतना पड़ा। इन तेरह वष के समाप्त होने पर पांडवों ने अपना राज्य वापस माँगा, दुर्योधन ने कुछ भ देने से इन्कार कर दिया। फलतः दोनों पक्षों में युद्ध ठन गया जो मह भारत युद्ध कहलाता है। कौरवों की ओर से गांधार (शकुनि का राज्य सिन्धु (शिशुपाल का राज्य) अङ्ग (कर्ण का राज्य) इत्यादि राज्य थे पांडवों की ओर सौराष्ट्र के कुछ राज्य एवं यादव वंश के नेता श्रीकृष्ण थे। १८ दिन तक घमासान युद्ध हुआ। कौरवों की पराजय हुई। पांड कुरु देश के राजा और आर्यावर्त के सम्राट हुए।

आर्यों के जीवन के प्रतीक उपर्युक्त राम, और कौरव-पांडवों से सम्बन्धित घटनाओं के आधार पर कालान्तर में रामायण और महाभारत महाकाव्यों की रचना हुई। कुछ इतिहासकारों और चिन्तकों का ऐसा भी मत है कि रामायण और महाभारत की घटनाएँ ऐतिहासिक नहीं हैं, केवल कल्पनाएँ हैं, कवियों की कल्पनाएँ हैं। आधुनिक गवेषणाओं के फलस्वरूप अधिक मान्यता तो इसी मत को दी जाती है, कि ये घटनाएँ ऐतिहासिक हैं। जो कुछ हो, इतना तो निश्चित है ही कि वैदिक समाज धीरे-धीरे विकसित होता हुआ उस स्थिति तक पहुँच चुका था जिसका आभास इन महाकाव्यों में मिलता है, और जिसकी कुछ रूपरेखा हम ऊपर दे चुके हैं। महाभारत-युद्ध के अवसान के साथ आर्य-इतिहास का एक महत्त्वपूर्ण प्रकरण समाप्त होता है।

३. उपनिषद् एवं सूत्रकाल
ई० पू० १००० से ५००

महाभारत-युद्ध के बाद आर्य-जाति के जीवन में मानो एक काया पलट-सी होने लगती है। समाज के चिन्तन-प्रधान व्यक्तियों, ऋषियों, मुनियों, और विचारकों में सृष्टि, जीवन, और धर्म सम्बन्धी विचार और भावना में गहन मंथन होता है। आरण्यकों की रहस्यवादी परम्परा में ऋषियों की निगूढ़तम अनुभूतियाँ होती हैं, उन्हें सृष्टि और जीवन के अन्तरतम तत्त्व के नए दर्शन होते हैं और वे अपनी अनुभूतियों और दर्शन को ऐसा वाणीमय रूप दे देते हैं जो रहस्यवादी भावना और दर्शन का आज उच्चतम साहित्य माना जाता है। तो वेदों के अन्तिम भाग (वेदान्त) उपनिषदों की इस युग में रचना होती है। एक दृष्टि से यहीं पर वैदिक युग समाप्त होता है।

युग की दार्शनिक, रहस्यात्मक धारा के अनुरूप ऋग्वैदिक देवताओं की प्रधानता अब नहीं रही थी, ऐसी भावना भी पैदा हो रही थी जो यज्ञ, हवन इत्यादि कर्मों की धार्मिक उपादेयता में संदेह करती थी, और यज्ञादि कर्म की स्थूलता से ऊपर उठकर सीधा सृष्टि के मूल में स्थित ब्रह्म या परमात्म-तत्त्व का चिन्तन करती थी।

साथ ही साथ यज्ञ-यागादि कर्मों का प्रचलन भी खूब बढ़ रहा था, पुरोहितों की शक्ति और प्रतिष्ठा कम नहीं थी। वेद पूर्णतया एक पुरातन, पवित्र धार्मिक संस्था के रूप में स्थायी रूप से प्रतिष्ठित हो चुके थे, यद्यपि पुरोहित और धर्मशास्त्रज्ञ यज्ञों के अवसर पर अब इन्द्र, वरुण, उषा की स्तुति नहीं किन्तु एक देव प्रजापति की ही प्रार्थना करते थे। भावना में स्थूलता, स्वार्थपरक 'ऐहिकता' कुछ विशेष आगयी थी। किन्तु समाज का प्रतिष्ठित वर्ग यज्ञ कर्म एवं अन्य वैदिक विधानों से सर्वथा बंधा हुआ था। शुद्ध वैदिक परम्परा को रखने के लिए, वेदों के शुद्ध अध्ययन-अध्यापन के लिए एवं वेदानुसार समाज का धार्मिक रूप और चलन स्थिर कर डालने के लिए एक अनुपम साहित्य यथा सूत्र-ग्रंथों, निरुक्त, व्याकरण एवं अन्य वेदांगों की सृष्टि इस समय हुई। यास्क ऋषि का निरुक्त (वेद की कुंजी) और पाणिनि का व्याकरण आज तक भाषा-विज्ञान के अनुपम और अपने आपमें पूर्णतम ग्रंथ माने जाते हैं।

किन्तु उन साधारण लोगों में जो न तो यज्ञ-कर्म, और न वैदिक साहित्य के अध्ययन में निष्णात थे और न जो दार्शनिक गूढता को समझ उसके रहस्य का अनुभव कर सके थे वैदिक देवता रुद्र (जिसका वैदिक नाम शिव भी था) की प्रधानता का धीरे-धीरे प्रचलन हो रहा था। वेद के दूसरे देवता विष्णु (जिसकी वेद में महत्ता नहीं थी) लोगों की भक्ति के केंद्र बनते जा रहे थे। वे विष्णु को प्रमुख वैदिक देवता वरुण के समान प्रकाशमान पोषक और रक्षक के रूप में देखने लगे थे।

आगे चलकर इन्हीं विष्णु देवता का समाहार वासुदेव में हो गया। उत्तर वैदिक-काल के अन्तिम भाग में वासुदेव की प्रार्थना और उपासना प्रमुखता से होने लगी थी। इन्हीं वासुदेव का समाहार महाभारत के युगपुरुष देवकीपुत्र श्रीकृष्ण में होगया और अवतारवाद के विचार का उदय होने लगा। पुनर्जन्मवाद एवं कर्मफलवाद एक धार्मिक सिद्धान्त के रूप में प्रतिष्ठित हो गये और उनको वेद प्रतिपादित समझा जाने लगा। इसी युग में संभवतः श्रीमद्भगवद्गीता का प्रणयन हुआ।

इस युग में समाज का रूप पहले की अपेक्षा और भी जटिल हो

गया। वर्ण-व्यवस्था कड़ी होगयी, वह जाति-संगठन के रूप में (जन्मना) परिवर्तित हो गयी। वर्ण या जाति अब जन्म से मानी जाती थी, कर्म से नहीं। वैवाहिक वंधन पहले की अपेक्षा कठोर होगये; नियोग अनादर की दृष्टि से देखा जाने लगा। आर्यकुल के पुरुष पहले अनार्य स्त्रियों से विवाह कर सकते थे, अब वैसा करना हेय समझा जाने लगा। जीविकोपार्जन के साधन वे ही पूर्ववत् कृषि और पशुपालन थे, एवं नगरों और नगरों के आस-पास अनेक हस्तकौशल के काम होते थे। यातायात के साधन भी वे ही—बैल-गाड़ी, घोड़ा, रथ, नौका आदि थे।

इस प्रकार ई० पू० ३००० से प्रारम्भ होकर ई० पू० ५०० तक भारतीय आर्यों का इतिहास एक अनुपम गौरवमय कहानी के रूप में चलता रहता है, वह कहानी उक्त काल (५०० ई० पू० लगभग) में आकर स्थिर सी होजाती है, मानो उसका एक सुनिश्चित रूप बनकर प्रतिष्ठित हो जाता है।

अब तक के साहित्य का विहंगम अवलोकन

आर्यों के जीवन, मन, और आत्मा की कहानी, इनकी अन्तर्दृष्टि, इनकी अन्तस्तम अनुभूतियाँ सन्निहित हैं उस साहित्य में जिसे वैदिक साहित्य कहते हैं, जो विशाल है और जिसका मूल है ऋग्वेद तथा अन्य तीन वेद। इस विशाल साहित्य की भाषा वैदिक संस्कृत का पूर्व रूप है। कालांतर में इस विशाल साहित्य से आविर्भूत हुआ वेदांग-दर्शन एवं पुराण-साहित्य जो वैदिक भाषा के ही विकसित रूप 'संस्कृत भाषा' में है। पहले बहुत संक्षेप में इस साहित्य के शरीर की चर्चा करेंगे। वैदिक साहित्य को पंडितों ने ३ भागों में विभक्त किया है, संहिता, ब्राह्मण और आरण्यक-उपनिषद्।

वैदिक साहित्य

संहिताएँ (अर्थात् संगृहीत मंत्र-ऋचाएँ) चार हैं, इनके नाम हैं,

१. वेद-संहिता अर्थात् मन्त्र-ऋचाओं का संग्रह

ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद, और अथर्ववेद। सब ऋचाओं की भाषा एक-सी नहीं है। कहीं-कहीं उसमें अत्यन्त प्राचीनता के चिह्न हैं और कहीं-कहीं अपेक्षाकृत कम प्राचीनता के।

ये वेद हैं क्या ? वेद का सामान्य अर्थ है 'सत्य-ज्ञान'। इस अर्थ को मानकर चलें तो आर्यों के इस विश्वास में कि 'वेद' तो अनादि-काल से चले आते हुए ईश्वरीय ज्ञान हैं, किसी को कोई आपत्ति नहीं हो सकती। वास्तव में ज्ञान, अर्थात् वस्तु एवं सृष्टि का सत्य क्या है, यह तो तभी से स्थित अर्थात् विद्यमान है जब से सृष्टि है। पर वेद शब्द का विशेष अर्थ चार प्रसिद्ध वेदों (मंत्र-संहिताओं) से है। इन वेदों में जो ऋचाएँ या मंत्र हैं, और उन मंत्रों में जो तथ्य, जो ज्ञान, जो सत्य समाहित है, उस ज्ञान अथवा सत्य के दर्शन अर्थात् उसकी अनुभूति समय-समय पर शुद्ध मन वाले कुछ विशिष्ट पुरुषों, ऋषियों को हुई, और उसकी आन्तरिक अनुभूति होते ही, उस ज्ञान का दर्शन होते ही, वह प्रवाहित हो निकला ऋषि की वाणी से संगीतमय भाषा में। ऋषि द्वारा दृष्ट शब्द-बद्ध वह 'ज्ञान' या 'सत्य' या 'तथ्य' कहलाया ऋचा या मंत्र, ऐसे मंत्रों का संग्रह कहलाया वेद। मूलवेद ऋग्वेद में इस तरह १०५८० ऋचाएँ हैं, अन्य वेदों में अपेक्षाकृत बहुत कम। वास्तव में ऋग्वेद में छन्दोवद्ध प्रार्थनाएँ तथा मंत्र हैं; सामवेद में ऋग्वेद के ही अनेक मंत्रों को गीतबद्ध किया हुआ है, यजुर्वेद में ऋग्वेद के ही अनेक मंत्रों को यज्ञ कर्म की दृष्टि से गद्य सूत्रों में लिखा है, अथर्ववेद भिन्न-कोटि का एक मंत्र टोणों (Incantations) का वेद है। इस प्रकार हम देखेंगे कि वेदों को हम किसी एक प्राणी, कवि या ऋषि की रचना नहीं मान सकते। समय-समय पर भिन्न-भिन्न ऋषियों ने तथ्यों का अनुभव किया, और मंत्रों की रचना की। किन्हीं विद्वानों की राय में ऋग्वेद के अनेक मंत्रों की रचना ईसा के लग-भग २५,००० वर्ष पूर्व हुई, किन्हीं दूसरे विद्वानों की राय में इनकी रचना ईसा से लगभग १५००-२००० वर्ष पहले हुई। इन मंत्रों की रचना के पश्चात् इनके पठन-पाठन की शैली का प्रचार हुआ। उस समय कागज तो थे नहीं जो कहीं मंत्रों को लिखा जाता; भोज एवं ताड़-पत्रों का प्रचार भी स्यात् अनेक वर्षों पीछे ही हुआ होगा; अतएव वेद-मंत्र वेदा-चार्यों द्वारा शिष्यों को कंठस्थ कराये जाते थे। उनके कंठ कराने की

विधि और प्रणाली इतनी विलक्षण थी कि भिन्न-भिन्न वेदों के आचार्यों के शिष्यों तथा प्रशिष्यों की परम्परा में वेदों के मंत्र यथावत् प्रचलित रहे। मैक्सम्यूलर ने अपने लेख 'भारत हमें क्या सिखा सकता है' (India what it can teach us) में दिखलाया है कि इतने बड़े साहित्य को स्मृति के आधार पर चलाना कम कठिन नहीं था। कालांतर में भोज-पत्र या ताम्रपत्र का प्रचलन होने पर वेद लिखे गये एवं संगृहीत किये गये होंगे। सबसे प्राचीन ताड़ की पुस्तक ई० सन् की दूसरी शताब्दी की उपलब्ध है। भोजपत्र का सबसे प्राचीन ग्रन्थ जो अब तक मिला है वह ईस्वी सन् की तीसरी शताब्दी का है, वह ग्रन्थ पाली भाषा का 'धम्मपद' है। कागज पर लिखी गयी सबसे प्राचीन पुस्तक ई० सन् की १३वीं शताब्दी की बतलायी जाती है, पर पंडितों का ख्याल है कि मध्य एशिया में गड़ी हुई संस्कृत की अनेक पुस्तकें जो कागज पर लिखी प्राप्त हुई हैं उनका काल ई० सन् की चौथी शताब्दी होना चाहिए।

इसी प्रकार श्रुति-परम्परा से चलते-चलते किसी काल में वेद भी लिखे गये। पहले सम्भव है ताड़ या भोजपत्रों पर लिखे गये हों, फिर कागज पर। आज जो वेदों के भाष्य मिलते हैं वे तो अपेक्षाकृत आधुनिक हैं। वेदों पर सायण और मध्व (मध्ययुग के दो महान् पंडित) के भाष्य १४वीं सदी में लिखे गये थे। बंगाल में प्राप्त उद्गीथ भाष्य १०वीं सदी की रचना है। प्रायः इन्हीं भाष्यों के आधार पर छपे हुए वेद आज प्रचलित हैं। सायण के ही भाष्य के आधार पर मैक्सम्यूलर ने सर्वप्रथम ऋग्वेद के पाठ सन् १८५०–७२ ई० में छपवाये; फिर अन्य पाश्चात्य विद्वानों ने अन्य वेदों के पाठ छपवाये। उन्हीं के आधार पर, एवं कुछ और विशेष अनुसन्धानों के साथ २०वीं शताब्दी में वेदों के पाठ छपे। महर्षि दयानन्द का वेद-भाष्य भी प्रसिद्ध है।

२. ब्राह्मण

वैदिक साहित्य का दूसरा भाग है—ब्राह्मण-ग्रन्थ। ब्राह्मण-ग्रन्थ गद्य में लिखे गये हैं और इनमें कर्मकांड की प्रधानता है। वेदों (संहिताओं) में वर्णित यज्ञों के लिए कब और कैसे अग्नि प्रज्वलित करनी

चाहिये, कुश किधर और क्यों रखना चाहिये आदि यज्ञ सम्बन्धी अनेक छोटी-मोटी बातों का इनमें सूक्ष्म विवेचन किया गया है। तथा जगह-जगह ऐतिहासिक और परम्परा-प्राप्त कहानियाँ हैं जो बाद में चलकर पुराण और इतिहास का रूप धारण करती हैं। असल में ब्राह्मण-साहित्य के बहुत से ग्रन्थ लुप्त हो गये हैं, और यह जानने का कोई उपाय नहीं रह गया है कि उनमें क्या था। ब्राह्मणों ने जिस दृष्टि से संहिता को देखा है, वह यद्यपि कर्मकांड-प्रधान है, फिर भी उसमें व्याकरण, आयुर्वेद, दर्शन आदि का परिचय स्पष्ट विद्यमान है।

३. आरण्यक-उपनिषद्

ब्राह्मणों के अन्त में आरण्यक और उपनिषद हैं। इनमें आध्यात्मिक बातों का बड़ा गम्भीर विवेचन किया गया है। ये 'वेदान्त' भी कहलाते हैं, क्योंकि ये वेदों के ही अन्तिम भाग हैं। भारतवर्ष के सभी दार्शनिक सम्प्रदाय इन उपनिषदों में ही अपना आदि-अस्तित्व स्वीकार करते हैं।

उपर्युक्त वैदिक साहित्य की रचना के बाद (जिसे हम आर्यों का आधारभूत साहित्य कह सकते हैं) और अनेक प्रकार के साहित्य की रचना हुई, जिसका उल्लेख आर्य जाति की संस्कृति और सभ्यता की आज तक अबाध गति से चली आती हुई धारा को समझाने के लिए आवश्यक है। इस साहित्य के आरम्भिक रचनाकाल के विषय में कुछ निश्चयपूर्वक नहीं कहा जा सकता। सम्भव है कि ईसा के अनेक शताब्दियों पूर्व से ईसा के पश्चात् कुछ शताब्दियों तक इसकी रचना होती रही हो।

वेदांग-साहित्य

वैदिक साहित्य (वेद, ब्राह्मण, आरण्यक-उपनिषद्) काफी विस्तार पा चुका था। उसकी वैज्ञानिक छानबीन भी आरम्भ हो गई थी। वेदांग-साहित्य में इसी छानबीन के प्रयत्नों का संग्रह है, यथा शिक्षा-ग्रन्थ—जो वेदमंत्रों के उच्चारण की विधियों का निर्देश करते थे; सूत्र-ग्रन्थ—जो वैदिक यज्ञों का विधान, नित्य नैमित्तिक कर्म इत्यादि बातों का निर्देश करते थे; व्याकरण, निरुक्त और कोष के ग्रन्थ—जिनमें वैदिक शब्दों की निरुक्ति, व्युत्पत्ति और अर्थ आदि बताये गये हैं, एवं छंदःशास्त्र और ज्योतिष के ग्रन्थ—जो

वैदिक छन्दों और वैदिक विधियों के समय का निर्देश करते थे। संसार की किसी भी जाति ने इतने प्राचीन काल में ऐसे साहित्य की रचना नहीं की।

पुराण-इतिहास

पुराणों से मतलब उन ग्रन्थों का है जिनमें प्राचीन आख्यायिकाएँ संगृहीत हुईं। विद्वानों का अनुमान है कि इन पुराणों में वैदिक काल से पूर्ववर्ती काल का इतिहास भी कहीं-कहीं पाया जाता है। पुराणों की वंशावलियाँ और उनकी कथाएँ निश्चय ही बहुत पुरानी हैं। पुराणों के कर्ता व्यास जी ही माने जाते हैं। महाभारत बनने के पहले पुराण-जाति के अनेकों ग्रन्थ विद्यमान थे। वेद तथा उपनिषदों के अनेक गूढ रहस्य एवं विचार और भावनाओं का उद्घाटन भी पुराण-ग्रन्थों द्वारा होता है। पुराण में परम्परा के अनुसार पाँच बातें होती हैं—इन्हें पंच लक्षण कहा गया है। वे बाते हैं—सर्ग (सृष्टि-कथा), प्रतिसर्ग (सृष्टि का विस्तार, लय तथा पुनः सृष्टि), वंश (सृष्टि की आदि वंशावलि), मन्वन्तर (मनु का समय) और वंशानुचरित (राजवंशों का वर्णन)। ये पाँचों लक्षण सभी पुराणों में नहीं मिलते। पुराणों की संख्या अठारह है और उप-पुराणों की बीस। पुराण-साहित्य बड़ा विशाल है। भारतीय इतिहास के पुनर्निर्माण में इस साहित्य का बड़ा महत्त्व है।

रामायण

विश्वास किया जाता है कि वैदिक साहित्य के बाद मानव-कवि का लिखा हुआ यह पहला महाकाव्य है। इसी लिए इसके रचयिता वाल्मीकि को आदिकवि और रामायण को आदिकाव्य मानते हैं। विद्वानों की परीक्षा से भी यह सिद्ध हुआ है कि रामायण सचमुच काव्य-जाति के ग्रन्थों में सबसे पहला है। यह काव्य अखिल संसार के महाकाव्यों की तुलना में अद्वितीय है। ग्रीक महाकवि होमर के "इलियड" और "ओडेसी", इटली के महाकवि दान्ते का "डिवाइना कोमेडिया" श्रेष्ठ महा-काव्य हैं, किन्तु उनमें रामायण के भावों जैसी सूक्ष्मता (Subtelty)

एवं माधुर्य नहीं है। विद्वानों द्वारा ऐसा भी मालूम किया गया है कि ६०० ई० सन् के आस-पास कम्बोडिया (हिंदचीन का एक प्रान्त) में रामायण का धार्मिक ग्रंथ के रूप में प्रचार था।

महाभारत

महाभारत अपने आप में एक सम्पूर्ण समग्र साहित्य है। यह लोक-प्रवाद बहुत अंश तक सही है कि जो विषय महाभारत में नहीं है वह भारत में कहीं भी नहीं है। पंडितों ने महाभारत का अर्थ किया है—भरत-वंश वालों की युद्ध-कथा। ऋग्वेद में इन भरतवंश वालों का उल्लेख है। ब्राह्मण ग्रंथों में भरत को दुष्यन्त और शकुन्तला का पुत्र बतलाया गया है। इन्हीं भरत के वंश में कुरु हुए जिनकी सन्तानों में आपसी झगड़े के कारण कभी घोर युद्ध हुआ था। महाभारत में इसी युद्ध का वर्णन है। किन्तु महाभारत केवल इस युद्ध की ही कहानी नहीं है। असल में महाभारत उस युग की ऐतिहासिक, नैतिक, पौराणिक, उपदेशमूलक और तत्त्ववाद-सम्बन्धी कथाओं का एक विशाल विश्व-कोष है। भारतीय दृष्टि से महाभारत पाँचवा वेद है, इतिहास है, स्मृति है, शास्त्र है और साथ ही काव्य है। लम्बे काल तक यह ग्रन्थ बनता और संगृहीत होता रहा। समूचे महाभारत की रचना का एक काल नहीं है। आज का महाभारत एक लाख श्लोकों का संग्रह ग्रन्थ है। इसी महाभारत के अन्तर्गत है—विश्व-प्रसिद्ध भगवद्गीता, जिसमें समाहित है हिन्दू दर्शन का यह निचोड़ कि मानव ज्ञानोत्पन्न अनासक्त भाव से स्वधर्मानुकूल (अर्थात् अन्तःस्थित स्वभाव के अनुकूल) कर्म करते हुए, सब कुछ अपने भगवान् को समर्पित कर दे। ज्ञान, कर्म और भक्ति (Knowing, Willing and Feeling) का यह अपूर्व सामंजस्य है—ऐसा सामंजस्य जिसके बिना जीवन एकांगी रह जाता है।

दर्शन

दर्शन छः हैं। यथा १. गौतम का न्यायदर्शन, २. कणाद का वैशेषिक दर्शन, ३. कपिल का सांख्यदर्शन, ४. पतञ्जलि का योगदर्शन, ५. जैमिनि का पूर्व मीमांसादर्शन, ६. व्यास का उत्तर मीमांसादर्शन

(वेदान्त) इन सब दर्शनों के मूल में वेद और उपनिषद् हैं। ये दर्शन सूत्र-रूप में लिखे गये थे, अतएव इनको समझने के लिए भाष्यों की रचना हुई। उत्तर मीमांसा (मीमांसा का अर्थ है वेद-वाक्यों के वास्तविक अर्थ को समझाना) पर शंकराचार्य, रामानुज, माध्व और विष्णु स्वामी के भाष्य मिलते हैं, जो अपने-अपने मत के अनुसार अद्वैतवाद, विशिष्टाद्वैत-वाद और शुद्धाद्वैतवाद का प्रतिपादन करते हैं।

उक्त दर्शन-शास्त्रों का वर्गीकरण चाहे ईसा की प्रारम्भिक शताब्दी में हुआ हो किन्तु सिद्धांत और विचार-रूप से उनकी परम्परा ईसा पू० की कई शताब्दियों तक जाती है, यहाँ तक माना जा सकता है कि उन विचारों का स्रोत उपनिषदों में है।

इनका अति संक्षिप्त परिचय इस प्रकार है—

न्याय — यह कोई धार्मिक सिद्धान्त नहीं है बल्कि एक प्रकार का तर्क-सिद्धांत है। एक प्रकार से यह तर्क-पद्धति का विश्लेषण करता है और अन्त में संकेत करता है कि तर्क और स्पष्ट विचार से ही सत्य, ज्ञान और आनंद की उपलब्धि हो सकती है।

वैशेषिक — इसका आधार पदार्थ या भूत-विज्ञान है जिसकी मान्यता है कि यह प्रकृति, भौतिक अणुओं का संघटन है। भौतिक अणु आत्मतत्त्व से भिन्न हैं।

इस प्रकार वैशेषिक-दर्शन भूत-द्रव्य और आत्मा के द्वैत को स्वीकार करता है और कहता है कि मनुष्य की मुक्ति इसी बात पर आधारित है कि वह पदार्थ-सृष्टि से आत्मा का पृथक्त्व अनुभव कर ले।

सांख्य — सांख्य-दर्शन पूर्णतया द्वैतवादी है और एक अर्थ में नास्तिक भी। इसकी मान्यता है कि इस सृष्टि में कुल २५ तत्त्व हैं—मूलतया दो। प्रथम है प्रकृति, जिस में अन्तर्निहित स्वभाव द्वारा पहले बुद्धि का विकास होता है, बुद्धि से अहंकार का, अहंकार से पाँच तन्मात्राओं का। जैसे आकाश, वायु, प्रकाश, जल और पृथ्वी। इन पाँच तन्मात्राओं में से

पाँच स्थूल भौतिक तत्त्व—महाभूत विकसित होते हैं। फिर पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ एवं पाँच कर्मेन्द्रियाँ। इन समस्त २३ तत्त्वों के विकसित हो जाने के बाद मानस या मन उत्पन्न होता है। इस प्रकार प्रकृति से मन तक २४ तत्त्व हुए जिनसे यह समस्त सृष्टि बनी हुई है और जिसका संचालन उन तत्त्वों में या मूल-तत्त्व प्रकृति में निहित स्वभाव के अनुसार अपने आप होता रहता है। इन २४ तत्त्वों के परे और मूल गुणों में उनसे बिल्कुल भिन्न एक २५वाँ तत्त्व है—आत्मा या पुरुष। सृष्टि में पुरुष तत्त्व निःसंग भाव से प्रकृति की गति और उसका विकास अनन्त काल से देखता रहा है। पुरुष और प्रकृति का परस्पर कोई सम्बन्ध नहीं। न वे एक-दूसरे पर आश्रित हैं, न पुरुष का प्रकृति पर कोई प्रभाव है और न प्रकृति का पुरुष पर। इस प्रकार सांख्य एक दृष्टि से नास्तिक है क्योंकि सृष्टि में वह आत्मतत्त्व का कुछ भी कर्तृत्व या प्रभाव नहीं मानता।

योग

योग-दर्शन के तात्त्विक सिद्धान्त तो सांख्य-दर्शन से मिलते-जुलते हैं किन्तु इस दर्शन ने अपनी मान्यता में—योगरूप में ईश्वर की कल्पना कर ली। वह ईश्वर सृष्टि का कर्ता तो नहीं किन्तु अपने-आप में स्थित एक उदात्त आत्मा है—प्रकृति से सर्वथा निर्लिप्त। इस तात्त्विक बात के अतिरिक्त योगदर्शन प्रधान या उन साधनों का व्यावहारिक विज्ञान है जिनके द्वारा समाधि, परमानन्द या निर्वाण की स्थिति प्राप्त की जा सकती है। वे साधन आठ हैं—यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान और अन्त में समाधि। समाधि वह स्थिति है जिसमें पृथक् अस्तित्व की चेतना ईश्वर में अन्तर्भूत हो जाती है।

मीमांसा

मीमांसा अपने आप में कोई तत्त्वदर्शन नहीं है। इसका मुख्य उद्देश्य तो तर्क, न्याय और विवेचना से यह दिखलाना है कि वेदों में निहित ज्ञान ही सत्यज्ञान है। वेद अलौकिक आनन्द और अपने आप में ही सम्पूर्ण और अधिकृत ज्ञान के प्रकाशक हैं। मीमांसाकारों ने माना कि मुक्ति पाने के लिए वेदों के प्रति आस्तिक भाव रखना और वैदिक नियमों का पालन

तथा यज्ञ-यागादि का सविधि सम्पादन आवश्यक है।

वेदांत (उत्तर मीमांसा या ब्रह्मसूत्र)

षड्-दर्शनों में वेदांत सबसे महत्त्वपूर्ण दर्शन है। इसमें मानो उपनिषदों के समस्त तात्त्विक विचारों और रहस्यात्मक अथवा आध्यात्मिक अनुभूतियों को एक सुस्थिर रूप मिल गया है, मानो इसमें समस्त वैदिक चिंतनाधारा का सार-तत्त्व संगठित हो गया है; इसमें मानो शेष पाँच दर्शनशास्त्रों की भी समाहिति हो गयी है। वेदांत-दर्शन आध्यात्मिक अद्वैत को मानता है। इस समस्त सृष्टि के मूल में केवल एक तत्त्व है—चेतन तत्त्व, आत्मा। यह दृश्य सृष्टि-प्रकृति, जीव, मन, बुद्धि—यह समस्त गति और हलचल उसी मूल चेतन तत्त्व की अभिव्यक्ति है। मनुष्य उस मूल चेतन तत्त्व के साथ एकात्मता—ऐक्य की अनुभूति कर ले यही चरम सत्य है, यही निर्वाण है, यही परम आनन्द है। षट् दर्शनों में केवल वेदांत ही मुख्यतया इस समय गतिशील है और इसका प्रभाव विश्व के चिंतक और दार्शनिक अनुभव करते हैं। इसी परम्परा में आधुनिक काल में स्वामी विवेकानन्द, महर्षि रमण और योगिराज अरविंद हुए। वेदांत ही का प्रभाव विश्व के पूर्व और पश्चिम दो छोरों को परस्पर मिला रहा है।

हिन्दू-धर्म

उपर्युक्त वैदिक साहित्य (वेद, ब्राह्मण, आरण्यक, उपनिषद्) तथा उत्तर के वैदिक साहित्य (वेद, वेदाङ्ग, पुराण-इतिहास, दर्शन इत्यादि) ही हिन्दू-धर्म, हिन्दू-मान्यता, हिन्दू-दर्शन, हिन्दू-ज्ञान-विज्ञान के आधार हैं। आधुनिक हिन्दू-धर्म प्राचीन वैदिक-धर्म का ही नामान्तर है। इस धर्म के प्रवर्तक, ईसाई या मुसलमान या बुद्ध-धर्मों के समान कोई एक नबी या प्रोफेट या गुरु नहीं हुए; न इसका प्रवर्तन किसी एक विशेष काल में हुआ। यह धर्म तो प्राचीन ऋग्वैदिक काल से आधुनिक काल तक एक अजस्र धारा की तरह बहता हुआ चला आया है, और चला जा रहा है। आज के भारतीयों में उसी प्राचीन ऋग्वैदिक संस्कृति एवं सभ्यता

के, उसी प्राचीन धार्मिक एवं दार्शनिक मान्यताओं के संस्कार हैं। इतिहास के इस दीर्घकालीन समय में, इस हजारों वर्षों के समय में, वे संस्कार कभी अवरुद्ध नहीं हुए, भारतीय संस्कारों से मूलतः कभी भी दूर जाकर नहीं पड़े। हजारों वर्षों के इस काल में अन्य सभ्यताओं, जातियों एवं धर्मों से इस भारतीय (वैदिक हिन्दू) धर्म और सभ्यता का सम्पर्क हुआ—परस्पर लेन-देन, मेलजोल हुआ; बहुत-सी नयी चीजें मूलरूप में या रूपांतरित होकर इसमें समा गयीं, किन्तु उस आदि मूल-धारा का प्रवाह रुका नहीं, मूल-धारा के प्रवाह की दिशा भी आधारभूत रूप में बदली नहीं। इसीलिए कहते हैं कि प्राचीन काल में संसार में अनेक महान् सभ्यताओं का जैसे मिश्र और बेबीलोन की सभ्यता, ग्रीस एवं रोम की सभ्यता का उदय हुआ, उत्थान हुआ, किन्तु काल के गहन गर्त में उनका रूप विलीन हो गया; इसके विपरीत भारतीय संस्कृति एवं सभ्यता की धारा टूटकर कभी विलीन नहीं हुई, यद्यपि उसमें नये रूप-रंग आये। आज भी इस भूमि की संस्कृति और सभ्यता के वातावरण में उद्भवित हुए हैं—मानव मात्र की कल्याण-भावना को अन्तस् में लिये हुए शीलवान् पुरुष गाँधी, महाकवि रवीन्द्र और योगिराज अरविंद।

आखिर क्या इस संस्कृति में है ?

भारतीय आर्य-संस्कृति की आत्मा

हम भारतीय आर्य-संस्कृति की आत्मा को समझने का प्रयत्न करेंगे। डा० राधाकृष्णन् ने अपने 'इंडियन फिलोसफ़ी' नामक ग्रंथ में कहा है कि हिन्दू-धर्म-सिद्धान्तों का स्थिर संग्रह नहीं है, वह सतत विकासशील प्रक्रिया है। अपने 'हिन्दू व्यू आफ लाइफ' में इसी भावना को व्यक्त करते हुए उन्होंने कहा है, "विश्वास अथवा व्यवहार में एक रस, स्थिर, अपरिवर्तनीय, हिन्दू-धर्म जैसी कोई वस्तु नहीं रही है। हिन्दूधर्म प्रगति है, स्थिति नहीं; प्रक्रिया है, परिणाम नहीं; प्रवर्धमान परमात्मा है, निश्चित (सीमित) ईश्वरीय ज्ञान नहीं।"

वास्तव में इस धर्म अथवा संस्कृति के तत्त्व एक-देशीय, एक-जातीय अथवा एक-कालिक नहीं हैं। ये तत्त्व सार्वभौम हैं। यदि मानव

मानव है तो ये तत्त्व बने रहेंगे। 'आर्य' नाम विलीन हो सकता है, 'भारतीय' नाम विलीन हो सकता है, किन्तु मानव जब तक एक प्राण और चेतनाधारी जीव है, तब तक ये तत्त्व विलीन नहीं हो सकते—बने रहेंगे। ये तत्त्व सत्य पर आधारित हैं; यदि सत्य विज्ञान का पर्याय है तो हम कह सकते हैं कि ये तत्त्व-विज्ञान पर आधारित हैं—भौतिक विज्ञान, मनोविज्ञान एवं आत्मविज्ञान। ये तत्त्व किन्हीं अर्द्ध-विकसित असभ्य स्थिति की कल्पनाओं या किन्हीं पुरातन अंधविश्वासों में निहित नहीं हैं। यह धारणा कि आर्य लोग तो अनेक स्थूल देवताओं की पूजा करते थे, गलत है। इस सम्बन्ध में डा० राधाकुमुद का मत उल्लेखनीय है। वे अपनी पुस्तक 'हिन्दू संस्कृति' में लिखते हैं : आर्यों के "कर्मकांड-प्रधान धर्म का पर्यवसान उस गहन दर्शन के रूप में हुआ जिसकी अभिव्यक्ति ऋग्वेद के दसवें तथा अन्य मण्डलों के सूक्तों में पायी जाती है। वहाँ बहुदेववाद को खुले तौर पर और साहस के साथ चुनौती दी गयी और विश्व की मूलभूत एकता का प्रतिपादन करते हुए उसे एक अद्वितीय ब्रह्म की रचना कहा गया है जिसके विश्वकर्मा, हिरण्यगर्भ, प्रजापति अथवा अदिति (सर्वोपरि अग्रिम मातृशक्ति) इत्यादि अनेक नाम दिये गये हैं। सृष्टि को विराट् पुरुष (सर्वोपरि आत्मतत्त्व) के आत्मयज्ञ का परिणाम बतलाया गया है; अथवा सत् तत्त्व के अग्नि या जलीय रूप में विकसित होने पर सृष्टि रचना मानी गयी है। एक ऋग्वैदिक मंत्र १।१६४ में बड़ी स्पष्टता से उस एक तत्त्व (एक सत्) का उल्लेख है जिसे ज्ञानी लोग अनेक भाँति से पुकारते हैं (विप्रा बहुधा वदन्ति) जैसे अग्नि, यम अथवा मातरिश्वा के विभिन्न नामों से।"

आर्य ऋषि, प्रकृति के रूप में ईश्वरीय शक्ति का जो आभास मिलता था, उसी के साथ आत्मसात् होते थे। 'वरुण' देवता की प्रार्थना करते हुए उन्होंने गाया था—वे तारे जो रात में दिखायी देते हैं, दिन में कहाँ छिप जाते हैं? वरुण की रीति अविनाशी है; चन्द्र रात भर चमकता रहता है। वे समस्त प्राकृतिक नियम (Natural laws) जिनसे सृष्टि में व्यवस्था (Order) स्थित है, जिन नियमों का देवता

भी उल्लंघन नहीं कर सकते यही वरुण देवता की 'ऋतु' (व्रत—Cosmic order) है जिसकी वरुण रक्षा करता है। उन लोगों की जीवन सम्बन्धी धारणा इन प्राकृतिक नियमों के विरुद्ध, इन वैज्ञानिक सत्यों के विरुद्ध नहीं हो सकती थी। उनके जीवन में, उनके चिंतन में ऐसी कोई भी धारणा, ऐसा कोई भी विश्वास नहीं ठहर सकता था जो सत्य न हो, जो वैज्ञानिक न हो। उन लोगों की ज्ञान एवं विज्ञान की व्याख्या से ही यह बात हमको मालूम हो जाती है। गीता में, जिसे वेदों और उपनिषदों का सार मानते हैं, यह व्याख्या इस प्रकार की गयी है—"विश्व सृष्टि के व्यक्त पदार्थ में जो अद्वितीय अव्यक्त मूलद्रव्य है, वह जिससे जाना जा सकता है वह है ज्ञान; तथा उस अद्वितीय मूलभूत अव्यक्त द्रव्य से भिन्न-भिन्न एवं अनेक पदार्थों की उत्पत्ति कैसे हुई यह जिसके द्वारा जाना जा सकता है वह है विज्ञान।" विज्ञान (Science) की इससे अधिक उपयुक्त परिभाषा मिलना कठिन है; आज के सब विज्ञान (भौतिक-शास्त्र, रसायनशास्त्र, प्राणिशास्त्र, वनस्पति-शास्त्र, ज्योतिष इत्यादि) केवल इसी बात के जानने के प्रयासमात्र ही तो हैं कि एक अव्यक्त द्रव्य से किस प्रकार यह सृष्टि और इस सृष्टि के भिन्न-भिन्न पदार्थों की उत्पत्ति हुई। ऐसा प्रतीत होता है कि प्रकृति के निगूढ़ रहस्यों एवं नियमों का जिनका उद्‌घाटन विज्ञान आज शनैः-शनैः कर रहा है, वे अनेक रहस्य अन्तर्दृष्टि (Intuition) द्वारा, शुद्ध निर्मल बुद्धि द्वारा एवं प्रकृति के साथ मधुर आत्मसात् होने के फलस्वरूप, वैदिक ऋषियों के मानस-पटल पर कभी-कभी सहसा अपने आप आकर अंकित हो जाते थे—जो मंत्रों द्वारा अभिव्यक्त होते थे। माना, इस नानाविध प्रकृति की सभी छोटी-मोटी बातों के अध्ययन की ओर वे प्रवृत्त नहीं हुए, किन्तु जिन-जिन भी आधारभूत तथ्यों को उन्होंने आत्मसात् किया, वे थे प्रकृति के सत्य। इसका यह अर्थ भी नहीं समझ लेना चाहिये कि उन्होंने प्रकृति के सब ही आधारभूत तथ्यों को आत्मसात् कर लिया था। इस प्रकृति की, इस विराट् की विशाल अनेक-रूपता—इसके रहस्यों की—अनंतता को देखकर तो वे आश्चर्यविभोर

थे—इस विराट् के रहस्यों का उद्घाटन करते-करते, इसकी व्याख्या करते-करते अंत में वे यही कहते थे—'यह भी नहीं, यह भी नहीं'—नेति-नेति। आज के वैज्ञानिक भी प्रकृति पर प्रबल विजय प्राप्त करते हुए उसके गूढ से गूढतर रहस्यों में प्रवेश करते हैं। यथावस्तु की स्थिति वे उसके सूक्ष्मतम भाग परमाणु से भी सूक्ष्मतर भाग इलेक्ट्रोन (विद्युदणु) के रूप में पाते हैं, और पाते हैं उन विद्युदणुओं को अप्रतिहत गति से अपने नाभिकण (Nucleus) के चारों ओर घूर्णित होते। फिर महान् वैज्ञानिक आइनस्टाइन की आँखों से वे इस सृष्टि को देखते हैं और एक विरोधाभास (Paradox) सा प्रस्तुत करते हैं :—यह सृष्टि "सान्त है किन्तु असीम" (A Finite but unbounded universe)। जब वे ऐसा विरोधाभास कहते हैं, जब वे इलेक्ट्रोन-प्रोटोन (विद्युदणु प्राणु) की, अलौकिक दुनिया में प्रवेश करते हैं, तब वे भी मानो प्राचीन आर्य-दृष्टाओं की तरह अवश्य अनुभव करने लगते हैं—"यह भी नहीं, यह भी नहीं।" मालूम होता है आज के कई वैज्ञानिक तथ्य कई वेद-मंत्रों की व्याख्या मात्र हैं। फिर आज के वैज्ञानिक पहिचानने लगे हैं कि प्रकृति में ज्यों-ज्यों वे विशाल से सूक्ष्म, और सूक्ष्म से सूक्ष्मतर तत्त्व की ओर बढ़ते हैं त्यों-त्यों वे उसे अधिक शक्तिशाली पाते हैं। कोयले में शक्ति है किन्तु उससे कई लाख गुणी शक्ति है उस कोयले के परमाणु में। 'परमाणु शक्ति' आज एक कितनी विलक्षण वस्तु उद्घाटित हुई है। एक परमाणु में एक सौर मंडल समाया हुआ है, मानो एक पिंड में ब्रह्मांड का अस्तित्व हो। परमाणु-शक्ति में विशाल तेज (अग्नि) है, विशाल प्रकाश है, विशाल गति है—किन्तु परमाणु से भी सूक्ष्मतर एक वस्तु है—जिसका दर्शन ऋषियों ने किया था। वह वस्तु है आत्मा, आत्मा से सूक्ष्मतर वस्तु कौन है? अतएव आत्मा से अधिक शक्तिशाली, अधिक विशाल, अधिक प्रकाशमान और गतिमान् और कौनसी दूसरी वस्तु संभव है? ऋषि ने सिद्ध किया था कि 'भूमा' बाहर के आयतन में नहीं है, परिमाण में भी नहीं है, कहीं है तो वह अन्तर की परिपूर्णता में है—(रवीन्द्र) इसका दर्शन ऋषियों ने

प्रकृति को पैरों नीचे रोंधते हुए नहीं किया—इसका दर्शन किया था, प्रकृति के साथ विनीत तादात्म्य स्थापित करके। प्रकृति के बाह्य रूप से वे प्रकृति की 'आत्मा' तक पहुँचे, और फिर उस आत्मा की आत्मा तक—उस एक लोकातीत महान् सत्ता तक।

प्रातःकाल ऋषि ने जब 'उषा' की सौन्दर्यमयी आभा के दर्शन किये, उसने उस आभा को रंजित देखा अपने अन्तस् (आत्मा) में; फिर जब उसने जाज्वल्यमान 'सूर्य' के दर्शन किये उसके भी अनन्त तेज को देदीप्यमान पाया अपनी आत्मा में; फिर जब उसने देखा आकाश को आच्छादित करते हुए और भयङ्कर रूप से गर्जना करते हुए 'इन्द्र' को, उसकी शक्ति को भी समाया हुआ पाया उसने अपनी आत्मा में; फिर जब उसने देखा 'अदिति' (अनन्त अन्तरिक्ष) को, उसकी अनन्तता को भी परिव्याप्त पाया उसने अपनी आत्मा में। उषा में दर्शन किए उसने आत्मा की सुषमा के, सूर्य में आत्मा के प्रकाश और तेज के, इन्द्र में आत्मा की शक्ति के, अदिति में आत्मा की अनन्तता के, उस 'आत्मा' की, एकात्मा की उसने अनुभूति की 'उससे' जो एक सर्वस्व है, एक महान् है, जो सब में व्याप्त है, जिसमें सब व्याप्त हैं। इस अनुभूति के क्षण में अनन्त अदितियाँ उसमें परिव्याप्त थीं, अनन्त सूर्य प्रकाशमान थे, अनन्त इन्द्र उसके पैर चूम रहे थे, और अनन्त दिशाओं में प्रस्तुत थी अनन्त उषाएँ सौम्य सुषमा का थाल सँजोये हुए। वह मुक्त था, निर्भीक मुक्त कंठ से वह गा उठा—

उज्ज्वल सोम पिया है हमने,
और हम हो गये हैं अमर।
प्रकाश में प्रवेश पा चुके हम हैं,
और सब देवों को जान लिया है।
कौन कर सकता है हानि हमारी
कौन करे वैरी आतंकित ?
अब हम हे अमर देव, हैं तुम से,

अनुप्राणित हो उत्थित होते।
निर्भय हो, हे देव, अमर हो।
(अथर्ववेद ८.४८.३)

उसने चाहा मानव की इस अन्तश्चेतना को जो डरी हुई रहती है, जो प्रताड़ित रहती है और दुःखित रहती है—इस निर्भीकता की, मुक्ति की अनुभूति हो। इस निर्भीक मुक्ति की अनुभूति वैदिक ऋषि ने की थी, और तब मानो सृष्टि आनंद-विभोर हो उठी थी। मानव, तू अपनी चेतना को बन्धन-मुक्त कर सकता है, तेरे अन्तस् में अबाध आनन्द का स्रोत प्रवाहित है। ऋषि की ज्ञानानुभूति के प्रकाश से उद्भूत यही एक स्वर्णिम रेखा है जो मानव-मानस के भारी, धुंधले अन्तरिक्ष में झलकती रहती है। यह परलोक की बात नहीं है—यह किसी कल्पित भविष्य-जीवन की बात नहीं है, यह इसी जीवन की, इसी लोक की बात है। यह मनोवैज्ञानिक सत्य है। जिस प्रकार यह एक वैज्ञानिक सत्य है कि सूक्ष्मतम परमाणु में विशाल शक्ति छिपी हुई है उसी प्रकार यह एक मनोवैज्ञानिक सत्य है कि इस 'मानव-चेतना' में अनन्त मधुरिमामय आनन्द है। चारों ओर निर्बलता की छाया होते हुए भी इस शरीर रूपी मंदिर की ढहती हुई स्थिति होते हुए भी, चारों ओर विनाश और चीत्कार के होते हुए भी, अन्तस् में वह आनन्द का दीपक मधुर-मधुर प्रकाशित होता रहता है। 'वह प्रकाश, वह मधुरिमा, वह संगीत' प्राप्य है, उसका साक्षात्कार हो सकता है, केवल 'चेतना' को अधिक विस्तृत और गहन चेतनता (Higher Consciousness) की ओर जाग्रत और उन्मुख होने की आवश्यकता है। निर्जीव वस्तु में चेतना लुप्त है, या सर्वथा सुषुप्त है—जानवर में यह चेतना केवल इन्द्रियगोचर ज्ञान के स्तर तक जाग्रत है, मानव में (यदि मानव जानवर के स्तर पर ही जीवन व्यतीत नहीं कर रहा है तो) यह चेतना अधिक गहन एवं विस्तृत स्तर पर जाग्रत है—उस चेतना को उस 'परम चेतन सत् आनन्द' तक पहुँचने के लिए गहनतर एवं उच्चतर स्तरों में आरोहण-अवरोहण करना पड़ता है। वैदिक ऋषि की चेतना

सरल, शुद्ध, और निर्मल थी, उस चेतना के उत्थान और विकास का आलम्बन था यह समस्त उद्भूत अनन्त विश्व। इस विश्व का अन्तरिक्ष (वरुण) इसका प्रकाशमान तेजोमय 'सूर्य', जाज्वल्यमान 'अग्नि' एवं ललित उषा—इन सब में व्याप्त और इन सबके परे उसकी चेतना को ज्ञान हुआ उस परमतत्त्व का 'जो समस्त सृष्टि पर राज्य करता है, जिसमें समस्त प्राणी स्थित हैं, जो जीवन है उस सबका जो स्थिर और जंगम हैं।" इस ज्ञान की अनुभूति से उसकी चेतना उदात्त (Sublime) बनी। उदात्तता (Sublimity) से उत्पन्न हुई उसके हृदय में उपासना। और उपासना की तन्मयता में उसे अनुभूति हुई उस 'परमचेतन सत् आनन्द' की—ब्रह्मानन्द की। मानो वह स्वयं उसकी चेतना थी, स्वयं वह 'सच्चिदानन्द' था।

इस अमर आनन्द, अनन्त प्रकाश के लोक में पहुँचने के लिए वे सोम देवता से प्रार्थना करते थे।...."जहां अनन्त प्रकाश है, उस लोक में जहां सूर्य स्थित है, उस अमर अमृत लोक में मुझे पहुँचाओ, ओ सोम !" (ऋग्वेद ९.११३)। "जहां आनन्द और सुख है, जहां हमारी इच्छाएँ पूर्ण होती हैं वहां मुझे अमर बनाओ, ओ सोम !" यह सोम देवता कौन था ? यह दिव्य ज्ञान का प्रतीक मधुरस का प्याला था जिसे पीकर वे मस्ती में झूमते थे। कौन दिव्य ज्ञान का रस पीकर मस्ती (Ecstasy) में नहीं झूमने लग जाता ?

यह तो एक बात हुई। दूसरी एक और बात है, वह यह कि सृष्टि को समग्र दृष्टि से आर्यों ने देखा है। उससे डर कर वे विरत कभी नहीं हुए। उनके लिए केवल आत्मतत्त्व, केवल अव्यक्त ब्रह्म सत्य नहीं। उन के लिए मृदुल सर्जन एवं हाहाकार मचाता हुआ संहार, नवनीत-बालक एवं रुंडमुण्ड—माला, रंगमयी उषा एवं महाकाल रात्रि, कमल एवं खड्ग—सब बराबर सत्य थे। यह अखिल सृष्टि, दृश्य-अदृश्य, व्यक्त-अव्यक्त इसके सत्य-असत्य, इसका सर्जन और संहार, इसकी शांति-अशांति, इसका आनन्द-विषाद—सबके सब उस चरमतत्त्व, उस ब्रह्म में स्थित हैं। यह ब्रह्म, यह ईश्वर केवल कृपालु प्रेममय नहीं, केवल शिव नहीं, यह

महारुद्र भी है। सृष्टि के इस आदि सत्य की आर्य ऋषि ने निर्भीक होकर घोषणा की थी—"सृष्टि को सीधा देखना मानो ईश्वर को साक्षात् देखना है···ईश्वर एवं सृष्टि (ब्रह्म एवं सृष्टि) पृथक् नहीं।" इस सृष्टि का नियम संहार एवं सर्जन दोनों हैं, मानो अनादिकाल से वेद यह कहता चला आ रहा हो—"संहार के द्वारा सर्जन एवं पालन—सृष्टि का यही प्रथम नियम मैंने बनाया है।" सृष्टि शिव के तांडव नृत्य एवं मग्न समाधि दोनों में स्थित है। मानव शिव के तांडव नृत्य को आत्मसात् करता हुआ मग्न समाधि में भी स्थिर रह सकता है। इस सृष्टि के कर्म में धुआंधार प्रवृत्त रहता हुआ भी वह आनन्दमय लोक में विचरण कर सकता है। ईशोपनिषद् में कहा है : "जो सर्जन और संहार दोनों को साथ-साथ देखता है, वह मृत्यु पर संहार के द्वारा विजय प्राप्त कर लेता है, एवं सर्जन द्वारा अमरत्व का उपभोग करता है।" यही विचार अभिव्यक्त हुआ है रवीन्द्र में :

ओगो नटी ! चंचल अप्सरी
तव नृत्य मंदाकिनी
नित्य झरि झरि
तुलितेछे शुचि करि
मृत्युस्नाने विश्वेर जीवन।"

अर्थात्

प्रखर प्राणमयी चिर चेतने !
मरण सागर में नित स्नान कर
जगत जो नवजीवन पा रहा
झरत झृं तव झृं पदताल में।

इसी की कल्पना हिन्दू कलाकारों ने "नटराज की प्रतिमा"—शिव के तांडव नृत्य में की है। शिव के तांडव नृत्य में मानो यह शक्ति मूर्तिमती हो उठी हो। इस शक्ति का आभास आज का वैज्ञानिक प्रकृति के प्रत्येक व्यापार (Phenomenon) के पीछे देख रहा है। महा अंधकार में अचेतन निष्प्राण प्रकृति सो रही थी, शिव जागे, पद-ताल दी और

उनकी पदताल लगते ही सुषुप्त निष्प्राण द्रव्य पदार्थ प्राणों से सचेतन हो उठा, मौन 'द्रव्य पदार्थ' स्वर से गुंजरित हो उठा। शिव के नृत्य के साथ ही साथ प्रकृति भी शिव के चारों ओर नाचने लगी। शिव अपने तालमय नृत्य में अखिल सृष्टि की गति को समाये हुए हैं। देश-काल (Time Space) की ताल और लय में अनेक नाम-रूप पदार्थ लीन होते रहते हैं, अनेक नये नाम-रूप पदार्थ उद्भूत होते रहते हैं। शिव नृत्य की यह कल्पना कविता भी है, विज्ञान भी।

इस जग और जगती में जूझता हुआ मानव कभी यह न भूले कि जीवन सर्वोपरि है। जीवन की पुकार है—आनन्द। मानो जीवन आनन्द का समानार्थक है, प्रेम एवं मुक्ति का पर्याय है। मानो जीवन स्वयं प्रेम है, स्वयं मुक्ति है, स्वयं आनन्द है। किसी भी दशा में जीवन की इस पुकार को नहीं दबने देना, यही वास्तविक जीवन है। मानो स्वयं परमात्मा मानव-देह में स्थित होकर, मानव-देह के भोग भोगता हुआ अपनी आदि-मुक्ति एवं आनन्द की अनुभूति की खोज में आगे बढ़ रहा है। वह परमात्मा प्रकृति के आधार के बिना—मनुष्य-देह के बिना आनंद की अनुभूति भी आखिर कैसे कर सकता था। परमात्मा प्राण (Life) में अपना प्रसार करता है, आनन्द की अनुभूति करता है। या यों कहें मानो प्राण (Life) स्वयं अपना प्रसार करता है—आनन्द की अनुभूति करता है। इस प्रसार में, इस विकास की गति में, इस आनन्द में जब बाधा आती है, चेतनता जब जड़ता बनने लगती है, अंधियारा छाने लगता है, जीवन चलता-चलता रुकने लगता है, तब सहसा एक प्रकम्पन-सा उठता है, जीवन की महाकाली जाग्रत होती है, खड्ग और खप्पर का आह्वान होता है, दुष्टता का संहार होता है। महाकाली के बाद फिर से कल्याणमयी दुर्गा के दर्शन होते हैं—आनन्द, विश्व-प्रेम, मानव-कल्याण की आभा उद्दीप्त हो उठती है। यही 'आभा' आर्यत्व है। इसी आभा से जग एवं जीवन आलोकित रहे, दुष्टता इसको दबा न ले। मानस में आनन्द हिलोरित होता रहे, मंगल-दीप जगमगाता रहे।

पाँचवाँ अध्याय

धार्मिक क्रान्तियाँ

मगध राज्य एवं मौर्य और कुशान शासन-काल (लगभग ई० पू० ६०० से ईस्वी की पहली शताब्दी तक)

ईसा पूर्व छठी शताब्दी में आर्य-संस्कृति का मानो एक अध्याय समाप्त होता है। सम्पूर्ण वैदिक-साहित्य—संहिता, ब्राह्मण, आरण्यक और उपनिषदों की रचना हो चुकी होती है, आर्य-संस्कृति और भावना इस अवस्था पर आकर मानो अपने आप में एक सम्पूर्णता-सी प्राप्त कर लेती है। साधारण-तया यह कल्पना नहीं की जा सकती कि इस पूर्णता की स्थिति पर पहुँचकर अब आगे इसमें और कोई हलचल, गति, विकास और परिवर्तन पैदा हो सकता था। परि-वर्तन तो आया ही। ईसा-पूर्व की छठी शताब्दी मानो तत्कालीन समस्त सभ्य संसार के विचारों में एक क्रांति की शताब्दी थी। उधर पश्चिम की सभ्य दुनिया ग्रीस में ऐमपीडोक्लिस, पाइथागोरस एवं परमीनाईडीज़ विचार, चिंतन और दर्शन में अपनी ही नयी मान्यताएँ स्थापित कर रहे थे; उधर पूर्व की दुनिया चीन में लाओत्से और कनफ्यूशियस अपने विचारों और अनुभूतियों से नये संसार का निर्माण कर रहे थे। विचार-मान्यताओं और धर्म के क्षेत्र में इसी प्रकार की एक अद्भुत क्रांति भारत में हो रही थी—मानो भारतीय सांस्कृतिक धारा को एक नयी गति मिलने जा रही हो। उत्तर ऋग्वैदिक और उपनिषद्-काल के वानप्रस्थी और संन्यासी इधर-उधर वनों और आश्रमों में घूमते-फिरते थे, मनन और चिंतन करते रहते थे, नये विचारों की उद्भावना करते रहते थे। जहाँ परम्परागत उच्चवर्गीय समाज में वेद पूजनीय और श्रद्धा की वस्तु थे वहाँ ऐसे भी विचारक इस युग में उत्पन्न हो रहे थे जिनकी दृष्टि में वेद, वैदिक देवता, वैदिक पुरोहितों और ब्राह्मणों की कुछ भी महत्ता नहीं थी। उस युग के विचार-प्रवाह में मानो वेद-विपरीत यह एक नास्तिक धारा थी। साथ ही साथ एक दूसरी विचार और भावना की

धारा का उदय हुआ। अब तक वैदिक विचारधारा में किसी मूर्त, व्यक्तिगत मानवरूप परमात्मा की कल्पना नहीं की गयी थी—वैदिक भावना में परमात्मा-सृष्टि में व्याप्त एक चेतन या शक्ति-रूपभाव था, न कि एक मानव-रूप भगवान्। अब भगवान् के सगुण मूर्तरूप की कल्पना होने लगी और साथ ही साथ ऐसे रूप में विश्वास की प्रतिष्ठा भी। ऐसी अवस्था में यह स्वाभाविक था कि भगवान् की मूर्तियों का निर्माण हो और उनकी पूजा भी होने लगे। अब यह निर्विवाद-सी बात है कि मूर्ति-पूजा का प्रचलन हुआ आर्यों के प्राग्वैदिक निषाद और द्रविड़ लोगों के सम्पर्क से, जिनमें नाग, यक्ष एवं अन्य देवताओं की मूर्तियों की पूजा का प्रचलन था। ऐसा पता लगा है कि प्राग्वैदिक लोगों की एक मूर्ति जो मणिभद्र यक्ष की मूर्ति है, उन लोगों में 'भगवान्' के रूप में प्रतिष्ठित थी।

विचारों के इस आंदोलन में नये दार्शनिक सिद्धांत, नये धार्मिक वर्ग उत्पन्न हो रहे थे। चार प्रमुख धार्मिक वर्ग इस हलचल के उन्नायक थे—जैन, बौद्ध, वैष्णव, और शैव। इनमें से प्रथम दो वर्गों की हलचल ई० पू० आठवीं शताब्दी से ईस्वी प्रथम शताब्दी तक विशेष हुई—जिसे हम श्रमण-संस्कृति का युग कहते हैं; और अन्तिम दो वर्गों का निखरा हुआ रूप विशेष विकसित हुआ और उसकी प्रधानता रही ईस्वी सन् की पहली शताब्दी के बाद से जिसे हम पौराणिक प्रेरणा का युग कहते हैं।

श्रमण (जैन और बौद्ध) संस्कृतियों का अध्ययन करने के पहले तत्कालीन राजनैतिक इतिहास की पृष्ठभूमि जान लेना आवश्यक है। ई०पू० ७-८वीं सदी में भारत में प्रायः १६ भिन्न-भिन्न राज्य प्रसिद्ध थे जो महाजनपद कहलाते थे। ये पूर्वकालीन जनराज्यों के विस्तृत रूप थे। कुछ जन-राज्यों ने दूसरे राज्यों का प्रदेश जीतकर और कुछ ने आपस में मिलकर अपनी भूमि (राज्य) बढ़ा ली थी। प्रमुख महाजनपद निम्न थे; कोसल (अवध) जिसकी राजधानी अयोध्या थी; मगध (बिहार) जिसकी राजधानी राजगृह थी और जहाँ काशी से निकले शिशुनागवंश के राजा राज्य करते थे; वत्स जिसकी राजधानी कौशाम्बी

थी ; अवन्ती जिसकी राजधानी उज्जैन थी; एवं उत्तर-पश्चिम में गांधार जिसकी राजधानी तक्षशिला थी, जो उस समय विद्या का सबसे बड़ा केन्द्र थी, जहाँ बड़े-बड़े जगत्प्रसिद्ध आचार्य रहते थे।

इन महाजनपदों में प्राचीन राजवंशों के राजा राज्य करते थे। ईसा-पूर्व छठी शताब्दी में वत्सराज्य में जिसकी राजधानी कौशाम्बी (प्रयाग ज़िले में) थी, उदयन नामक राजा जो पांडवों का वंशज था, राज्य करता था। उसके जीवन की प्रेम और शौर्य की अनेक कथाएँ प्रचलित हैं जिनमें कुछ ऐतिहासिक भी हैं। इनमें से सबसे अधिक प्रसिद्ध कथा है उज्जयिनी की राजकुमारी वासवदत्ता की जिसका उदयन ने अपहरण किया था। संस्कृत के महाकवि भास ने अपने नाटक 'स्वप्न-वासवदत्त' में इस कहानी को अमर कर दिया है। इसके अतिरिक्त अमरावती के प्राचीन स्मारकों और उदयगिरि की गुफाओं की दीवारों पर यह घटना चित्रित है, इन चित्रों की कला अपूर्व है। कौशाम्बी की खुदाइयों में मिट्टी की बनी अद्भुत कलात्मक सौन्दर्य की मूर्तियाँ मिली हैं जिनमें उदयन और वासवदत्ता की प्रेममयी जीवन-घटनाएँ अंकित हैं। कुछ महाजनपदों में एवं कुछ छोटे-छोटे जनपदों में प्रजातन्त्रात्मक अथवा पंचायती राज्य भी कायम थे, जैसे नेपाल की तराई में शाक्य लोगों का संघ था ; कपिलवस्तु में लिच्छिवि-वंश के लोगों का संघ एवं मिथिला में विदेहों का संघ।

इन जनपदों एवं महाजनपदों में परस्पर युद्ध भी होते रहते थे और इसी प्रकार कालान्तर में किसी महाजनपद के शासक के राज्य का विस्तार अधिक होने से भारत में साम्राज्य का सूत्रपात हुआ। भारतीय इतिहास में प्रथम उल्लेखनीय साम्राज्य 'मगध' का साम्राज्य था, जो आधुनिक बिहार से प्रसारित होकर उत्तर प्रान्त, उज्जयिनी और तत्पश्चात् भारत के उत्तर पश्चिम और दक्षिण प्रान्तों तक पहुँच गया था। इसकी स्थापना ई० पू० छठी शताब्दी में मानी जाती है। मगध जब एक महाजनपद था तब ६५० ई० पू० के लगभग वहाँ शिशुनाग वंश का राज्य था। इसी वंश में बिम्बसार राजा हुआ जिसने अंग राज्य

को जीतकर मगध राज्य में मिलाया। बिम्बसार का पुत्र अजातशत्रु था जिसने काशी और कोसल राज्य मगध में मिलाये। इस प्रकार मगध का साम्राज्य बना।

इस समय भारत में वर्णों का (ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य एवं शूद्र वर्णों का) प्रचलन प्रायः बँधी हुई पृथक् जातियों के रूप में हो चुका था। धर्म-ग्रन्थों का भी पठन-पाठन प्रायः ब्राह्मणों तक ही सीमित हो चुका था। कर्मकांड अर्थात् वैदिक युग के यज्ञ और बलि ही व्यावहारिक धर्म के मुख्य अंग रह गये थे। इस कर्मकांड को भी ब्राह्मणों ने बड़ा जटिल और आडम्बरपूर्ण बना दिया था। संस्कृत भाषा, इसका साहित्य एवं इसके धर्मग्रंथ, जनसाधारण से दूर की वस्तु थी; उस समय जन-साधारण में संस्कृत के सिवाय बोलचाल की कई बोलियाँ थीं, जो प्राकृत कहलाती थीं। जनसाधारण यज्ञ, कर्मकांड की दुरूहता और जटिलता से मुक्त होना चाहता था, एवं अनजाने कुछ ऐसी आवश्यकता का अनुभव कर रहा था कि कोई सरल राह उन्हें मिल जाय। जीवन में ऐसे सरल मार्ग को दिखलाने के लिए कई महापुरुष प्रकट हुए जिनमें पार्श्वनाथ, महावीर और बुद्ध प्रमुख थे।

जैन-धर्म

प्रायः ई० पू० ६वीं शताब्दी में भारतीय धार्मिक क्षेत्र में एक परिवर्तन आया। इस परिवर्तन को जैन-धर्म का प्रसार कहते हैं। वैसे तो जैन-धर्म उतना ही प्राचीन है जितना वैदिक-धर्म। ऋग्वेद में ऋषभदेव तथा अरिष्टनेमि के नाम आये हैं जो जैन आम्नाय में पहले और बाईसवें तीर्थंकर हुए हैं। पुराण-साहित्य में ऋषभदेव को विष्णु का अवतार माना है। नेमिनाथ श्रीकृष्ण के चचेरे भाई थे। बनारस के राजा अश्वसेन के पुत्र पार्श्वनाथ २३वें तीर्थंकर थे और महावीर स्वामी से लगभग २५० वर्ष पूर्व उन्होंने तापस जीवन बिताते हुए लोगों में अहिंसा, सत्य, अचौर्य और अपरिग्रह का उपदेश दिया था और उन्हें हिंसापूर्ण याज्ञिक कर्मकांड से विरत करने का प्रयत्न किया था। भारतीय मानस मूलतः अहिंसक है, उसके जीवन में कोप, क्षोभ और असहिष्णुता के कई

अवसर आये हैं और वे शताब्दियों तक चलते रहे हैं, किन्तु अहिंसकता उनको ऐसे अवसरों पर भी प्रिय रही है, इसलिए नेमिनाथ और पार्श्वनाथ के अहिंसक विचारों का जनता में स्वागत हुआ और आने वाले २४वें तीर्थंकर महावीर स्वामी के लिए इस क्षेत्र में सफलतापूर्वक आगे बढ़ने को एक दृढ़ पृष्ठभूमि तैयार मिली।

क्षत्रियों के प्रमुख ज्ञात्रिक वंश के प्रधान सिद्धार्थ और वैशाली के लिच्छिवि राजा चेटक की बहिन त्रिशला के पुत्र वर्धमान महावीर का जन्म ५९९ ई० पू० में वैशाली के समीप कुण्डिनपुर में (बिहार के वर्तमान मुजफ्फ़रपुर जिले में) हुआ। उनका जीवन काल ५२७ ई० पू० तक रहा। ये आगे चलकर महावीर स्वामी के नाम से प्रसिद्ध हुए। जैसा ऊपर कहा जा चुका है, ये तीर्थङ्कर पार्श्वनाथ के अनुयायी थे। श्वेताम्बर मान्यता के अनुसार बड़े होने पर यशोदा नामक देवी से उनका विवाह हुआ, जिससे एक लड़की हुई। दिगम्बर मान्यता के अनुसार वे आजीवन ब्रह्मचारी रहे। तीस वर्ष की आयु में उन्होंने घर छोड़ा। १२ वर्ष के भ्रमण और तप के बाद उन्होंने 'कैवल्य' (ज्ञान) पाया तब से वे अर्हत् (पूज्य), जिन (विजेता), निर्ग्रन्थ (बन्धनहीन) और महावीर कहलाने लगे। उनके अनुयायी जैन कहलाये। कैवल्य-प्राप्ति के बाद मिथिला, कोसल आदि प्रदेशों में भ्रमण करते रहे और अपने ज्ञान का प्रचार भी। पावापुरी (राजगृह के आसपास) में उनका निर्वाण हुआ।

जैन-धर्म के मूल ग्रन्थ छठी शताब्दी के उपलब्ध हैं, इसके पहले वे लिखे कभी भी गये हों। ये प्राचीन ग्रन्थ ४५ हैं। इनकी भाषा अर्धमागधी है। जैनाचार्यों द्वारा जैन-धर्म और दर्शन-सम्बन्धी ग्रन्थ बराबर लिखे जाते रहे हैं, जिनमें से अनेक प्रामाणिक माने जाते हैं। प्रथम शताब्दी के आचार्य कुन्द-कुन्द के ४ ग्रन्थ नियम-सार, पंचास्तिकाय-सार, समय-सार और प्रवचन-सार, जैन-धर्म-साहित्य के सर्वस्व माने जाते हैं।

जैन-धर्म जाति-पांति के भेदभाव से ऊपर उठकर, मोक्ष-प्राप्ति में यज्ञादि एवं ब्राह्मण-पुरोहितों को अनावश्यक मानते हुए, जीवन में सत्य

और निःस्वार्थ आचार की प्रधानता मानकर ही चला था। किन्तु कालान्तर में क्रमबद्ध दर्शन का रूप उसने भी ग्रहण कर लिया, यद्यपि मोक्ष-प्राप्ति के लिए आचार की ही प्रधानता उसमें बनी रही।

जैन-धर्म की दार्शनिक पृष्ठभूमि इस प्रकार है—सृष्टि अनादिकाल से चल रही है, इसका नियंता कोई ईश्वर या भगवान् नहीं, यह अपने ही आदि-तत्त्वों के आधार पर स्वतः चल रही है। ये आदि-तत्त्व जिनकी यह सृष्टि बनी है, छः हैं। यथा—जीव (आत्मा—Soul), पुद्गल (भूत पदार्थ—Matter), धर्म अधर्म, आकाश और काल। इस प्रकार जैन-दर्शन आध्यात्मिक अद्वैतवादी या भौतिक अद्वैतवादी की तरह सृष्टि का मूलतत्त्व एक नहीं मानता, किन्तु अनेक। जैन-दर्शन के अनुसार सृष्टि के ६ मूलतत्त्वों का विवरण इस प्रकार है :—

जीव चेतन द्रव्य है। जीव ही वस्तुओं को जानता है, कर्म करता है, सुख-दुःख का भोक्ता है, अपने को स्वयं प्रकाशित करता है। प्रत्येक जीव (आत्मा) की अनादिकाल से ही पृथक्-पृथक् स्थिति है। ऐसा भी नहीं कि जीवों अर्थात् आत्माओं का विलीनीकरण किसी 'परम आत्मा' में हो जाता हो। जीव अनादिकाल से कर्म से संबद्ध है। ऐसा नहीं कि किसी समय यह जीव सर्वथा शुद्ध था और बाद में उसका कर्मों से बन्धन हुआ। कर्म एक प्रकार का पुद्गल (भूत पदार्थ) है—पृथ्वी, जल आदि के समान एक भौतिक पदार्थ, जो जीव के साथ बंधा रहता है। कर्म के साथ संबद्ध जीव ही बद्ध पुरुष (मनुष्य जो मुक्त नहीं है) के रूप में दीखता है। उत्तम कर्म जीवों को उत्तम जन्म प्राप्त कराता है, अधम कर्म अधम जीवन, जैसे जानवर, वनस्पति का जीवन; यहाँ तक कि अधम कर्म जीव को अजीव प्रतीत होने वाले पत्थर, धातु इत्यादि भूत पदार्थों में भी जन्म प्राप्त कराता है। वास्तव में जैन-दर्शन इस जगत् के समस्त प्रदेशों में जीवों की सत्ता स्वीकार करता है और इसलिए इसमें अहिंसा की सर्वाधिक महत्ता मानी गयी है। जीव का मूल गुण है—अनंतज्ञान (Infinite Knowledge) अनंतवीर्य (Infinite Power) अनंत दर्शन (Infinite Pre-Science Insight) एवं अनंतसुख

(Infinite Happiness)। किन्तु जीव के ये मूल शुद्ध गुण कर्मों के परदे में छिपे हुए रहते हैं, अननुभूत रहते हैं, अनादिकाल से यह ऐसा है।

मनुष्य (कर्म के साथ संबद्ध जीव) आनंद, शांति चाहता है। यह तभी संभव है जब जीवकर्म का आवरण हटाकर अपने शुद्ध गुण को प्राप्त कर ले। कर्म का क्षय होने पर, कर्म का आवरण हटने पर, जीव उस स्थिति को प्राप्त होता है जिसे मोक्ष कहते हैं। मोक्ष प्राप्त करते ही जीव में अनंत ज्ञान, दर्शन, वीर्य और सुख सद्यः उत्पन्न हो जाते हैं। ऐसा मुक्त जीव जिन (ईश्वर) कहलाता है। जो अनंत ज्ञानादि की स्थिति में जिनलोक (सिद्धलोक) में अनन्त काल तक वास करता रहता है।

अतएव जीवन का ध्येय हुआ मोक्ष-प्राप्ति, और उसका मार्ग हुआ कर्मक्षय। कर्मक्षय के उपाय तीन हैं : (१) सम्यक् दर्शन अर्थात् सच्ची श्रद्धा; (२) सम्यक् ज्ञान अर्थात् सच्चा ज्ञान; (३) सम्यक् चारित्र्य अर्थात् सच्चा आचार। इसकी प्राप्ति अहिंसा, सत्य, ब्रह्मचर्य, अस्तेय और अपरिग्रह अर्थात् सच्चा वैराग्य पालन करने से होती है। इन उपायों से मनुष्य शनैः-शनैः पूर्ण वैराग्य और तप की स्थिति को और अंत में कर्मक्षय की स्थिति को प्राप्त होता है, तब उसे मोक्ष की उपलब्धि होती है। जीव बंधन में अनादिकर्म की, और जीवन् मुक्ति में अहिंसा की महत्ता होने से जैनाचार्यों ने कर्म और अहिंसा का बहुत सूक्ष्म विवेचन किया है।

जैनाचार्यों ने कर्म फल और अहिंसा के सिद्धान्तों का इतना विश्लेषणात्मक अध्ययन कर डाला और विश्लेषण करते-करते कर्म-सिद्धान्त एवं हिंसा-अहिंसा के उन्होंने इतने भेद, बन्धन के इतने रूप एवं दशाएँ गिना डालीं, एवं उनको परिभाषाओं के इतने जटिल बन्धन में बाँध दिया कि वे सहज सरल व्यावहारिक जीवन से कुछ दूर पड़ गये। जैन-धर्म में भी अन्य धर्मों की तरह कई सम्प्रदाय चल पड़े। दिगम्बर और श्वेताम्बर, ये दो सम्प्रदाय तो बहुत पहले से ही हो गये थे। इन दोनों सम्प्रदायों में तात्त्विक मतभेद कोई नहीं है—केवल इसी एक बात पर कि कुछ लोग तो अपरिग्रह का पूर्ण आदर्श मानकर जैन-मुनियों के लिए दिगम्बर (नग्न) रहना आव-

श्यक समझते थे, और कुछ लोग इन आचार-विषयक बातों में ढील देने को तैयार थे एवं जैन-मुनियों के लिए सफेद वस्त्र (श्वेताम्बर) धारण करना आवश्यक समझते थे। जिन मन्दिरों, देवों और पुरोहितों के आडम्बर से ऊपर उठकर जैन-धर्म के प्रवर्तक चले थे, उन प्रवर्तक तीर्थंकरों की ही मूर्तियों को मन्दिरों में स्थापित किया गया और वे ही मन्दिर, पूजा आदि इस धर्म के अंग वन गये, यहाँ तक कि आज भारत के मन्दिरों में जैन-मन्दिरों की संख्या बहुत अधिक है।

किन्तु फिर भी जैन-दर्शन का अपना एक स्थान है। उन दार्शनिक बातों के अलावा जिनका उल्लेख ऊपर किया जा चुका है, जैन-दर्शन की एक विशेषता है उसका अनेकान्तवाद या स्याद्वाद। अनेकान्तवाद का आशय है कि वस्तु का ज्ञान अनेकाङ्गी और अनेकरूपात्मक है। किसी भी पदार्थ का सत्य ज्ञान समस्त पदार्थों के पारस्परिक सम्बन्ध पर बिना ध्यान दिये प्राप्त नहीं किया जा सकता। अर्थात् वस्तु की उसकी निर्विशेष स्थिति (Absolute State) में परीक्षा नहीं की जा सकती, उसकी परीक्षा अन्य वस्तुओं के साथ संबन्ध की स्थिति (Relative State) में होनी चाहिये, उसका सापेक्ष निरूपण होना चाहिये। प्रत्येक वस्तु के अनन्त धर्म होते हैं और अनंत सम्बन्ध। बद्ध (छद्मस्थ मानव में इतना सामर्थ्य नहीं कि वह अनंतधर्मात्मक वस्तुओं का पूर्ण निरूपण कर सके तो व्यक्तियों की क्षमता और दृष्टि-कोण की विविधता से एक ही वस्तु का कई रूपों में वर्णन किया जाना स्वाभाविक ही है। स्याद्वाद इन विभिन्न या विरोधी-से भी प्रतीत होने वाले वस्तु के स्वरूपों में सामंजस्य स्थापित करता है। इसे यों भी कहा जा सकता है कि चूंकि वस्तु अनेकगुणात्मक है, एवं सापेक्षिक है अतः उसके विषय में किसी विशेष तथ्य की बात करते समय स्याद्वाद का प्रयोग होना उचित ही है। यह भावना जैन दर्शन एवं धर्म की श्रेष्ठ सहिष्णुता की परिचायक है। वस्तु का पूर्ण ज्ञान, तथ्य का पूर्ण परिचय तो सर्वज्ञ (जीवन्मुक्त) को ही हो सकता है, जिसका गुण ही अनंत ज्ञान, अनन्त दर्शन, अनंत वीर्य और अनंत सुख है।

जैन-धर्म का भारतीय जन-संस्कृति पर प्रभाव :

१. प्राणी-मात्र प्रति अहिंसा की भावना (मैत्री भाव) का विस्तार।

२. सामाजिक जीवन में निरामिष भोजन की वृत्ति का विस्तार।

३. जीवन में स्वयं के कर्म पर ही निर्भर रहने की भावना।

४. अनेक कलापूर्ण अलंकृत मंदिर एवं मूर्तियों का निर्माण तथा सर्वोपरि।

५. दार्शनिक विचार, तर्क और अन्वेषण की दुनिया में यह दृष्टि (स्याद्वाद) कि सत्य अनेकरूपात्मक होता है। अतः किसी एक विशेष विचार या तथ्य को अन्तिम रूप से निर्णयात्मक नहीं माना जा सकता। भारतीय भावना में सहिष्णुता का प्रसार।

बौद्ध-धर्म

महात्मा बुद्ध का जीवन (ई. पू. ५५७—४८६)

सिद्धार्थ (गौतमबुद्ध) का जन्म ई. पू. ५५७ में कपिलवस्तु नामक नगर में (आधुनिक उत्तरप्रदेश में बस्ती नगर के उत्तर में स्थित) जो शाक्यवंश के लोगों के गणराज्य की राजधानी थी, शाक्य राजा अर्थात् राष्ट्रपति शुद्धोदन की स्त्री महामाया से हुआ। सिद्धार्थ बचपन से ही चिंताशील रहते थे, उनकी यह प्रवृत्ति देखकर पिता ने १८ वर्ष की आयु में ही उनका विवाह कर दिया, किन्तु उनकी चिंतनशील प्रवृत्ति बदली नहीं। एक बूढ़े और उसके बुढ़ापे के दृश्य ने, एक रोगी और उसके कष्टमय रोग के दृश्य ने, एक लाश और मृत्यु के दृश्य ने, और एक शान्त प्रसन्नमुख संन्यासी के दृश्य ने उनके जीवन पर गहरी छाप डाली और उनकी दिशा को ही बदल दिया।२० वर्ष की आयु में उनके पुत्र भी हो चुका था, किन्तु इसी समय (आषाढ़ की पूर्णिमा) एक रात अन्तिम बार अपनी स्त्री और बालक का मुंह देखकर वह घर से बाहर निकल पड़े, दुःख-सुख और जीवन के रहस्य को ढूंढने के लिए। इसे गौतम का 'महानिष्क्रमण' कहते हैं। गृहस्थों के कर्मकांड (यज्ञ-यागादि से) तो शांति मिली ही नहीं थी, अब वह दार्शनिकों के पास उस समय

की विद्या सीखने लगे, उससे भी शान्ति नहीं मिली। फिर जंगलों में छः वर्ष तक घोर तपस्या की जिसके परिणामस्वरूप शान्ति तो दूर उनके सौम्य शरीर का केवल हाड़चाम अस्थिपञ्जर बाकी रह गया, और उनकी स्थिति अस्वस्थ और अर्धचेतन हो गयी। कहते हैं उस समय एक युवती जिसका नाम सुजाता था, उधर से निकली, उस युवती ने गौतम को बड़ी श्रद्धा से पायस खिलाया, और वह स्वस्थ हो गए। स्वस्थ होने के बाद एक दिन (वैशाखी पूर्णिमा) गौतम को एक पीपल के नीचे जब वह ध्यान-मग्न थे एक अद्भुत शान्ति की अनुभूति हुई, मानो उनके चित्त के सब विक्षेप शान्त हो गये हों, सब प्रकार के कष्टों और दुःखों का रहस्य खुल गया हो। इस से 'बोध' अर्थात् वास्तविक ज्ञान की प्राप्ति हुई। उसी दिन से 'गौतम' 'बुद्ध' हुए और वह पीपल भी 'बोधि वृक्ष' कहलाया। बुद्ध को क्या बोध हुआ ? वह बोध था—सरल, सच्चा जीवन ही सुख का मार्ग है, वह सब यज्ञों, शास्त्रार्थों और तपों से बढ़कर है। जीवन का वह स्वयं अनुभूत तथ्य था। सरल, सच्चा जीवन क्या है ? इसका आभास बुद्ध की इस वाणी से मिलता है, जो बोध-प्राप्ति के बाद बनारस (सारनाथ) पहुँचकर उनके प्रथम शिष्यों के सामने उच्चरित हुई थी—"भिक्खुओ संन्यासी को दो अन्तों (सीमाओं) का सेवन नहीं करना चाहिए। वे दो अन्त कौन से हैं ? एक तो काम और विषय-सुख में फंसना जो अत्यन्त हीन, ग्राम्य और अनार्य है; और दूसरा शरीर को व्यर्थ कष्ट देना जो अनार्य और अनर्थक है। इन दोनों अन्तों को त्याग कर तथागत ने मध्यमा प्रतिपदा (मध्यम मार्ग) को पकड़ा है, जो आँख खोलने वाली और ज्ञान देने वाली है।" यह मध्यम मार्ग ही बौद्ध धर्म का निचोड़ है। इसमें जातिभेद, ऊँच-नीच का भाव, यज्ञ-यागादि एवं देव-पूजा, ब्राह्मण, पौरोहित्य एवं कर्मफलवाद का पचड़ा नहीं है। सब पचड़ों से दूर सरल आचरण का एक मार्ग है। बुद्ध ने अपनी अनुभूति से मानव का कल्याण करना चाहा। अतएव उन्होंने स्थान-स्थान पर घूमकर, जाति-भेद, ऊंच-नीच के भेद-भाव, यज्ञ-यागादि एवं ब्राह्मण सत्ता एवं कर्मफलवाद से ऊपर उठने का उपदेश देना प्रारम्भ किया। अनेक जन

उनके शिष्य हो गये जिनमें भिक्षु, संन्यासी और गृहस्थ अनुयायी भी थे। अपने अनुयायी भिक्षु संन्यासियों का बुद्ध ने जनतन्त्र के आदर्शों पर एक संघ के रूप में संगठन कर दिया। ये बौद्ध भिक्षु भी धर्म-प्रचार के लिए निकल पड़े। चारों ओर बुद्ध के यश का प्रचार हुआ। एक बार घूमते-घूमते तपस्वी बुद्ध अपने पुराने घर पर अपनी पत्नी एवं पुत्र जिसका नाम राहुल था के पास भी भिक्षा के लिए पहुँचे। गौतम (बुद्ध) की पत्नी फिर से उनका दर्शन पाकर अपने को न संभाल सकी। एकाएक गिर पड़ी और उनके पैर पकड़कर रोने लगी। माँ (गौतम की पत्नी) ने बुद्ध (अपने पति) को समर्पित किया अपना बालक राहुल, जो भिक्षु बना और अपने पिता के पद-चिह्नों पर चल पड़ा, धर्म प्रचार के लिए। कुछ वर्षों के बाद स्वयं राहुल की माता ने भिक्षुणी बनने का निश्चय किया। भिक्षुणी-संघ की अलग स्थापना हुई। वह संघ भी मानव कल्याण के लिए धर्म-प्रचार के काम में लग गया।

बुद्ध का धर्मचक्र चला और भारतयुद्ध के काल से जिन वरिष्ठ आर्यकुलों के राजाओं की वंश-परम्परा बुद्ध के समय तक चली आ रही थी उन्हीं में उस चक्र का प्रवर्तन हुआ। बुद्ध के काल में महाभारत-युद्ध काल से चले आते तीन प्रमुख राज्य थे। पहला मगध—यहाँ महाभारत-कालीन बृहद्रथ कुल के राजा जरासंध की लगभग २५वीं पीढ़ी में राजा रिपुञ्जय राज्य कर रहा था। उसकी तो उसके मन्त्री बिम्बसार ने हत्या कर दी और वह स्वयं राजा बन बैठा। बिंबसार ने बुद्ध का धर्मोपदेश सुनकर बुद्ध धर्म स्वीकार किया। बिंबसार के पुत्र अजातशत्रु ने अपनी राजधानी राजगृह में बौद्ध भिक्षुओं की प्रथम संगति का भव्य प्रबन्ध किया और वह स्वयं उसमें सम्मिलित हुआ। दूसरा राज्य कोसल था जहाँ महाभारतकालीन राजा की लगभग २७वीं पीढ़ी में प्रसेनजित् राजा राज्य करता था। वह चाहे धर्म में दीक्षित नहीं हुआ किन्तु बुद्ध का उपदेश सुनकर वह उनका बहुत बड़ा प्रशंसक बन गया। उस समय तीसरा राज्य था वत्स, जहाँ भरतवंशी अभिमन्यु के पुत्र परीक्षित की लगभग २७वीं पीढ़ी में राजा उदयन राज्य कर रहा था। वह भी बुद्ध

का उपदेश सुनकर उनका भक्त बन गया और उसकी एक स्त्री सामवती तो बुद्ध धर्म में विधिवत् दीक्षित हो गयी।

इस प्रकार ४५ वर्ष तक बुद्ध स्थान-स्थान पर घूमते रहे और अपनी सुखद वाणी लोगों को सुनाते रहे। अन्त में ८० वर्ष की आयु में उनके शरीर में दर्द हुआ—भिक्षुओं को अन्तिम बार अपने पास बुलाया और अन्तिम वाणी कही—"भिक्षुओ, मैं तुम्हें अन्तिम बार बुलाता हूँ। संसार की सब सत्ताओं की अपनी-अपनी आयु है। अप्रमाद से काम करते जाओ। यही तथागत की अन्तिम वाणी है।" तत्पश्चात् बुद्ध की आँखें मुँद गईं। यही उनका महापरिनिर्वाण था।

बौद्ध धर्म

बुद्ध के उपदेश मागधी भाषा में मौखिक ही होते थे। बुद्ध के निर्वाण के बाद उनके भिक्षुओं ने उनकी शिक्षाओं का संकलन किया। निर्वाण के बाद राजगृह (मगध) में ५०० बौद्ध भिक्षुओं की एक संगति (सभा) हुई जिसमें बुद्ध के मुख्य शिष्य आनन्द के सहयोग से "सुत्त पिटक" नामक धर्मग्रन्थ एवं एक अन्य प्रमुख शिष्य उपालि के सहयोग से "विनय पिटक" नामक धर्मग्रंथ का संकलन किया गया।

उपरोक्त प्रथम सभा के सौ वर्ष बाद, दूसरी सभा वैशाली में हुई और फिर तीसरी सम्राट् अशोक के समय (२६७–२३२ ई॰ पू॰) पाटलीपुत्र में। इन सभाओं में बौद्धों के धार्मिक साहित्य का रूप निर्दिष्ट हुआ। उपर्युक्त दो ग्रन्थों को मिलाकर कुल तीन ग्रन्थ बौद्ध धर्म के आधारभूत ग्रंथ बने, यथा—

१. सुत्त पिटक—जिसमें बुद्ध की सूक्तियां (उपदेश) हैं।

२. विनय पिटक—जिसमें भिक्षुओं के आचार-सम्बन्धी नियम हैं।

३. अभिधम्म पिटक—जिसमें बौद्धों के दार्शनिक सिद्धान्त हैं।

बौद्ध धर्म के ये तीन पिटक (पेटिया-धर्म-ग्रन्थ) मुख्य हैं। ये पहले-पहल पाली भाषा में लिखे गये। कालांतर में उपरोक्त धर्मग्रन्थ सुत्त-पिटक में 'जातक' नामक एक और अंश जोड़ दिया गया। जातक-भाग में लगभग ५०० उपदेशात्मक कहानियां हैं। छठी, सातवीं शताब्दी के पूर्व

भारत में बहुत-सी मनोरंजक कहानियां प्रसिद्ध थीं। उनको बुद्ध के पूर्व-जन्म की कहानियों की शकल दे दी गयी और जातक नाम से सुत्तपिटक में उनका समावेश कर लिया गया।

बौद्ध-धर्म के सिद्धान्त :—बौद्ध-धर्म के सिद्धान्तों का उल्लेख करने से पहले एक बार प्रचलित वैदिक-धर्म की साधारण मान्यताओं पर पुनः दृष्टिपात कर लें। ये मान्यताएँ प्रायः निम्न हैं :—

(१) एक सर्वोपरि सर्वशक्तिमान् परमात्मा है जो अखिल सृष्टि का निर्विशेष शासन-कर्त्ता है।

(२) प्राणी में स्थित आत्मा है जो परमात्मा का ही अंश है और जो अविनाशी, अमर है। आत्मा एक अनिर्वचनीय, अव्यक्त सत्ता है जो शरीर, मन, बुद्धि आदि से सर्वथा भिन्न और परे है।

(३) प्रार्थना, पाठ-पूजा इत्यादि द्वारा प्राणी परमात्मा की कृपा का भाजन हो सकता है, एवं मानवात्मा अनन्त काल तक के लिए सुख, शांति, आनन्द की स्थिति प्राप्त कर सकती है।

उपरोक्त मत ईश्वर-परमात्मा या ब्रह्म, एवं आत्मा की नित्यता में विश्वास करता है। किन्तु—

बौद्ध-धर्म इन मान्यताओं को स्वीकार नहीं करता, इन मान्यताओं को सत्य भी नहीं मानता। बुद्ध ने केवल वस्तु को ही नहीं आत्मा-परमात्मा को भी नित्य मानने से इन्कार कर दिया। बुद्ध की दृष्टि में यह सृष्टि एक सतत परिवर्तनशील प्रक्रिया मात्र है, यह आत्मा तथा जगत् अनित्य हैं। वे मानसिक अनुभवों और प्रवृत्तियों को स्वीकार करते हैं किन्तु आत्मा को मानसिक प्रक्रियाओं से कोई भिन्न पदार्थ नहीं मानते। आत्मा तो प्रवृत्तियों का पुंज मात्र है, इन प्रवृत्तियों के समूह के अतिरिक्त अन्यत्र उसकी सत्ता नहीं। उनका सिद्धान्त आजकल के वैज्ञानिक, भौतिक-वादियों एवं मनोवैज्ञानिकों के सिद्धान्त के जैसा है जो मन और मानसिक प्रक्रियाओं को तो मानते हैं और आत्मा को यदि वह है तो उन मानसिक प्रक्रियाओं से भिन्न और परे कुछ भी पदार्थ नहीं मानते। व्यवहार में सरलता के लिए उन सब मानसिक प्रवृत्तियों को 'आत्मा' नाम दिया

जा सकता है और कुछ नहीं। किन्तु बुद्ध सब वस्तुओं की प्रतिक्षण परिवर्तनशीलता अर्थात् उनकी अनित्यता को मानते हुए भी एक दृष्टि से 'प्रवाह' की एकता को, 'परिणाम' की वास्तविकता को मानते हैं—जैसे बहती हुई गंगा में हम एक डुबकी लगाते हैं, फिर दूसरी, फिर तीसरी, प्रथय बार जिस जल में हमने डुबकी लगायी, दूसरी डुबकी उसी जल में नही लगी क्योंकि वह तो बहकर दूर निकल गया; किन्तु फिर भी हम यह समझते रहते हैं कि हमने एक ही जल में (गंगा में) डुबकी लगायी है—यह इसलिए कि प्रवाह की एकता बनी हुई है, अर्थात् चाहे हमने एक जल में डुबकी लगायी हो या कई जलों में, व्यावहारिक दृष्टि से परिणामात्मक स्थिति में कोई विशेष अन्तर नहीं आता। वास्तव में अपने मध्यम मार्ग की अनुभूति के फलस्वरूप, सत्ता-असत्ता-विषयक दार्शनिक प्रश्नों में भी, ऐसा प्रतीत होता है, बुद्ध ने मध्यम—मार्ग ही अपनाया। "एक मत (नित्य) सत्ता पर विश्वास करता है, तथा दूसरा मत असत्ता (अनित्य) पर निश्चय रखता है, पर मध्यम प्रतिपदा (मध्यम मार्ग) को मानने वाले बुद्ध के अनुसार सत्य सिद्धान्त दोनों छोरों के बीच में कहीं है।" अर्थात् बुद्ध परिणामात्मक स्थिति को सत्य मानते हैं। दूसरे शब्दों में हम यह कह सकते हैं कि वस्तु की सत्ता-असत्ता में विश्वास करने न करने से उस वस्तु से हमारे सम्पर्क द्वारा उत्पन्न परिणाम में कोई अन्तर नहीं पड़ता··· जैसे एक पत्थर को आप सत्-असत्, परिवर्तनशील-अपरिवर्तनशील, गतिहीन या सतत् गतिमान् कुछ भी मानिये, यदि उसको आप अपने माथे पर मारेंगे तो वह आपके माथे को फोड़ेगा ही। बुद्ध-काल में कर्मवाद और परलोकवाद, मरने के बाद क्या होता है, आत्मा क्या है आदि विषयों में अनेक मत प्रचलित थे। इनके सम्बन्ध में बुद्ध ने साफ़ कह दिया कि तुम्हारे इन मतों के रहते या न रहते संसार का दुःख तो कम होता नहीं, फिर इनके पीछे बेकार क्यों पड़े हो, वर्तमान के पीछे पड़ो; जो बीता सो बीता, जो नहीं आया उसकी चिन्ता करना बेकार है। वास्तव में बुद्ध की दृष्टि बहुत ही व्यावहारिक और बुद्धि-संगत थी। मानव मात्र के कल्याण के लिए दार्शनिक प्रपंचों और विषमताओं से दूर वे किसी व्यावहारिक

रास्ते की खोज में थे, जो उन्होंने खोज भी निकाला। उन्होंने निम्न चार आर्य सत्यों की अनुभूति की···और ये ही सत्य उन्होंने मानव के सामने रक्खे। वे सत्य ये हैं :—

१. इस संसार में जीवन दुःखों से परिपूर्ण है।

२. इन दुःखों का कारण विद्यमान है।

३. इन दुःखों से छुटकारा मिल सकता है।

४. दुःखों के छुटकारे के लिए उचित उपाय या मार्ग विद्यमान है।

अब हम इन चार सत्यों का विवेचन करें। (१) यह तो प्रायः निर्विवाद है कि संसार में दुःख है। (२) इन दुःखों का कारण, बुद्धकाल में एवं उससे पूर्व भी, हमारे पूर्व कर्म का फल बताया जाता था। बुद्ध ने आत्मा नाम की नित्य वस्तु से साफ़ इन्कार किया, इसीलिए किसी एक व्यक्ति (जीव) के कर्मफल भोगने के लिए पुनर्जन्म का प्रश्न ही नहीं उठता। किन्तु बुद्ध को दार्शनिक प्रश्नों की बहस में तो पड़ना नहीं था, अतः यदि सब कहते ही थे तो कुछ अंशों तक 'कर्मफलवाद' मानने में उन्होंने हठपूर्वक आनाकानी भी नहीं की। किन्तु इतना उन्होंने साफ़ कहा है कि यह सत्य नहीं कि मनुष्य के सब ही दुःख-सुख उसके पूर्व-कर्मों के कारण हैं। बुद्ध ने पूर्व-कर्मों को इस जन्म की समस्याओं में महत्वपूर्ण स्थान नहीं दिया है—उनका मुख्य अभिप्राय अदृष्ट जगत् की बातें न सोचकर दृष्ट जगत् के प्रति चिंतनशील होना है। कर्मफलवाद को इस लोक में गौण ठहराकर बुद्ध ने बतलाया है कि हमारे दुःखों का मूल कारण हमारी इसी जन्म (भव) की तृष्णाएँ (Desires) हैं। तृष्णाएँ जैसे : इन्द्रियजन्य इच्छाएँ पूरी हों अर्थात् विषय-लोलुपता ; यह इच्छा कि मैं हमेशा बना रहूँ, मैं अमर होऊँ ; यह इच्छा कि मैं संसार में खूब धनी और समृद्ध बनूँ; इत्यादि। (३) इन तृष्णा-जन्य दुःखों से हम बच निकल सकते हैं; (४) और, इस बच निकलने का उपाय है : जीवन में सरल मध्यम मार्ग को अपनाते हुए (न तो घोर तपस्या एवं व्रत इत्यादि ही हो, और न काम, और इन्द्रिय विषयों में फँस जाना हो), बुद्धिपूर्वक (अन्धविश्वासों के आधार पर नहीं) सच्चाई और ईमानदारी

के भाव से कर्म करते हुए (कर्म त्याग कर नहीं) हमें अपना जीवन-यापन करना चाहिए, और निःस्वार्थ भावना की मनःस्थिति प्राप्त करने का प्रयत्न करना चाहिए। इस प्रकार सरलता से, सहजभाव से, जीवन-यापन करते हुए निःस्वार्थ भावना की स्थिति प्राप्त होने पर हम निर्वाण की (अर्थात् दुःखों से निवृत्ति की) अनुभूति कर सकते हैं। निर्वाण का अर्थ इस लोक में या किसी परलोक में 'अमरत्त्व' या किसी परमात्म तत्त्व में विलीन हो जाना, या जन्म-मरण के बन्धन से मुक्ति, नहीं है। बुद्ध की दृष्टि से निर्वाण का अर्थ है—इस जीवन में अर्थात् इस भव में दुःख से निवृत्ति एवं पूर्ण शांति की अनुभूति—यह मानव-मात्र को सरल शुचि-मय जीवन से प्राप्त हो सकती है।

बुद्ध की शिक्षाओं का धर्म-सम्प्रदाय के रूप में संगठन

बुद्ध-धर्म आदि रूप में सरल आचार-मार्ग का धर्म था किन्तु जैसा सभी धर्मों के साथ प्रायः होता है, इस धर्म में भी कालान्तर में अनेक प्रपंच और आडम्बर आकर घुस गये और इसकी मूल सरलता और मूल रूप विलुप्त हो गया। यदि आज स्वयं बुद्ध भगवान् आ उपस्थित हों तो उनके नाम से प्रचलित धर्म को वे स्वयं नहीं समझ पायेंगे। वे आश्चर्य करने लगेंगे कि मनुष्य ने आखिर उनकी सरल-सीधी शिक्षाओं में क्या अनर्थ पैदा कर दिया।

ई० पू० चौथी शताब्दी में वैशाली में बौद्ध भिक्षुओं की जो दूसरी सभा हुई थी उसी में आचार तथा अध्यात्म विषयक कुछ प्रश्नों को लेकर भिक्षुओं में परस्पर मतभेद उपस्थित हो गया। कुछ ऐसे थे जो प्राचीन 'विनयों' में कुछ संशोधन, परिवर्तन करना चाहते थे, कुछ ऐसे थे जो थोड़ा-सा भी संशोधन नहीं चाहते थे। कालांतर में ऐसी ही बातों को लेकर अनेक सम्प्रदाय खड़े हो गये। आजकल विशेषतया तीन सम्प्रदाय प्रचलित हैं:

१. **महायान सम्प्रदाय**—जो बुद्ध के ईश्वरत्व में विश्वास करता है। इस प्रकार मानव बुद्ध की जगह लोकोत्तर बुद्ध की स्थापना हुई। अतः बुद्ध-मूर्तियों की पूजा का प्रचलन हुआ। इसमें ईश्वरवादिता, पाठ-पूजा,

भक्ति, आचार्य एवं पुजारी की पूजा का अधिक महत्त्व है। आजकल इसका प्रचार तिब्बत, चीन, को `रया, मंगोलिया और जापान में विशेषतया पाया जाता है।

२. **हीनयान सम्प्रदाय**—जो बुद्ध की मूल शिक्षाओं के अधिक निकट है। जीव को परमुखापेक्षी श्वर, देवपूजा इत्यादि की ओर मुखापेक्षी) होने की आवश्यकता नहीं। यदि वह स्वयं सरल मध्यम मार्ग का अनुसरण करता है तो उसका कल्याण हो सकता है। आजकल इसका प्रचार लंका, बरमा, स्याम, जावा आदि देशों में है।

३. **वज्रयान सम्प्रदाय**—महायान तो बुद्ध को संसार के उद्धारक के रूप मे देखता था। वज्रयान ने उसे वज्रगुरु बना दिया। वज्रगुरु वे उस आदर्श पुरुष को कहते थे जिसे अलौकिक सिद्धियाँ प्राप्त हों। इसमें मंत्र, हठयोग, तांत्रिक आचारों का बहुत प्रचार है, क्योंकि सब सिद्धियाँ, मंत्र, तंत्र, यौगिक क्रियाओं आदि से ही प्राप्त होती हैं। अनुमान है कि इस सम्प्रदाय का जन्म ईसा के बाद छठी शताब्दी में हुआ। ऐसा माना जाता है कि ८वीं से ११वीं शताब्दी तक वज्रयान के ८४ सिद्ध हुए। प्रसिद्ध गोरखनाथ उन्हीं ८४ में से एक थे। इन्हींके प्रभाव में ८वीं-९वीं शती में भारत में हठयोग सम्प्रदाय, वाममार्ग सम्प्रदाय, नाथपंथ आदि का प्रचलन हुआ।

बौद्धधर्म का भारतीय मानस के संस्कार पर प्रभाव :—

१. जीवन का उत्थान स्वकर्म पर आधारित है, भगवान् की कृपा पर नहीं।

२. जाति-पांति, ऊंच-नीच, भेद-भाव कुछ नहीं। सभी व्यक्ति निर्वाण (आनन्द स्थिति) को प्राप्त कर सकते हैं।

३. परस्पर व्यवहार में अहिंसा एवं करुणा का भाव।

४. अद्भुत स्थापत्य, मूर्ति एवं चित्रकला।

वैदिक-धर्म के पौराणिक रूप का विकास

वैदिक-युग की वैदिक ऋचाओं और मन्त्रों में प्रकृति और विज्ञान, आत्मा और परमात्मा के रहस्यों का उद्घाटन करती हुई ब्राह्मण-ग्रन्थों

में यज्ञयागादि के कर्मकांड की दुरूहता प्राप्त करती हुई और उपनिषदों में दार्शनिक अनुभूतियों का रूप धारण करती हुई वैदिक-धर्म की धारा आगे की ओर प्रवाहित होती हुई चलती जा रही थी। पुरोहितों के यज्ञ-यागादि के दुरूह कर्मकांड से जब यह धारा अवरुद्ध होने लगी तो महावीर और बुद्ध आये, जिन्होंने इस अवरुद्ध होती हुई धारा को प्रशस्त भूमि पर प्रवाहित किया।

वैदिक (हिन्दू), जैन और बौद्ध धर्मों के बाह्य अंतरों को छोड़कर उनके सैद्धान्तिक आधारों की तुलना करें तो हम कह सकते हैं कि वैदिक धर्म आत्मा, ब्रह्म (ईश्वर), कर्मवाद और मोक्ष के विचारों पर आधारित है; सृष्टि ब्रह्म का प्रस्फुटन है। जैन धर्म आत्मा, कर्मवाद और मोक्ष के विचारों पर आधारित है, सृष्टि अनादिकाल से स्वत: ६ मूल तत्वों (जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश और काल) में स्थित है। बौद्ध-धर्म आत्मा, ब्रह्म और कर्मवाद को न मानते हुए सृष्टि को एक सतत परिवर्तनशील प्रक्रिया मात्र मानता है। यह मान्यता आधुनिक भौतिकवाद से मिलती-जुलती है। शुद्धाचार द्वारा मोक्ष-प्राप्ति का विचार इसको अवश्य मान्य है।

हिन्दू-धर्म में मोक्ष का अर्थ है—जीवात्मा का परब्रह्म में विलीनीकरण। जैन-धर्म में मोक्ष का अर्थ है—जीव को अनन्त सुख, ज्ञानादि की उपलब्धि और अमरत्व पद की प्राप्ति। बुद्ध-धर्म में मोक्ष का अर्थ है—जीवन में दुःख से पूर्व निवृत्ति और सम्पूर्ण सुख-शान्ति की प्राप्ति।

किन्तु इन धर्मों का रूप इन सूक्ष्म सिद्धान्तों में सीमित नहीं था, जैसा उल्लेख भी हो चुका है। जनसाधारण में इन धर्मों के स्थूल रूप ने प्रशस्ति पाई। वेदों में उषा, वरुण, सूर्य, इन्द्र आदि देवताओं के अतिरिक्त 'विष्णु' नाम के एक साधारण देवता का भी नाम आता है। धीरे-धीरे इनके रूप और इनके प्रति भावना में परिवर्द्धन होता रहा। रामायण-काल तक इनका कोई महत्त्व नहीं था। महाभारत में इनका महत्त्व बढ़ता है, और फिर पुराणों में इनको सर्वश्रेष्ठ स्थान प्राप्त होता है, और इस तरह धीरे-धीरे विष्णु को ब्रह्म का रूप मिल जाता है।

इस रूप में इनके प्रति पूजा की भावना का उद्भव ईसा-पूर्व पाँचवीं-छठी शताब्दी में हो चुका था। इनके बाद अवतार रूप में इनकी प्रतिष्ठा होती है। सम्भवतः ईसा की प्रथम शताब्दी में कुछ लोग यह मानने लग गये थे कि श्रीकृष्ण विष्णु के अवतार थे। विष्णु के अवतार रूप में पूजा का भाव भागवत धर्म के नाम से धीरे-धीरे प्रायः समस्त हिन्दुओं में प्रचलित हो जाता है। आगे चलकर ईसा की ११वीं शताब्दी से प्रारम्भ होकर १६वीं शताब्दी तक अनेक भागवत धर्माचार्यों द्वारा विष्णु रूप में कृष्ण, राम, विट्ठल या विठोबा मूल रूप में प्रतिष्ठित हो जाते हैं। जन-साधारण के लिए अब राम-कृष्ण विट्ठल ही परमात्मा हैं, सृष्टि के नियंता और मानव के भाग्य-विधाता हैं। ११वीं शताब्दी के प्रसिद्ध आचार्य रामानुज, फिर १४वीं शताब्दी में उनके शिष्य रामानन्द और फिर १७वीं शताब्दी में महाकवि तुलसीदास के अद्भुत काव्य 'रामायण' ने राम और रामभक्ति को जन-जन के हृदय की एक अपूर्व संवेदनात्मक अनुभूति दी—राम और राम-भक्ति से जन-जन का मन प्लावित हो उठा।

इसी प्रकार, जैसा कि पहले भी उल्लेख किया जा चुका है, ई० पू० ५०० के लगभग साधारण जनता में वासुदेव नाम के किसी देवता या 'देवपुरुष' की पूजा का प्रचलन होकर उस पर भगवान् विष्णु के सृष्टि-पालनकर्ता का रूप आरोपित हो चुका था। इन वासुदेव का महाभारत-युग के महापुरुष योगिराज श्रीकृष्ण में समाहार हो गया। श्रीकृष्ण अब वासुदेव थे, भगवान् थे। भागवतपुराण, एवं १२वीं शताब्दी के निम्बार्क स्वामी, फिर चंडीदास और विद्यापति कवि, फिर १६वीं शताब्दी के चैतन्य महाप्रभु, फिर १७वीं शताब्दी के वल्लभाचार्य और भक्त महाकवि सूरदास के सूरसागर ने जन-जन के हृदय को श्रीकृष्ण के प्रति अद्भुत प्रेम के माधुर्य से प्लावित कर दिया। इस प्रकार आज हम हिन्दू मात्र में राम और कृष्ण की भावना प्रतिष्ठित पाते हैं।

एकव्यक्ति रूप ईश्वर में विश्वास—वही ईश्वर सृष्टि का नियंता है, वही मनुष्य का भाग्य-विधाता—ऐसी मान्यता, ऐसी स्थिति आज

भी संसार के बहुत बड़े जन-समुदाय की बनी हुई है। ईसाई धर्म का जो प्रायः पश्चिमी देशों में प्रचलित है, ईसा भी ईश्वर (God) के फ़ैसले में भरोसा करता है; मुसलमान धर्म का जो प्रायः अरब, पश्चिमी एशिया और उत्तरी अफ्रीका में प्रचलित है, मुसलमान भी खुदा की मर्जी और तक़दीर में विश्वास करता है। चीन, तिब्बत, हिन्दचीन, जापान इत्यादि देशों में भी करोड़ों बौद्ध हैं जो बुद्ध के ईश्वरीय रूप में विश्वास करते हैं और अपने सुख, समृद्धि और कल्याण की स्थिति बुद्ध की कृपा पर आश्रित मानते हैं; नास्तिकवादी रूस में भी आज ऐसे अनेक साधारण जन हैं जिनके लिए गिर्जा और ईश्वर एक सत्य तथ्य है और यही मानते हैं कि सारी सृष्टि एक ईश्वर की ही कृति है।

यहूदी, ईसाई और मुसलमान धर्म तो अपने प्रारम्भ से ही एक व्यक्तिगत ईश्वर रूप पर आश्रित हैं; भारत ने अपने प्राचीन इतिहास के युग-पुरुषों यथा राम और कृष्ण में व्यक्तिगत ईश्वर (Personal God) की प्रतिष्ठा की; बौद्ध और जैन धर्म ने अपने धर्म-प्रवर्त्तकों में यथा बुद्ध और महावीर में, अपने ढंग से व्यक्तिगत ईश्वर की कल्पना की।

मानो व्यक्तिगत ईश्वर (Personal God) की कल्पना किये बिना मनुष्य का काम ही नहीं चला। भगवान् के प्रति अनुराग, भक्ति मानव-मन की स्यात् एक भावमूलक, संवेदनात्मक आवश्यकता थी।

इस युग का सामाजिक और राजनैतिक जीवन

वैदिक और उत्तर-वैदिक काल से अब तक भारतवासियों के जीवन में बड़ा परिवर्तन हो चुका था—वैदिक काल में तो कृषि और पशुपालन ही मुख्य काम था। धीरे-धीरे उत्तर वैदिक (महाकाव्य) काल तक शिल्प में बहुत अधिक उन्नति हो चुकी थी। महाजनपद-युग (बौद्धकाल) में शिल्प और व्यापार में अधिक उन्नति हुई, फलतः अनेक समृद्धिशाली नगरों का विकास हुआ। जैसे वाराणसी, राजगृह, कौशाम्बी, श्रावस्ती, वैशाली, चम्पा, तक्षशिला, अयोध्या, उज्जयिनी, मथुरा आदि। इन नगरों के विकास के उपरान्त भी सभ्यता और जीवन का मूल ग्रामों में ही रहा। शिल्प के साथ-साथ स्थल और जल के व्यापार में भी खूब

अभिवृद्धि हुई और व्यापार के विस्तार के साथ-साथ अन्य देशों से भारत का सम्पर्क बढ़ा। वाराणसी (बनारस), चम्पा, मरुकच्छ, मरीच, शूर्पारक आदि नगरों के व्यापारी अपने जहाज़ लेकर सुवर्णभूमि 'ब्रह्मा', ताम्रपर्णी 'लंका और बावेरु' वेबीलोन तक जाते थे। साथ-साथ सौ आदमी जिनमें लम्बी यात्रा कर सकें, इतने बड़े-बड़े जहाज़ बनने लगे थे।

सामाजिक जीवन

ई० पूर्व छठी शताब्दी के लगभग—अर्थात् प्रारम्भिक बुद्धकालीन समाज में अनेक ऐसी बातें रूढ़िगत हो गयी थीं जो ऋग्वेद काल के सरल जीवन में नहीं पाई जातीं और जिनका उत्तर-वैदिक काल में केवल आभास-सा मिलता है। ये बातें थीं :—समाज में अनेक जातियों, उपजातियों का विकास हो जाना; समाज पर ब्राह्मणों का कठोर प्रभुत्व स्थापित हो जाना—मानो उच्चवर्गीय लोग उन विचारों, मान्यताओं, यज्ञ, हवनादि धार्मिक अनुष्ठानों के परे नहीं जा सकते थे जो ब्राह्मण उनको बताते थे। इन सामाजिक कठोरताओं के विरुद्ध प्रतिक्रिया भी हुई। वैवाहिक नियम पहले की अपेक्षा कठोर बन गये थे, ऋग्वेद काल जैसा मुक्त भाव नहीं रहा था। वर्ण, जाति-प्रथा कठोर होने से एक वर्ण या जाति के लोगों का भिन्न वर्ण या जाति में विवाह नहीं हो सकता था। साथ ही सगोत्र मामा तथा बुआ के लड़के-लड़कियों से भी वैवाहिक सम्बन्ध नहीं होता था। पर्दे की प्रथा का प्रचलन अभी तक नहीं हुआ था। नगरों में नगर-नर्तकियों, (नगर स्त्री, वेश्या) का प्रचलन था।

उस काल में आधुनिक काल की २०वीं सदी की आर्थिक समस्याएँ नहीं थीं, जैसे बेकारी, वर्ग-संघर्ष आदि। प्रमुख व्यवसाय खेती था, अधिकांश लोग इसी के सहारे अपना भरण-पोषण करते थे। भूमि पर भूमि जोतने वालों का ही अधिकार था, सामंत या जागीरदारी प्रथा का तभी तक प्रचलन नहीं हुआ था। कृषि के लिए सिंचाई का प्रबन्ध था। सिंचाई स्थानीय परिस्थितियों के अनुकूल नहरों, सरोवरों, झीलों, बांधों तथा कुओं की सहायता से होती थी। गांवों की स्थिति गरीबी की नहीं

थी। खाने-पीने को खूब था। नगर भी बहुत समृद्ध थे।

राजनैतिक संगठन की हम तीन इकाइयाँ मान सकते हैं। सर्वप्रथम तो ग्राम थे। नगरों का विकास होने पर उनमें दो और इकाइयों का विकास हुआ—श्रेणी और निगम। एक नगर में एक ही प्रकार के शिल्पियों का संगठन होता था, जिसे 'श्रेणी' कहते थे। जैसे एक नगर के सब जातियों की मिलकर एक श्रेणी होती थी। इसी प्रकार कुम्हारों, मालियों, मल्लाहों, सुनारों आदि की अलग-अलग श्रेणियाँ होती थीं। श्रेणी का एक मुखिया चुना जाता था जिसको प्रमुख या ज्येष्ठक कहते थे। श्रेणियाँ अपना आर्थिक प्रबन्ध खुद करती थीं। ये ही स्यात् बाद में जाकर जातियों और जाति-पंचायतों में परिवर्तित हुईं। शिल्पियों की तरह चारों ओर नगरों में व्यापारियों के भी संगठन बन गये थे—जिन्हें 'निगम' कहते थे। निगम का मुखिया भी चुना जाता था जो सेट्ठी 'श्रेष्ठी' कहलाता था। सब व्यापारियों का संगठन और संचालन निगमों द्वारा ही होता था।

राजनैतिक संगठन

गांवों के कई समूह एवं कुछ नगर मिलकर एक 'राज्य' बनते थे जो जनपद कहलाते थे। जनपदों से बड़े राज्य महाजनपद अथवा संघराष्ट्र कहलाते थे। इन राज्यों का आधार उपरोक्त तीन इकाइयाँ ही होती थीं यथा ग्राम, श्रेणियाँ एवं निगम, जिनके मुखिया राजकाज में राजा को सलाह देते थे। इस प्रकार राज्य का संगठन राजतंत्रीय होते हुए भी मूलतः जनतंत्रीय था। किन्हीं राज्यों में राजा ही नहीं होता था। उपरोक्त इकाइयों के लोग एवं मुखियाओं की परिषदें होती थीं जो सब कुछ करती थीं। परिषदों में प्रस्ताव रखने, भाषण देने, सम्मति लेने आदि के बाकायदा नियम थे। ये ही जनपद या महाजनपद राज्य किसी एक शक्तिशाली राजा के अधीन होने पर कालांतर में साम्राज्य के रूप में परिवर्तित हुए।

छठा अध्याय

प्राचीन भारत (राजनैतिक-सामाजिक हलचल)

(ई० पू० ६०० से ६५० ई० तक—लगभग १००० वर्ष)

प्राचीन और मध्ययुग में भारत में राजकीय संगठन की विशेषता

भारत इतना विशाल देश रहा है कि सम्पूर्ण देश केवल एक राजकीय संगठन के अन्तर्गत रहा हो ऐसे अवसर भारतीय इतिहास के प्राचीन काल से लेकर आधुनिक काल तक बहुत कम ही आये हैं। भारत के इतिहास में ऐसा सर्वप्रथम अवसर तो प्रियदर्शी अशोक के काल में आया; फिर मध्ययुग के मुसलमानी ज़माने में अलाउद्दीन खिलजी के राज्य-काल में आया, फिर १६वीं-१७वीं शताब्दी में मुग़ल-सम्राट् अकबर, जहाँगीर, शाहजहाँ और औरंगज़ेब के समय में रहा, फिर आधुनिक काल में सन् १८५७ ई० में अंग्रेज़ी-राज्य काल से तो खैर ऐसी परम्परा बन गयी कि सारे देश में सार्वभौम राजनैतिक सत्ता एक ही रही। प्राचीन और मध्ययुग में उपरोक्त अवसरों को छोड़कर देश में अनेक छोटे-छोटे स्वतन्त्र अदलते-बदलते राज्यों का अस्तित्व बना रहता था। इन छोटे-छोटे राज्यों में भी कई अपेक्षाकृत अधिक विस्तृत हो जाते थे एवं संगठन और शक्ति की दृष्टि से बढ़े-चढ़े। इन्हीं समृद्ध राज्यों के नाम से भारतीय इतिहास-काल के भिन्न-भिन्न युगों का नामकरण हुआ और इतिहास में उन्हीं का विशेष परिचय रहा, यद्यपि पृथक्-पृथक् छोटे राज्यों के एवं राज्यवंश तथा राजाओं के इतिहास भी लिखे जाते रहे, जिनमें से कुछ उपलब्ध भी हैं। किन्तु भारत में अनेक पृथक्-पृथक् राज्यों के अस्तित्व के बने रहने के तथ्य से यह धारणा नहीं बना लेनी चाहिये कि भिन्न-भिन्न राज्यों में बसने वाले भारत के लोगों (जन-साधारण) का इतिहास भी भिन्न-भिन्न रहा। भारतीय इतिहास की यही विशेषता रही है कि एक ही काल में देश में छोटे-बड़े अनेक राज्यों

के होते हुए भी यहां के सभी लोग सभ्यता, संस्कृति एवं दैनिक जीवन, विचार और भावनाओं की दृष्टि से सर्वदा एकसूत्र में बंधे रहे हैं। इसी एकसूत्रता को समझने के लिए यह आवश्यक है कि हम इतिहास के विशेषतः उन्हीं मोड़ के बिन्दुओं (Turning Points) को स्पर्श करें जिन्होंने लोक-जीवन या लोक-मानस में दिशा-परिवर्तन कर दिया है।

मौर्य साम्राज्य (३२२—१८४ ई० पू०)

ई० पू० ७वीं-८वीं शताब्दी में महाजनपदों की चर्चा करते समय हम कह आये हैं कि उस समय मगध (आधुनिक बिहार) एक प्रमुख महाजनपद था, जहाँ काशी से निकले शिशुनाग वंश के राजा राज्य करते थे, जिनमें बिम्बसार और अजातशत्रु प्रमुख हुए, जिन्होंने अनेक राज्य जीतकर अपने राज्य में मिलाये और इस प्रकार मगध ने साम्राज्य का रूप धारण किया। अजातशत्रु के पोते राजा उदयी ने गंगा और सोन के संगम पर पाटलिपुत्र नगरी की स्थापना की, जो आगे चलकर संसार भर में प्रसिद्ध हुई। शिशुनाग वंश का अन्तिम राजा महानन्द था जो उदयी का पोता था। महानन्द के दो बेटों का अभिभावक महापद्मनन्द था…जो महानन्द के दोनों पुत्रों को मारकर स्वयं मगध की गद्दी पर बैठ गया। महानन्द के बेटे धननन्द के राज्यकाल में ही यूनान के प्रसिद्ध विजेता अलक्ष्येन्द्र ने भारत के उत्तर-पश्चिम में चढ़ाई की थी और गांधार के पूर्व में कैकय देश के वीर राजा पुरु को झेलम नदी के किनारे पर हराया था। इसी समय अलक्ष्येन्द्र से एक भारतीय युवक की भेंट हुई थी जिसका नाम चन्द्रगुप्त था। हिमालय की तराई में 'मोरिय' (मौर्य) नाम की जाति का एक संघ-राज्य था। इसी संघ-राज्य का यह कुशाग्रबुद्धि युवक चन्द्रगुप्त था जो पीछे मगध के नन्द राजा के यहाँ सेनापति हुआ। राजा से किसी बात पर झगड़ा होने पर वह मगध से निकल गया। तक्षशिला में अलक्ष्येन्द्र से मिला, और वहाँ उसकी भेंट चाणक्य नामक ब्राह्मण से जो बाद में भारतीय इतिहास में प्रसिद्ध नीतिकार और अर्थशास्त्री के रूप में

प्रसिद्ध हुआ, हुई। चाणक्य का दूसरा नाम 'कौटिल्य' भी था। उसकी नीति और अर्थशास्त्र आज भी भारतीय इतिहास के अध्ययन के विशेष विषय हैं।

यह ब्राह्मण चाणक्य और युवक चन्द्रगुप्त दोनों ही असाधारण कर्मठ, दृढ़व्रती और प्रतिभाशाली थे। इन्होंने मिलकर मगध के नंदवंश को समाप्त किया और मौर्यवंश की नींव डाली। चन्द्रगुप्त स्वयं मगध का सम्राट् बना (ई० पू० ३२२ में) और चाणक्य उसका प्रधान अमात्य (मंत्री)। यूनानी अलक्ष्येन्द्र महान् अपने विजित प्रान्तों में शासन रखने के लिए कई सेनापति छोड़ गया था। एक सेनापति सेल्यूकस ने भारत पर आक्रमण किया, चन्द्रगुप्त ने उसे हराया; ग्रीक-सेनापति को अपने राज्य के कई प्रान्त (भारत के उत्तर-पश्चिमी प्रांत), चन्द्रगुप्त को भेंट करने पड़े। अपनी पुत्री का विवाह चन्द्रगुप्त से कर दिया और चन्द्रगुप्त के दरबार में मैगस्थनीज़ नाम का यूनानी राजदूत रखा।

मैगस्थनीज़ ने भारत का वास्तविक विवरण अपने लेखों में छोड़ा है, उनसे हमें तत्कालीन भारत की राजनैतिक, सामाजिक और धार्मिक दशा का एवं लोगों के रहन-सहन का अच्छा परिचय मिलता है। यह लगभग वही काल था जब चीन में वहाँ का प्रथम महासम्राट् सीह्वांगटी राज्य कर रहा था।

मौर्यवंश में ही सम्पूर्ण भारत का सम्राट् अशोक महान् (२६८ ई० पू० से २३२ ई० पू० तक) हुआ। अशोक ही भारत में पहला ऐसा सम्राट् हुआ जिसके राज्यकाल में राजनैतिक दृष्टि से प्रायः समग्र भारत एक सूत्र में बंधा।

अशोक ने राज्य ग्रहण करने के कुछ वर्ष बाद कलिंग देश पर आक्रमण किया। इस युद्ध में १ लाख आदमी मारे गये। लाखों घायल हुए। विनाश की इस प्रत्यक्ष अनुभूति से अशोक का मानव-हृदय इतना दुःखी हुआ कि इसके बाद वह दिग्विजय नहीं किन्तु 'धर्म-विजय' करने—लोगों के हृदयों को जीतने, निकला। उसने बुद्ध-धर्म को ग्रहण किया। अशोक का पुत्र महेन्द्र स्वयं भिक्षु बना और उसकी बहिन संघमित्रा

भिक्षुणी। बुद्ध के प्रेम और करुणापूर्ण धर्म का प्रसार करने के लिए चारों ओर अशोक के दूत फैल गये यथा, सिंहल (लंका), गांधार, काश्मीर, कम्बोज, ब्रह्मा, हिन्दचीन एवं पश्चिमी देशों—यथा फ़ारस, फ़िलस्तीन इत्यादि में। अशोक के २५० वर्ष पीछे पश्चिमी एशिया के फिलस्तीन देश में महात्मा ईसा प्रकट हुए जिनकी शिक्षाएँ भगवान् बुद्ध की शिक्षाओं से बहुत मिलती-जुलती हैं। ईसा की मातृभूमि में बुद्ध की शिक्षाएँ अशोक ने ही पहुँचाई थीं।

अशोक ने पहाड़ी चट्टानों पर, और पत्थर के खम्भों (स्तम्भों) पर अनेक लेख खुदवाये जिनमें से बहुत-से आज तक भी मौजूद हैं। ये खम्भे जो मुख्यतः दिल्ली, प्रयाग और चम्पारन जिले में मिले हैं, ४०-४० फीट ऊँचे हैं और उनकी चिकनी पालिश आज २००० से भी अधिक वर्षों तक ज्यों-की-त्यों बनी हुई है। ये कला की अनोखी कृतियाँ हैं और आज के इंजिनियरों को भी आश्चर्य होता है कि उस प्राचीन काल में एक ही प्रस्तर भाग में से इतने बड़े-बड़े खम्भे कैसे बनाये गये। किस प्रकार इतने भारी खम्भों की प्रस्थापना की गयी और एक स्थान से दूसरे स्थान तक ले जाये गये। इनके अतिरिक्त अशोक ने कई स्तूप भी बनवाये। ये पत्थर के बने गोलाकार मन्दिर (भवन) हैं जिनमें मूर्तियाँ नहीं हैं, किन्तु बौद्ध आचार्यों की राख गड़ी हुई है। उन पर स्मारक स्वरूप बौद्ध-धर्म के सिद्धान्त बड़ी सुन्दरता से लिखे गये थे।

मौर्यवंश के सम्राटों का राज्य, विशेषतः चन्द्रगुप्त और अशोक का, बहुत ही सुव्यवस्थित, शांतिमय और सुखमय था। राज्य-संगठन में और उसके संचालन में ऐसी पूर्ण और नियमित व्यवस्था और निपुणता थी जिसकी कल्पना किसी सुव्यवस्थित आधुनिक राज्य के संगठन में ही की जा सकती है।

अशोक सम्राट् होकर भी जन-जन में प्रेम और मानवता का संदेशवाहक था। उसके समान प्रियदर्शी और मानवता से सम्पन्न सम्राट् न केवल भारत में किन्तु अखिल संसार में, उस काल से आज तक नहीं हुआ, मानो उसका नाम सुनकर विश्व-इतिहास के पन्ने उल्लास से

सिहर उठते हों; आज तक मानो मानव इस प्रतीक्षा में हो कि अशोक जैसे शासक फिर कभी इतिहास में हों।

अशोक के देहावसान के बाद प्रायः ५० वर्ष तक मौर्य साम्राज्य की परम्परा चलती रही और समस्त भारत राजकीय संगठन की दृष्टि से एक सूत्र में बंधा रहा किन्तु १८४ ई० पू० के आते-आते मौर्य साम्राज्य टूट गया और भारत के चार मंडलों यथा १. मध्यप्रदेश (आधुनिक बिहार, उत्तरप्रदेश आदि) २. पूर्व (आधुनिक बंगाल), ३. दक्षिण ४. उत्तरापथ (आधुनिक अफ़ग़ानिस्तान, तुर्किस्तान, सिंध, पंजाब आदि) में नये राज्य उठ खड़े हुए।

सातवाहन युग : (१८४ ई० पू० से १७६ ई० सन्— ३६० वर्ष के लगभग)

उत्तरापथ में सेल्यूकस के बाद के ग्रीक शासकों का राज्य बना रहा, जो धीरे-धीरे भारतीय तत्त्व से मिलते रहे। उस समय काबुल और कंधार के देश भारत में ही गिने जाते थे।

दक्षिण में सिमुक नाम के एक ब्राह्मण ने अपना राज्य स्थापित किया। उसके वंश का नाम सातवाहन था (सातवाहन=शालिवाहन)। सातवाहनों का राज्य पहले महाराष्ट्र में था, पीछे आंध्र में भी हो गया। उपरोक्त ३६० वर्षों के काल में यह राज्य प्रमुख रहा, इसलिए इस युग को इसी नाम से पुकारते हैं।

इस काल में भारत में उत्तर-पश्चिमी मार्ग से कई भारतेतर जातियों के आक्रमण हुए, जो सब शक लोग थे। उस समय मुख्य चीन के उत्तर-पश्चिम में मंगोलियन उपजाति के असभ्य बर्बर लोग रहते थे जो हूण कहलाते थे। इन हूण लोगों के आक्रमण चीन के समृद्ध राज्य पर लूट-मार के लिए होते ही रहते थे। इनसे बचने के लिए तत्कालीन प्रसिद्ध चीनी सम्राट् ने प्रसिद्ध 'महान् दीवार' बनवायी। जब हूणों की दाल चीन की तरफ नहीं गली, तब उन्होंने अपनी दृष्टि दक्षिण-पश्चिम की ओर लगायी, अर्थात् यूरोप, मध्य-एशिया एवं पश्चिमी एशिया की ओर। उस समय मध्य-एशिया में कई जातियाँ बसी हुई थीं जैसे यूचि, कुषिक, तुखार

इत्यादि। ये सब शक-परिवार की थीं। 'शक लोग भी आर्य थे, किन्तु तब तक वे जंगली और खानाबदोश थे' (जयचन्द्र)। इन्हीं शक लोगों के अनेक आक्रमण भारत पर हुए, और इन्होंने उत्तरापथ के यूनानी लोगों को ध्वस्त कर कुछ काल के लिए अपना राज्य समस्त उत्तरापथ एवं पूर्व में प्रयाग तक तथा दक्षिण में पूना तक स्थापित कर लिया।

प्रसिद्ध है कि सातवाहन राज्य के राजा 'विक्रमादित्य' ने दक्षिण से आकर उज्जैन को जीता और शकों का संहार कर (५७ ई० पू० से) विक्रम संवत् चलाया। 'विक्रमादित्य' तो उसकी उपाधि थी, उसका असली नाम था—गौतमी-पुत्र शातकर्णि। इस 'विक्रमादित्य' गौतमी-पुत्र को गुप्त-वंश के 'विक्रमादित्य' चन्द्रगुप्त से भिन्न समझना चाहिये। शकों पर विजय के उपरान्त ही सातवाहनों ने २८ ई० पू० में मगध भी जीत लिया। तब से प्राय: १०० वर्ष तक सातवाहन भारत के सम्राट् रहे। सातवाहन युग की समृद्धि अपूर्व थी।

किन्तु फिर शक परिवार की एक जाति 'कृषिक' के एक सरदार कुषाण ने भारत पर हमला किया और राजा कुषाण के ही वंशज 'देव-पुत्र कनिष्क' ने सातवाहनों से अनेक युद्धों के बाद मध्यप्रदेश और पूर्व में प्रयाग तक अपना आधिपत्य जमा लिया। प्रसिद्ध शक संवत् जो ७८ ई० में शुरू होता है, कनिष्क का चलाया माना जाता है। इसका राज्य उत्तर-पश्चिम में मध्य एशिया (तुखारिस्तान) तक फैला हुआ था। कनिष्क बौद्ध था। अशोक की तरह उसने भी बहुत दूर-दूर तक बौद्ध-धर्म का प्रचार किया। इस कारण उसका नाम आज तिब्बत और मंगोलिया में बड़े आदर से लिया जाता है। तभी से चीन के साथ भारत का सम्पर्क उत्तर-पश्चिम के रास्ते से बढ़ा। उसने पुरुषपुर (पेशावर) नाम का एक नया नगर बसाया और उसे अपनी राजधानी बनाया। पेशावर और अन्य स्थानों में उसने स्तूप और विहार आदि बनवाये।

सातवाहन-युग की समृद्धि और सभ्यता (ई० पू० १८४ से १७६ ई०)

व्यापार—यद्यपि इस युग में सातवाहन 'विक्रमादित्य' गौतमीपुत्र आदि और शक (कनिष्क आदि) राजाओं के अतिरिक्त अन्य कई छोटे-

छोटे राज्य भी रहे, तथापि इस युग में भारत की समृद्धि खूब हुई।

महाजनपदों के काल (८००-४०० ई० पू०) से ही भारत के व्यापारी सामुद्रिक रास्ते से अपने जहाजों में अन्य देशों यथा लंका, ब्रह्मा, सुमात्रा (सुवर्ण द्वीप), जावा, (यव द्वीप) जाने लग गये थे। सातवाहन-युग में सुमात्रा और जावा, मलाया प्रान्त और स्याम में भारतीयों ने अपनी अनेक बस्तियाँ बसाईं, वहाँ के मूल-निवासियों (आग्नेय काष्र्णेय लोगों) को सभ्य बनाया। बस्तियों के साथ-साथ भारतीयों के कई छोटे-छोटे राज्य भी वहाँ स्थापित हुए। इन बस्तियों और राज्यों के हिन्दू संस्थापक प्रायः शैव थे। इन राज्यों का जल-मार्ग द्वारा चीन से भी व्यापार होने लगा। इस प्रकार भारत का सम्पर्क चीन से स्थल (तुखारिस्तान प्रदेश में होकर) एवं जल, दोनों मार्गों द्वारा हो गया एवं उनकी सभ्यता और संस्कृति में विनिमय होने लगा। भारतीय नाविक केवल पूर्व में चीन देश ही नहीं जाते थे, किन्तु लालसागर एवं नील नदी की लहर में जो भूमध्यसागर से मिलती थी, होते हुए वे रोम साम्राज्य के समस्त देशों तक पहुँचते थे। भारत से रोम को बहुत-सा हाथीदांत का सामान, सुगंधित द्रव्य, मसाले, मोती और कपड़े आदि जाते थे और वहाँ से बदले में सोना आता था। राजा कनिष्क के समय के एक रोमन लेखक ने शिकायत की है कि भारतवर्ष रोम से हर साल साढ़े पांच करोड़ का सोना खींच लेता है; और वह कीमत हमें अपनी ऐयाशी और अपनी स्त्रियों की खातिर देनी पड़ती है। एक दूसरे रोमन लेखक ने रोमन स्त्रियों की शिकायत करते हुए लिखा है कि वे भारतवर्ष से आने वाली 'बुनी हुई हवा की जाली' (मलमल) पहन कर अपना सौन्दर्य दिखाती थीं। एक तरफ़ रोम और पार्थव (ईरान) तथा दूसरी तरफ़ चीन और सुमात्रा-जावा के ठीक बीच होने से भारतवर्ष इस समय सारे सभ्य जगत् का मध्यस्थ था।

धर्म

भारतीय आर्यों का आदिधर्म वैदिक था। फिर बुद्ध-धर्म का प्रचलन और प्रचार हुआ। सातवाहन-युग के आते-आते बुद्ध के प्रति जिसने निरर्थक कर्मकांड का विरोध किया था, प्रतिक्रिया प्रारम्भ हुई, और

वैदिक धर्म को पुनः जगाने की लहर उठी। किन्तु समाज और समय का प्रवाह बहुत आगे बढ़ चुका था। वैदिक धर्म के बजाय धर्म का दूसरा रूप सामने आया जिसे पौराणिक धर्म कहते हैं। आर्यों के निम्न वर्ग में एवं अनार्यों में कई प्रकार की जड़-पूजाएँ प्रचलित थीं। जनसाधारण ने बुद्ध की शिक्षाओं को तो सुना जो पूजापाठ के विरुद्ध थीं, किन्तु, उनकी बुद्धि विकसित नहीं थी और न इतना बौद्धिक साहस कि वे देवता की पूजा, और उस पर आश्रित रहने के भाव को छोड़ देते। वैसे तो वैदिक काल में भी देवताओं की पूजा होती थी, किन्तु वैदिक देवता ईश्वरीय शक्ति के प्रतीक मात्र थे, और उनकी पूजा यज्ञों द्वारा होती थी। अब उन देवताओं की मूर्तियाँ बनने लगीं, और उन मूर्तियों की भव्य मन्दिरों में स्थापना होने लगी। विष्णु और शिव देवताओं की प्रधानता हो गयी और प्राचीन ऐतिहासिक पुरुष विष्णु के अवतार माने जाने लगे, जैसे कृष्ण। कृष्ण की पूजा की भावना से ही 'भागवत धर्म' का प्रचलन हुआ—जिसका कालांतर में अपूर्व सैद्धान्तिक एवं भावात्मक विकास हुआ। इन पौराणिक धर्मों का प्रभाव बुद्ध और जैन धर्म पर भी पड़ा, और उनके यहाँ भी बुद्ध एवं महावीर ने देवताओं और अवतारों अथवा तीर्थङ्करों का स्थान ले लिया और उनके मंदिरों की भी स्थापना होने लगी।

साहित्य—पुराने वैदिक साहित्य से स्वतन्त्र और भिन्न नये संस्कृत साहित्य का विकास इस काल से प्रारम्भ हुआ।

महाभारत के कई अंश इस समय की रचना बताये जाते हैं। सुप्रसिद्ध कवि भास जिसकी रचनाओं का प्रभाव महाकवि कालिदास के नाटकों पर पड़ा, इसी काल के हैं। प्रसिद्ध बौद्धिक दार्शनिक, कवि, नाटककार अश्वघोष भी जिनको कनिष्क अपने दरबार में ले गया था, इसी काल के हैं। भारतवर्ष के प्रसिद्ध वैद्य चरक और सुश्रुत भी इसी युग में हुए। प्रसिद्ध आर्य दार्शनिक गौतम, बादरायण, जैमिनि इत्यादि भी इसी काल में हुए बताये जाते हैं।

साहित्य के समान शिल्प और कला का भी सातवाहन-युग में विपुल

शिल्प-कला

विकास हुआ। इस युग की ३ प्रकार की शिल्पकला पायी जाती है। १. चट्टानों से काटे हुए गुहा-मन्दिर जो विशेषतया महाराष्ट्र और उड़ीसा में हैं। २. भारहुत और सांची के स्तूप, जो हैं तो इस काल से पुराने, किन्तु उन स्तूपों के चारों तरफ़ पाया जाने वाला पत्थर की वेदिकाओं और तोरणों का काम, जिसमें सुन्दर-सुन्दर मूर्तियाँ और तत्कालीन जीवन की झाँकियाँ कटाई के द्वारा प्रस्तुत की गई हैं, जो अपूर्व सौन्दर्य से परिपूर्ण हैं—इसी काल का है। ३. गांधारी भवन-निर्माण-कला एवं मूर्तिकला—जिसमें यूनानी (ग्रीक) प्रभाव स्पष्ट है।

सामाजिक जीवन

पूर्व उल्लिखित ग्रामों, शिल्पियों की श्रेणियों और व्यापारियों की नगर-संस्थाओं का राजकाज में बहुत प्रभाव था। किसी भी प्रदेश का राजा उनका कभी तिरस्कार नहीं कर सकता था। शिल्पियों की श्रेणियाँ बहुत साहूकार होती थीं। व्यापार, जहाज़रानी खूब होती थी। वैदिक और मौर्यकाल में विवाह-बंधन की कुछ शिथिलता अवश्य थी—चाहे आदर्श उच्च था। उस काल में सम्बन्ध-विच्छेद और पुनर्विवाह होता था। धर्मस्मृतिकार इन बंधनों को अब कड़ा बनाने की कोशिश में थे। उद्यान-क्रीड़ाएँ, गोष्ठियाँ और नाटक जीवन में मनोरंजन के साधन थे। साहित्य और राजकाज की भाषा प्रायः संस्कृत थी। साधारण जन में बोलचाल की भाषा 'प्राकृत' (पाली-प्राकृत का ही एक रूप) थी। शिक्षा का प्रचलन उच्च समुदाय तक ही सीमित था। साधारण जन-समुदाय अशिक्षित था किन्तु धर्म एवं दर्शन की भावनाओं से वह अपरिचित नहीं था।

भारशिव, वाकटक साम्राज्य (१७६ ई० से ३४० ई०) लगभग १६० वर्ष

ईसा की दूसरी शती के अन्त होते-होते न शक सम्राटों में, न सातवाहन सम्राटों में कोई शक्तिशाली शासक रहा, एवं शक और सातवाहन साम्राज्य टूटने लगे। नर्मदा नदी के दक्षिण में भारशिव क्षत्रियों का राज स्थापित हुआ और इन्होंने नागपुर नगर बसाया। धीरे-धीरे इन्होंने उत्तर-

पूर्व की ओर अपने राज्य का विस्तार किया। यह साम्राज्य गंगा-कांठे से नागपुर तक विस्तृत था। इसमें मालवा, कोसली (छत्तीसगढ़) एवं बघेलखंड के प्रदेश सम्मिलित थे। इसी साम्राज्य पर भारशिवों के एक सेनापति का जो वाकटक या विंध्यक वंश का था, आधिपत्य हुआ। इस साम्राज्य के इलावा वास्तव में इस समय भारत में कई छोटे-छोटे अन्य स्वतन्त्र एकतन्त्रीय राज्य एवं गण-राज्य थे। समस्त भारत में कोई भी एक ऐसा सम्राट् नहीं था जिसकी शक्ति एवं जिसके व्यक्तित्व की मान्यता सर्वत्र देश में रही हो।

गुप्त-साम्राज्य (३४० से ५४० ई०, लगभग २०० वर्ष)

उपरोक्त भारशिव एवं वाकटक-युग में जब भारत में अनेक छोटे-छोटे राज्य बन रहे थे, उसी समय साकेत (प्रयाग प्रदेश) में गुप्त नामक एक राजा था। उसके पोते चन्द्रगुप्त ने पाटलिपुत्र पर ३२० ई० में चढ़ाई की और उसे जीत लिया। बस यहीं से भारत का इतिहास-प्रसिद्ध गुप्तवंश और गुप्त-साम्राज्य स्थापित हुआ। चन्द्रगुप्त के पुत्र समुद्रगुप्त ने दिग्विजय की। इसका रणकौशल अद्वितीय था और अल्पकाल में ही वह समस्त भारत के राज्यों में मान्य 'महाराजाधिराज' बन गया। समुद्रगुप्त जैसा वीर और विजेता था वैसा ही आदर्श और कुशल शासक भी। वह स्वयं विद्वान् था तथा नाट्य और संगीत में उसकी ऊँची पहुँच थी। गुप्त-साम्राज्य का विस्तार समुद्रगुप्त के बाद चन्द्रगुप्त ने भी किया, जिससे चन्द्रगुप्त को 'विक्रमादित्य' की उपाधि मिली।

चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य (३७५ से ४१३ ई०)

चन्द्रगुप्त के जीवन-काल में भारत ने कला, विज्ञान और साहित्य के क्षेत्र में इतनी आश्चर्यजनक उन्नति की कि उस युग को विशेषतया 'स्वर्णयुग' के नाम से पुकारा जाने लगा। उस युग में नगर-निर्माण, स्थापत्य, शिल्प तथा चित्रकला की ऐसी अमर रचनाएँ हुईं कि जिनकी स्मृति युगों-युगों तक विश्व को भारत की महानता का परिचय कराती रहेंगी। गुप्तवंश में एक और सम्राट् का नाम उल्लेखनीय

है, वह है स्कंदगुप्त (४५५-४६७)। यह वह काल था जब मध्य एशिया की ओर से भारत पर हूणों के आक्रमण होने लगे थे। स्कंदगुप्त ही वह सम्राट था जिसने हूणों के दाँत खट्टे किये और ऐसी करारी हार दी कि अनेक वर्षों तक भारत की ओर मुँह फेरने का भी उनको साहस नहीं हुआ। स्कन्दगुप्त के बाद जब गुप्त साम्राज्य कुछ कमजोर हुआ तब हूणों के भारत पर फिर आक्रमण हुए। समस्त उत्तरी-पश्चिमी भारत पर उनका आधिपत्य हो गया। इनके हमले मालवा तक हुए। ये लोग अत्यन्त क्रूर और निर्दयी होते थे। हूणों के एक सम्राट् मिहिरकुल ने जिसने शाकल (स्यालकोट) को अपनी राजधानी बनाया था और जो अपने आपको शिव का उपासक कहता था, गांधार की बौद्ध प्रजा पर अमानवीय अत्याचार किये, और तक्षशिला नगरी को हमेशा के लिए मटियामेट कर दिया। कोई भी गुप्त सम्राट् उसकी नृशंसता को नहीं दबा सका। समस्त उत्तर-पश्चिमी भारत त्रस्त था। इसी समय एक जननेता का आविर्भाव हुआ जिसका नाम था—यशोवर्मा, जो पीछे मालवा का राजा बना। उसने समस्त प्रजा को अपने साथ ले क्रूर मिहिरकुल को परास्त किया और समस्त हूणों को ऐसा त्रस्त किया कि भारत से उनकी जड़ ही बिल्कुल उखड़ गयी।

गुप्त-युग की समृद्धि

वृहत् भारत एवं विदेशी व्यापार—चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य के राज्यकाल में चीन से एक यात्री बौद्ध-धर्म के ग्रंथों का संग्रह करने के अभिप्राय से भारत आया था। उसका नाम फ़ाह्यान था। उसने ६ वर्ष (४०५-४११) तक उत्तरीय भारत का भ्रमण किया। पाटलिपुत्र में रहकर उसने ३ वर्ष तक संस्कृत पढ़ी। उसने उस समय के भारत की सुव्यवस्था, सुखावस्था, उदारता का चित्र अपने लेखों में खींचा है। वह लिखता है कि दुनिया के सब देशों में भारतवर्ष सबसे अधिक सभ्य है। प्रजा सभ्य, सम्पन्न और सदाचारी है। लोग नशा नहीं करते, अपराध बहुत कम होते हैं, मृत्यु-दंड किसी को नहीं दिया जाता। जिस समय फ़ाहयान भारत में भ्रमण कर रहा था, उसी समय भारत के दो बौद्ध

विद्वान् कुमारजीव एवं गुणवर्मा जो संस्कृत एवं मध्य एशिया की भाषाओं के बेजोड़ पंडित थे, चीन गये और वहाँ अनेक संस्कृत बौद्ध-ग्रन्थों का चीनी भाषा में अनुवाद किया। चीन में ये ग्रन्थ अब भी लोकप्रिय हैं। इसी काल में कोरिया और जापान में बौद्ध धर्म का प्रचार हुआ और वहाँ अनेक बौद्ध विहारों का निर्माण हुआ। महाजनपद (प्रायः ई० पू० ८००) एवं सातवाहन-युग (ईसा की प्रथम शताब्दी) से भारत के दक्षिण-पूर्व में भारतीयों के जो उपनिवेश बसने लगे थे, उनमें विकास और समृद्धि की वृद्धि होती रही। 'फ़ान-ये' नामक एक चीनी लेखक ने ५वीं शती के शुरू में लिखा है कि काबुल से शुरू कर दक्षिण-पश्चिम समुद्रतट तक और वहाँ से पूर्व की तरफ अनाम तक सब देश शिन-तु (सिन्धु—हिन्द) में शामिल हैं। अर्थात् उस काल में काबुल-कंधार से लेकर समस्त भारत, लंका, ब्रह्मा, स्याम, हिंदचीन, मलाया, सुमात्रा, जावा, ये सब देश 'भारत' माने जाते थे। इन सब देशों में भारतीय बसे हुए थे, भारतीय राज्य थे, एवं भारतीय संस्कृति और धर्म प्रसारित थे। बृहत्तर भारत देशों में (ब्रह्मा, हिंदचीन, स्याम, मलाया, सुमात्रा, जावा इत्यादि) हिन्दू (पौराणिक शिव और वैष्णव), एवं बौद्ध-धर्म दोनों प्रचलित थे। बृहत्तर भारत, चीन, रोम-साम्राज्य और पश्चिमी एशिया के देशों में परस्पर खूब व्यापार होता था। काश्मीर में ऊन के शालों का व्यवसाय बहुत पहले से ही प्रारम्भ हो चुका था। अब इनका व्यापार अन्य देशों में खूब होता था। फ़ारस के राजा ने रोम सम्राट् को एक काश्मीरी शाल भेंट किया जिसकी नफ़ामत (सुन्दरता और बारीकी) देख कर रोम के लोग दंग रह गये।

राज्य-संगठन एवं सामाजिक जीवन

साम्राज्य कई प्रांतों एवं जिलों (भुक्ति या विषयों) में विभक्त था। प्रत्येक प्रांत का प्रशासन सम्राट् द्वारा नियुक्त एक शासक (गोप्ता) के अधीन था। ग्रामों, शिल्पियों की श्रेणियों एवं व्यापारियों के निगम का स्थानीय शासन में पूरा प्रभाव होता था, अर्थात् इन संगठनों का अपने-अपने क्षेत्र में पंचायती राज्य चलता था।

समस्त राज्य में सुव्यवस्था थी, और यही देश की समृद्धि का कारण था। धर्म, दर्शन एवं साहित्य की भाषा संस्कृत थी, संस्कृत ही शिक्षा का माध्यम था, किन्तु शिक्षा का प्रचार जन-साधारण तक नहीं था, यद्यपि धर्म और संस्कृति की भावना से वे परिचित रहते थे। बोल-चाल की भाषा प्राकृत का जनसाधारण में प्रचलन था।

धर्म, कला और साहित्य

इस युग में भारत में बौद्ध, जैन एवं पौराणिक हिन्दू-धर्म तीनों ही प्रचलित थे। पौराणिक धर्म में विष्णु, शिव, सूर्य, स्कंद (युद्ध के देवता), एवं देवी की पूजा का समावेश था। आजकल के हिन्दू धर्म की बहुत-सी बातें चल पड़ी थीं किन्तु असवर्ण विवाह अभी तक प्रचलित थे। वैसे तो मन्दिरों का निर्माण स्यात् सातवाहन-युग से प्रारम्भ हो गया होगा किन्तु ऐसा अनुमान है कि विशाल धन-सम्पत्ति व्यय करके उदात्त कलात्मक मन्दिरों का निर्माण इस युग में अधिक हुआ। ऊँचे, नुकीले शिखर वाले वैष्णव मन्दिर बनाने की शैली का प्रचलन इसी समय में हुआ।

अजन्ता, ऐलोरा और उदयगिरि के गुफा-मन्दिर

अजन्ता और एलोरा दो पहाड़ी गुफाएँ हैं, जो दक्षिण में औरंगाबाद नगर के निकट हैं। अजन्ता की रमणीक चट्टानों को काट-काटकर, उन चट्टानों के अन्दर ही अनेक विशाल गुफ़ा-मन्दिर बनाये गये हैं। ऐसे गुफा-मन्दिर प्रायः तीस के लगभग हैं। सबसे प्राचीन गुफाएँ स्यात् ई० पू० तीसरी शताब्दी की हैं। तब से नयी-नयी गुफाओं का निर्माण होता रहा। अनुमान है कि सातवीं सदी तक समय-समय पर यह काम चलता रहा। गुप्त-युग में और इसके बाद भी इन गुफा-मन्दिरों की दीवारों पर अनेक चित्र चित्रित किये गये, जिनमें से अनेक अब तक भी मौजूद हैं। ये चित्र प्राचीन जगत् की चित्रकला के सर्वोत्तम उदाहरण हैं, और आधुनिक पूर्वीय एवं पाश्चात्य सभी देशों के कला-प्रेमियों के लिए सचमुच एक विस्मय की वस्तु हैं। इसी प्रकार ऐलोरा (बैलूर) के गुफा-मन्दिर हैं) ये गुफाएँ ऐलोरा

की रमणीक पहाड़ी में लगभग सवा मील की लम्बाई तक जगह-जग
पर काटकर बनायी हुई हैं। इन गुफाओं में बुद्ध, जैन एवं ब्राह्मण-पौर
णिक, तीनों धर्मों के मन्दिर हैं। सर्वोत्तम और आश्चर्यकारी भ
मन्दिर कैलाश मन्दिर है जिसका निर्माण ७६३–७८३ ई० में मालख
(महाराष्ट्र और कर्नाटक) के राजा कृष्ण प्रथम ने करवाया था। उद
गिरि की सुरम्य पहाड़ी मध्यप्रदेश में भेलसा नामक नगरी से ४ मी
दूर है। उदयगिरि की गुफाओं का निर्माण ५वीं शती अर्थात् गुप्तका
में ही हुआ। उदयगिरि में मूर्तिकला के सुन्दर नमूने मिलते हैं।

इस युग में सम्राट् कुमारगुप्त ने राजगृह के पास (बिहार) नालंद
महाविहार की नींव डाली, जो एक संसार-प्रसिद्ध विश्वविद्यालय बन गय
जहाँ देश-विदेश के अनेक विद्वान् शिक्षा पाने आते थे। प्रसिद्ध ज्योतिष
आर्यभट्ट इसी युग में हुआ। उसने गुरुत्वाकर्षण और सूर्य के चारों ओ
पृथ्वी के घूमने के सिद्धान्त निकाले। गुप्तयुग के ज्योतिषियों ने रो
और अलक्सेन्द्रिया (Alexandria) के ज्योतिषियों के भी अने
सिद्धांत ग्रहण किये। छठी शताब्दी के भारतीय ज्योतिषी वराहमिहिर
ग्रीक ज्योतिषियों का आधार माना था। इन सबका अर्थ यह है कि ज्ञान
विज्ञान का भारत और ग्रीस, रोम और टोलमी राजाओं का अलक्सेन्द्रिय
विद्यालय में परस्पर आदान-प्रदान होता रहता था। इस युग का काव्य
साहित्य अद्वितीय है। विष्णु शर्मा का पंचतन्त्र (कहानियां) एक अम
रत्न है, जिसका संसार की अनेक भाषाओं में अनुवाद हुआ है। विश्व
विख्यात एवं विश्व-पूजनीय महाकवि कालिदास भी, यदि वे ईसा पू
प्रथम शती के नहीं हैं तो, इस युग के सबसे प्रसिद्ध पुरुष हैं। कालिदास
नाटक और काव्य (जिनमें प्रमुख शाकुन्तल, रघुवंश, कुमारसंभव, मेघ
दूत आदि हैं) समस्त मानवों की अपूर्व निधियां हैं। इनमें पावन भूमि भार
की प्राकृतिक रमणीयता और आत्मा की उदारता के मधुर दर्शन हो
हैं। कवि कालिदास ने जिस अपूर्व सौन्दर्य की सृष्टि की वह सौन्दर्य देश-दे
के मनीषियों के अन्तर को स्पर्श कर गया। सन् १७८९ में सर विलिय
जेम्स ने शाकुन्तल का अंग्रेजी में अनुवाद किया था। तत्पश्चात् उसक

अनुवाद जर्मनी तथा अन्य भाषाओं में हुआ। १६वीं शताब्दी में जर्मनी के विश्वविख्यात कवि गेटे ने शाकुन्तल को पढ़कर आनन्द के आँसू बहाये थे। ऐसा प्रतीत होता है कि गुप्तकाल में भारत मानो एक सुरम्य क्रीड़ा-क्षेत्र था, जहाँ मानव सहज स्वभाव से खेलता था, हँसता था, गाता था—उसी प्रकार जिस प्रकार १६वीं-१७वीं शती में इंगलैंड का मानव महाकवि शेक्सपीयर के काव्य और नाटकों से अनुप्राणित होकर खेलने, हँसने और गाने लगा था।

उस युग के संसार में केवल चार सभ्य साम्राज्य और जातियाँ थीं—चीनी, भारतीय, ईरानी और रोमन। इनमें वस्तुतः भारतवासी सभ्य संसार के नेता थे। वैदिक युग में भारतीय मनीषियों ने उदात्त आध्यात्मिक आनन्द में मुक्ति की अनुभूति की थी। गुप्तकाल में भारतीय मानव ने मानवीय सौन्दर्य और उल्लास की अनुभूति की।

पिछले गुप्त, मौखरि, एवं वैस (हर्ष) राज्य :—(५४०–६५०, लगभग १०० वर्ष) गुप्त वंश का अन्तिम शक्तिशाली सम्राट् स्कन्दगुप्त था। उसके बाद गुप्तवंश का महत्त्व कम होने लगा और सन् ५४० के आते-आते सर्वथा उसका अन्त हो गया। ऐसी दशा में, देश में अनेक छोटे-छोटे स्वतंत्र राज्य स्थापित होगये। इन राज्यों में सबसे अधिक महत्त्वशाली राजा हर्षवर्धन (६०६–६४७) का साम्राज्य था, जिसकी राजधानी कन्नौज थी। इस साम्राज्य में काश्मीर, पंजाब और सिन्ध को छोड़कर प्रायः समस्त उत्तरी भारत सम्मिलित था। हर्ष शक्तिशाली विजेता, योग्य और न्यायी शासक था। इसके राज्यकाल में बाणभट्ट नामक प्रसिद्ध संस्कृत कवि हुआ, जिस ने 'हर्षचरित' और 'कादम्बरी' नामक ग्रन्थों की रचना की। हर्ष बौद्ध-धर्म का अनुयायी था, किन्तु अन्य धर्मों का भी समान भाव से आदर करता था। इसके राज्यकाल में युवानच्वांग नामक एक चीनी यात्री ६३० ई० में भारत में आया। वह लगभग १५ वर्ष तक भारत के एक छोर से दूसरे छोर तक घूमा। नालंदा विश्वविद्यालय में रहकर ५ वर्ष तक उसने संस्कृत एवं बौद्ध धर्म-ग्रन्थों का अध्ययन किया। उसने उस समय के जीवन का अच्छा चित्र खींचा है, जिसका सारांश यह

है कि देश समृद्धिशाली और सुव्यवस्थित तो अवश्य था, किन्तु जीवन और सामाजिक संगठन में से वह भव्यता और गौरव प्रायः लुप्त हो चुके थे जिन्होंने गुप्त-युग को महान् बनाया था। हर्षवर्धन के राज्य को प्राचीन हिन्दू-युग का अन्तिम गौरवशाली राज्य मान सकते हैं। इसके बाद वास्तव में भारतीय जीवन में मौलिकता का ह्रास होने लगा, उसमें जड़ता आने लगी और वह संकीर्ण बन गया। छठी शताब्दी से १९वीं शताब्दी तक, लगभग १३०० वर्ष मानो भारतीय ज्ञान-चक्षु एवं जीवन-द्वार अवरुद्ध से हो गये हों। कहीं-कहीं, कभी-कभी प्रकाश और तीव्र कर्मण्यता के उदाहरणों को छोड़कर प्रायः समस्त जीवन पर धीरे-धीरे आलस्य और अज्ञान छा गये।

सातवाँ अध्याय

मध्ययुगीय भारत (पूर्वार्ध)

(६५० ई०–१२०६ ई०)

(६५० ई० सन् से १२०६ ई० तक लगभग ५५० वर्ष राजपूत काल—मुसलमानों के आक्रमण के पूर्व का काल)

हर्षवर्धन के अनन्तर कोई भी एक ऐसा शक्तिशाली, संगठनकर्ता, जागरूक, दूरदर्शी और विशाल दृष्टिकोण वाला व्यक्ति नहीं हुआ, जो दुनिया की अन्य शक्तियों से अपनी जानकारी बनाये रखता, और उस ज्ञान की पृष्ठभूमि में अपने राज्य का उचित प्रबन्ध करता। ऐसे प्रतिभाशाली व्यक्ति के अभाव में, एवं सामरिक दृष्टि से किसी महत्त्वाकांक्षी सैनिक के अभाव में, उत्तर-भारत और दक्षिण-भारत छोटे-छोटे स्वतन्त्र राज्यों में विभक्त हो गये। ये स्वतन्त्र राजा भारतीय इतिहास में राजपूतों के नाम से प्रसिद्ध हैं जो एक नया-सा ही नाम है। सम्भवतः संस्कृत शब्द 'राजपुत्र' से, जो राजकुमारों के लिए प्रयुक्त होता था, बिगड़कर राजपूत

बना। वस्तुतः राजपूत प्राचीन क्षत्रिय राजाओं की परम्परा में से ही थे। यह संभव अवश्य हो सकता है कि उनमें विदेशी आक्रमणकारियों जैसे शक, हूण आदि लोगों का सम्मिश्रण हो गया हो। ये लोग प्राचीन आर्य-परम्परा के पालक, बड़े वीर, युद्ध-कुशल एवं साहसी थे, पौराणिक धर्म में विश्वास रखते थे। हर्ष के अनन्तर प्रायः समस्त भारत में इन्हीं राजपूत (क्षत्रिय) राजाओं के छोटे-छोटे स्वतन्त्र राज्य हुए जिनका अस्तित्व ११वीं शताब्दी के बहुत बाद तक बना रहा।

प्रमुख राज्य एवं राज्यवंश निम्न थे—कन्नौज, अजमेर और दिल्ली; बिहार (पाल वंश) बंगाल (सेन वंश) गुजरात और सौराष्ट्र (परिहार, सोलंकी और गहलोत वंश) मालवा (परमार वंश) देवगिरि (यादव वंश) पंजाब, काश्मीर, दक्षिण (राष्ट्रकूट और चालुक्य वंश इत्यादि)। इसी मध्य युग में मालवा का प्रसिद्ध विद्याप्रेमी राजा भोज (१००६ ई. से १०५४ ई.) हुआ जिसके विषय में अनेक कहानियाँ और दन्तकथाएँ प्रचलित हैं।

इन राज्यों में भिन्न-भिन्न क्षत्रिय (राजपूत) वंशो का राज्य था, समय-समय पर परस्पर युद्ध, विजय, पराजय और राज्य-परिवर्तन की घटनाएँ घटित होती रहती थीं।

इन राज्यों में ब्राह्मण-धर्म अथवा पौराणिक वैष्णव-धर्म की उन्नति हुई, बौद्ध-धर्म का भारत से प्रयाण होने लगा। ब्राह्मणों ने राजपूतों के गुणगान किये और राजपूतों ने ब्राह्मणों के प्रभाव और मान-गौरव की रक्षा की। इसी काल से धीरे-धीरे साधारण जन में अपने राजनैतिक कर्तव्यों और अधिकारों के प्रति उदासीनता आने लगी। इस काल में किसी भी गण-राष्ट्र का नाम नहीं सुना जाता। हाँ, गाँवों की पंचायतें इस मध्यकाल में पूर्ववत् सुसंगठित रहीं। भूमि पर अभी तक प्रजा का ही अधिकार माना जाता था, राजा का नहीं।

धर्म और दर्शन—बौद्ध-धर्म की अवनति का उल्लेख ऊपर हो चुका है। इस धर्म को भारत से उखाड़ फेंकने में दो प्रतिभाशाली विद्वानों का प्रभाव विशेष माना जाता है। एक तो थे—कुमारिलभट्ट जो ७वीं

मध्ययुगीय हिन्दू-काल की सभ्यता

शती में हुए थे और जिन्होंने वैदिक भावना और यज्ञों का पुनरुत्थान चाहा था। दूसरे थे स्वामी शंकराचार्य जिनका जन्म केरल प्रान्त में ७८८ ई० में हुआ था। शंकर ने मीमांसासूत्र पर अपना भाष्य लिखा था और अद्वैत दर्शन का विचक्षण प्रतिपादन किया था। इन के मतानुसार एक अव्यक्त निर्विकल्प ब्रह्म की ही सत्ता है—यह दृश्य सृष्टि केवल माया है—यह भासित होती है, इसका अस्तित्व नहीं है। शंकर की गणना संसार के महान् दार्शनिकों और विद्वानों में होती है। शंकर का भारत के दार्शनिक मत पर इतना प्रभाव रहा कि २-३ शतियों तक उनकी ही विचार-पद्धति का भारत में साम्राज्य रहा। लोक में धर्म-भावना को जागृत रखने के लिए शंकर ने भारत के चारों कोनों में—उत्तर में बद्रीनाथ के पास, दक्षिण में रामेश्वरम्, पूर्व में पुरी एवं पश्चिम में द्वारिका—चार शंकराचार्य मठों की स्थापना की, जिनकी परम्परा आज तक भी चली आ रही है। फिर ११वीं-१२वीं शताब्दी में ब्रह्मसूत्र के अन्य भाष्यकार जैसे रामानुज आदि उत्पन्न हुए। उन्होंने अपने दार्शनिक मतों का प्रतिपादन किया, जिनमें भक्ति को मुख्य स्थान मिला। दार्शनिक आचार्यों के अतिरिक्त अनेक भक्त और सुधारक भी इस युग में पैदा हुए। तामिल (दक्षिण) देश में तो वैष्णव और शैव भक्तों का एक सिलसिला ही जारी रहा। वैष्णव भक्त वहाँ आलवार कहलाते थे और शैव-भक्त नायन्मार। इन भक्तों की तामिल रचनाओं का वेद और उपनिषद् की तरह आदर किया जाता है।

सातवाहन-युग में (१८४ ई० पू० से १७६ ई०) जिस सरल भक्तिमय पौराणिक पूजा का सूत्रपात हुआ था, गुप्त-युग में जिसका अधिक प्रचार हुआ था, वह अब साधारण जन के हृदय में और भी परिपुष्ट हो गयी। इस धार्मिक भावना का ललित कला से योग हुआ, स्थापत्य और मूर्तिकलाएँ अपने मनोरम रूपों में प्रकट हुईं। देवताओं के सुनहरे मन्दिर बनने लगे, उनका साज-शृंगार होने लगा, उनकी पूजा एक भारी और जटिल प्रपंच-सा हो गई। अनेक विशाल और भव्य मन्दिरों का निर्माण हुआ—मुसलमानों के आक्रमण प्रारम्भ

ाये थे, मन्दिर तोड़े जाते थे, फिर भी इनका निर्माण बन्द नहीं होता । इसी काल में आबू का प्रसिद्ध देलवाड़ा मन्दिर बना जो संगमरमर ारीक नक्काशी के काम में भारत भर में एक अनूठी रचना है। सा में भुवनेश्वर के मन्दिर, खजुराहो में चंदेल राजाओं के बनवाये :र, मालवे में उदयादित्य का मन्दिर, एवं अनेक पत्थर और काँस्य की र मूर्तियाँ बनीं। इस युग तक बृहत्तर भारत (सुमात्रा, जावा आदि) भारत का ही एक अंग माना जाता था। इस युग में बौद्ध राजाओं ावा द्वीप के बोरोबुदर स्थान में ऐसे अनोखे मन्दिर बनवाये जिनको र के तराशे हुए महाकाव्य कहा जाता है। ९वीं शताब्दी के अन्त ावा के शैव राजा दक्ष ने प्राम्बनन के मन्दिर बनवाये, जिन पर ायण की सारी कहानी मूर्तियों में चित्रित है।

ह्त्य और शिक्षा

कवि भवभूति जिसने करुण, रसपूर्ण, अद्वितीय 'उत्तर-राम-चरित' नाटक लिखा, इस युग में हुआ। कवियों और विद्वानों की परम्परा काश्मीर राज्य में भी चलती रही, वहाँ के कल्हण पंडित ने ११४९ में 'राजतरंगिणी' नामक काश्मीर का इतिहास लिखा जो भारतीय ह्त्य का एक रत्न माना जाता है।

उपरोक्त तत्त्वज्ञानी शंकर और रामानुज के अतिरिक्त बौद्ध दार्श- शांतरक्षित प्रसिद्ध हुए। इस युग में सर्वप्रसिद्ध विद्या का केन्द्र दा विश्वविद्यालय था जिसकी स्थापना गुप्तकाल में हुई थी। -८वीं शती में वहां ३५०० से ५००० तक विद्यार्थी पढ़ते थे। ोक्त बौद्ध दार्शनिक विद्वान् शांतरक्षित ने नालंदा विहार के नमूने तिब्बत में विहार स्थापित करवाया। एक क्षत्रिय राजा वीसलदेव ने मेर में एक विद्यालय बनवाया जो अब अढाई दिन का झोंपड़ा ाता है और जिसका अवशेष अब भी मौजूद है।

देशी भाषाएँ

भारत में आदि आर्ययुग की भाषा वैदिक थी। यह भाषा धीरे-धीरे नियमों के बंधन में जकड़ी गयी, इसका रूप संवारा गया और स्थिर किया गया। यह संस्कृत

कहलायी। वैदिक युग के बाद संस्कृत भाषा में हिन्दुओं का समस्त साहित्य और धर्मशास्त्र लिखे गये। किन्तु धीरे-धीरे जनसाधारण से यह संस्कृत भाषा दूर होती गयी, उनमें बोलचाल की भाषा के एक रूप का चलन होता रहा, जिसे प्राकृत कहते थे। जन-साधारण की प्राकृत भाषा में ही बुद्ध और महावीर के उपदेश हुए थे। प्राकृत भाषा भी नियमों के बंधन में जकड़ी गयी और उसका भी संस्कृत के समान व्याकरण बन गया। प्राकृत के बाद जनसाधारण में जिस बोल-चाल की भाषा का प्रचलन था वह अपभ्रंश थी। इसी अपभ्रंश भाषा से फिर धीरे-धीरे आधुनिक देशी भाषाओं—हिन्दी, बंगाली, गुजराती, मराठी आदि का विकास हुआ।

मध्ययुग में विद्यालयों में तो संस्कृत और प्राकृत मे लिखना-पढ़ना होता था किन्तु इसी युग में हमारी देशी भाषाओं में भी साहित्य की रचना शुरू हो गयी। ८४ सिद्धों के गीतों और दोहों में हिन्दी कविता का सबसे पहला नमूना है। दक्षिण के तामिल साहित्य का तो प्रारम्भ सात-वाहन-युग में ही हो गया था; तेलगु साहित्य १०वीं शताब्दी में प्रारम्भ हुआ। ८वीं शताब्दी में जावा की देशी भाषाओं में भी संस्कृत के प्रभाव से ग्रंथ लिखे जाने लगे।

सामाजिक और बौद्धिक जीवन

मध्ययुग तक प्राचीन परम्पराओं की स्फूर्ति के फलस्वरूप जातीय जीवन में समृद्धि तो बनी रही, किन्तु एक बात सबसे जबरदस्त हुई—वह थी बुद्धिद्वारों का अवरुद्ध होना। इस युग में विचारों की प्रगति और प्रवाह बन्द हो गया था, जीवन में स्फूर्ति का ह्रास होने लगा था, दृष्टि आगे की ओर नहीं किन्तु पीछे की ओर उन्मुख थी। इसलिए जीवन की प्रत्येक दिशा में—धर्म में, आचार-विचार में, सामाजिकता में संकीर्णता का आधिपत्य होने लगा। इस युग में जात-पांत की सृष्टि हुई, सामाजिक ऊँच-नीच के जितने दर्जे थे वे पथराकर जात-पांत बनने लगे। लोगों का स्वतन्त्र सामाजिक मिलन बन्द हो गया, उनका जीवन कूपमंडूक की तरह बन गया। फिर भी इस काल तक समाज

में स्त्रियों को पूरी स्वतन्त्रता थी। उनमें परदा नहीं था। विवाह बड़ी होने पर ही होता था। उनमें ललित कलाओं का प्रचार था। किन्तु बुद्धि, मानस एवं सामाजिक जीवन का प्रवाह रुक अवश्य गया था और उसमें गतिहीनता आ गयी थी।

मध्ययुगीय भारत (उत्तरार्ध)

(१२०६ ई० से १५२६ ई० लगभग ३०० वर्ष)

भारत में मुसलमानी राज्य की स्थापना—७वीं शती के आरम्भ में अरब में इस्लाम धर्म की स्थापना हुई और अपने नये जोश में इस्लाम के ख़लीफ़ाओं ने ७वीं-८वीं शतियों में पश्चिम में स्पेन से लेकर पूर्व में मध्य-एशिया तक अपना साम्राज्य स्थापित किया। जब इस्लाम इस तरह बढ़ रहा था तब संसार में कहाँ-कहाँ कौन-कौनसी जातियाँ बसी हुई थीं, इस पर एक विहंगम दृष्टि डालना, भारत में इस्लामी राज्य कैसे स्थापित हुआ इस घटना की पृष्ठभूमि को समझने के लिए आवश्यक है। उस समय भारत, बृहत्तर भारत, चीन, मध्य-एशिया, ईरान, पश्चिम-एशिया (अरब, सीरिया, फिलस्तीन, एशिया माइनर), मिश्र, उत्तरी अफ्रीका, यूरोप (ठेठ उत्तरी भागों को छोड़कर) इत्यादि देश सभ्य दुनिया में विशेष ज्ञात थे। अमेरिका, आस्ट्रेलिया एवं प्रशान्त महासागर के द्वीप-समूह इत्यादि सर्वथा अज्ञात थे। दक्षिण अफ्रीका अर्धज्ञात था। इन ज्ञात प्रदेशों में कौन-कौनसी जातियां बसी हुई थीं? यूरोप में प्राचीन रोम-साम्राज्य का पतन हो चुका था, केवल बलकान प्रायद्वीप के देशों में और ग्रीस में उसकी परम्परा बनी हुई थी। ये सब ईसाई देश थे। पश्चिमी यूरोप में नॉर्डिक आर्य जातियों का यथा टयूटनिक, गोथ, डेन्स, कैल्टिक इत्यादि का प्रसार हो रहा था। धीरे-धीरे उनके राज्य स्थापित हो रहे थे—और वे अपने आदि (Premitive) देव-पूजा के धर्म को छोड़कर धीरे-धीरे सब ईसाई बन चुके थे, या बनते जा रहे थे। फ़िलस्तीन, सीरिया, एशिया माइनर और मिश्र में सेमेटिक उपजाति के प्रायः यहूदी एवं ईसाई लोगों का वास था। चीन सभ्य चीनी जाति का देश था। यह जाति प्राचीन कनफ्यूशियस मत को मानने वाली

थी, इसमें बौद्धधर्म का भी प्रचलन हो गया था। मंगोलिया, और मंगोलिया से लेकर सीधे पश्चिम में यूरोप तक हूण, तुर्क असभ्य लोगों का तांता बँधा हुआ था। भारतवर्ष में प्राचीन आर्य लोग थे। ये प्रायः वैदिक या पौराणिक हिन्दू थे। यहाँ बौद्ध धर्म और जैन-धर्म का भी प्रचलन था। बृहत्तर भारत (सुमात्रा, जावा, कम्बोज, हिन्दचीन इत्यादि) में भी अधिकतर भारतीय आर्य बसे हुए थे जो वहाँ के आदि आग्नेय लोगों से हिल-मिल चुके थे। आधुनिक अफ़ग़ानिस्तान (काबुल, कंधार, ग़ज़नी) एवं पामीर (काश्मीर के उत्तर में मध्य-एशिया का भाग) प्रायः भारत के ही अंग माने जाते थे और यहाँ भारतीय हिन्दू राजाओं का राज्य था। पामीर के उत्तर में तुख़ारिस्तान (मध्य-एशिया) में शक जातियों के लोग (कुषिक, तुख़ार) बसे हुए थे। ये भी भारतीय आर्यों के सम्पर्क में आने से सभ्य हो चुके थे और वहाँ तिब्बती राजा होने लगे थे। भारत के इन निकट प्रान्तों में—तुख़ार प्रदेश, तिब्बत आदि में—बौद्ध धर्म का प्रचार था। ईरान प्राचीन ईरानी आर्यों का देश था। वे पारसी (जरथुस्त्र) धर्म को मानते थे।

सातवीं शती में प्रायः ज्ञात संसार की यह राजनैतिक, धार्मिक व जातिगत विभाजन की संक्षिप्त रूपरेखा खींच लेने के बाद, थोड़ा-सा यह भी यहाँ दुहरा लेना आवश्यक प्रतीत होता है कि ७वीं शती तक किन-किन भारतेतर जातियों के भारतीय आर्यों पर आक्रमण हुए थे और उनका क्या परिणाम हुआ था। सर्वप्रथम तो प्राचीन काल में ई० पू० ३२७ में ग्रीक अलक्ष्येन्द्र महान् का आक्रमण हुआ। वह पंजाब तक ही आकर लौट गया। उसके पश्चात् अलक्ष्येन्द्र द्वारा विजित भारत के समीपस्थ प्रान्तों के ग्रीक शासक सेल्यूकस का भारत पर आक्रमण हुआ किन्तु तत्कालीन भारत-सम्राट् चन्द्रगुप्त मौर्य के हाथों उसकी करारी हार हुई। फलतः कोई स्थायी ग्रीक राज्य भारत में स्थापित नहीं हुआ, परन्तु भारत समीपस्थ ग्रीक राज्यों के फलस्वरूप ग्रीक और भारत सभ्यता का, जो दोनों ही विकसित अवस्था में थीं, सम्पर्क बढ़ा। दोनों में पर्याप्त आदान-प्रदान हुआ। जो कोई भी ग्रीक भारत में बस

गये होंगे वे यहीं की सभ्यता और जीवन में समा गये ।

तदुपरान्त ईसा की प्रथम शताब्दी में मध्य-एशिया से शकों के (जो असभ्य आर्य ही थे—मंगोल या सेमेटिक उपजाति के नहीं) आक्रमण हुए । इन्हीं शक लोगों की एक शाखा के एक सरदार (देवपुत्र कनिष्क) का भारत के उतरी-पश्चिमी भाग में साम्राज्य भी स्थापित हुआ । किन्तु इसके बाद शक लोगों का और कोई आक्रमण नहीं हुआ और ये शक लोग जो आये और जिनका राज्य स्थापित हुआ वे सब भारतीय आर्य जीवन और संस्कृति में घुल-मिल गये ।

इसके बाद ५वीं शताब्दी के मध्य में क्रूर हूणों के (जो चीन के पश्चिम में मंगोल प्रदेश के मंगोलियन उपजाति के असभ्य लोग थे और जिन्होंने इन्हीं शताब्दियों में समस्त पूर्वीय यूरोप को भी आक्रान्त किया था) अनेक आक्रमण लगभग ५०-६० वर्षों तक उत्तर-पश्चिम भारत में हुए । उन्होंने मध्यदेश तक भी भयंकर लूटमार मचायी किन्तु उस समय के मालवा के राजा यशोधर्मा और गुप्त सम्राटों ने मिलकर छठी शताब्दी में उनको परास्त किया और उनकी शक्ति का पूर्णतः दमन किया । यदि कुछ हूण भारत में रह गये होंगे तो उनको भी आर्य संस्कृति ने अपने में मिला लिया ।

इसके बाद हम ७वीं शताब्दी में आते हैं । अरब के सेमेटिक लोगों में इस्लाम धर्म का उदय हुआ । कई प्रदेशों की विजय करते हुए लगभग ई० सन् ६५० में अरब के मुसलमानों के भारत के पश्चिमी तट पर सबसे पहले सामुद्रिक हमले हुए । अनेक हमले हुए किन्तु स्थानीय हिन्दू-राजाओं ने उन सब को विफल कर दिया ।

इसी समय अरबी मुसलमान ईरान की विजय कर रहे थे । ईरान के आर्य राजाओं को उन्होंने परास्त किया (६३६–३७) । तदुपरान्त फिर उनकी दृष्टि सिन्ध की ओर गयी । सिन्ध में उस समय हिन्दू राजा 'दाहिर' था । खलीफ़ाओं की ओर से अरबी मुसलमान सरदार मोहम्मद-बिन-कासिम ने सिन्ध पर आक्रमण किया (सन् ७१०–११ ई०) । हिन्दू-राजा दाहिर वीरता से लड़ा, किन्तु अन्त में परास्त हो गया । इस

पर भी उसकी रानी ने कुछ सेना एकत्रित की और जब तक बन सका आक्रमणकारियों का डटकर मुकाबला किया। अन्त में जब कोई आशा नहीं रही तो उसने बची हुई राजपूत स्त्रियों के साथ जौहर कर लिया। भारत में जौहर की यह पहली घटना थी। इस प्रकार सिन्ध पर ८वीं शती के आरम्भ में अरब के मुसलमानों का राज्य हुआ। अरबों ने सिन्ध से आगे बढ़ने के भी भरसक प्रयत्न किये किन्तु वे सब विफल हुए। ९वीं शती में अरब में ख़लीफाओं की शक्ति कम हो गई। उनका साम्राज्य टुकड़े-टुकड़े हो गया। सिन्ध में भी उनका शासन अधिक काल तक नहीं रहा। जो अरबी मुसलमान सिंध में बच गये, वे यहाँ घुलमिल गये। सिंध में इन अरबी मुसलमानों की अल्पकालीन विजय से भारत के राजनैतिक क्षेत्र में कुछ भी बुनियादी हलचल नहीं हुई। किन्तु हाँ, इससे दुनिया के सांस्कृतिक क्षेत्र में अवश्य एक बुनियादी प्रभाव पड़ा। अरब लोग प्रारम्भ में तो क्रूर थे, किन्तु ईरान और भारत के सम्पर्क ने उनको शीघ्र ही सभ्य बना दिया था। ख़लीफ़ा हारुनुलरशीद के समय में (७८६—८०९ ई०) बग़दाद में उसका दरबार भारतीय पंडितों से भरा था। अनेक अरब विद्यार्थी भारत में संस्कृत पढ़ने आये। संस्कृत के दर्शन, वैद्यक, ज्योतिष, गणित, इतिहास, काव्य आदि के अनेक ग्रंथों का अरबी में अनुवाद हुआ। और अरबों के द्वारा ही यह ज्ञान धीरे-धीरे यूरोप में पहुँचा। इस प्रकार अरबों ने पश्चिम और पूर्व में ज्ञान-प्रसार के लिए एक माध्यम का काम किया।

सीधे मूल अरबी मुसलमानों के आक्रमण से तो भारत में कोई भी राजकीय परिवर्तन नहीं हुआ किन्तु यह काम मध्य-एशिया के पठान और तुर्क लोगों द्वारा हुआ जो १०वीं-११वीं शती में मुसलमान हो गये थे।

ये पठान और तुर्क लोग कौन थे? पठान—भारत के पश्चिमोत्तर भाग में एवं मध्य-एशिया के दक्षिण भागों में, ईसाकाल से कुछ पूर्व बसने वाले तुख़ार लोगों का हम उल्लेख कर आये हैं, जो शक जाति के लोगों की ही श्रेणी के थे। ये सब लोग असभ्य आर्य ही थे। धीरे-धीरे

ये सब लोग बौद्ध या हिन्दू धर्मावलम्बी हो गये थे। इन्हीं लोगों में पठान एक जाति थी। ये भी सब हिन्दू थे। वस्तुतः चन्द्रगुप्त एवं अशोक-काल से ही कुछ अरसे तक भारत के उपरोक्त ग्रीक और शक एवं हूण शासकों को छोड़कर उत्तर और पश्चिम के प्रदेशों में भारतीय बौद्ध या हिन्दू-राजाओं का ही राज्य रहा था। १०वीं-११वीं शती में उपरोक्त पठान मुख्यतः अफ़ग़ानिस्तान के ग़ज़नी और ग़ौर के इलाकों में बसे हुए थे। इन इलाकों में ११वीं सदी में तुर्क मुसलमान महमूद ग़ज़नवी राजा हुआ, और उसी काल में प्रायः अफ़ग़ान हिन्दू (पठान) मुसलमान बने।

तुर्क—मंगोलिया प्रदेश के प्रायः मंगोल उपजाति के असभ्य हूण लोगों का जिक्र पहले हो चुका है, जिन्होंने समस्त पूर्वीय यूरोप, मध्य-एशिया और यहाँ तक कि भारत के सीमावर्ती प्रदेशों में आफ़त ढायी थी। इन्हीं हूण लोगों की एक शाखा तुर्क थी। इनका असली नाम असेना था और ५वीं शताब्दी में ये लोग कांसू प्रान्त में (मध्य-एशिया के उत्तर में) एक पहाड़ के नीचे रहते थे। उस पहाड़ की शक्ल एक फ़ौजी टोपी की-सी थी जिसे हूण भाषा में तुर्कु कहते हैं। इसी से वे लोग 'तुर्कु' या 'तुर्क' कहलाने लगे। ये ही तुर्क लोग मध्य-एशिया और पश्चिम एशिया की ओर फैले और ईरानी और तुखार लोगों के सम्पर्क में आये। इन प्रदेशों में इनकी शक्ति भी बढ़ी, और कहीं-कहीं इनके छोटे-छोटे राज्य भी कायम हुए। जो तुर्क मध्य-एशिया में आकर बस गये थे, धीरे-धीरे उनमें बौद्ध धर्म का प्रवेश हो रहा था।

तुर्की भाषा में संस्कृत के कई ग्रन्थों के अनुवाद भी हुए। वास्तव में मध्य-एशिया और पश्चिम-एशिया में आकर जो तुर्क लोग बस गये थे, अब वे पुराने हूण नहीं रहे थे। उनमें शकों, तुख़ारों और ईरानियों का आर्यरक्त मिल चुका था। ८वीं शती के प्रारम्भ में (७११ ई०) जब अरब सेनापति मुहम्मद-बिन-कासिम सिन्ध को जीत रहा था, उसी समय एक दूसरा अरब सेनापति कौतेवा (७०५–७१४ ई०) मध्य-एशिया में लड़ रहा था। उस समय तो चीनियों से मुकाबला होने पर अरबी मुसलमानों को सफलता नहीं मिली, किंतु उनके आक्रमण बराबर जारी रहे। ९वीं शती के

प्रारम्भ तक उन्हें सफलता मिली, और काबुल और ग़ज़नी में उनका शासन स्थापित हुआ। ऐसा होने पर पहले तो वे तुर्की लोग मुसलमान बने जो पश्चिमी भागों में बसे हुए थे। फिर तुख़ारिस्तान के तुर्क १०वीं शती के अन्त तक मुसलमान हो गये। पहले तो इन तुर्कों में जो सरदार लोग थे वे अरबों और ईरानियों के अधीन रहे, किन्तु बग़दाद की खलीफ़ा-शक्ति का क्षय होने पर वे सिर उठाने लगे और १०वीं एवं ११वीं शती के प्रारम्भ तक तो उनका एक ऐसा भयंकर बवण्डर पश्चिम की ओर टूट कर पड़ा कि उन सब प्रान्तों में (यथा पश्चिम-एशिया, सीरिया आदि) जहाँ अरबी खलीफ़ाओं की सत्ता थी, से सर्वत्र फैल गये और स्वयं सत्ताधारी बन गये।

इसी सिलसिले में और इसी काल में अलपतगीन नामक एक तुर्क ने ग़ज़नी में एक छोटे से राज्य की नींव डाली। यह राज्य धीरे-धीरे विस्तृत हुआ, यहाँ तक कि उसके पोते महमूद ग़ज़नवी (९९७ ई०–१०२९ ई०) के समय में यह राज्य पश्चिम में कास्पियन सागर तक फैला। इसी महमूद ग़ज़नवी ने, कहते हैं भारत पर १७ आक्रमण किये, जिनमें अन्तिम आक्रमण १०२३ ई० में सौराष्ट्र के प्रसिद्ध सोमनाथ मन्दिर पर हुआ, और वह भारत से अटूट धन-माल लूटकर अपनी राजधानी ग़ज़नी ले गया, जहाँ उसने अनेक भव्य महल और मस्जिदें बनवायीं। भारत के पश्चिमोत्तर के कुछ जिले महमूद के राज्य के अन्तर्गत हो गये किन्तु पंजाब के हिन्दू राजाओं के उस से बराबर लड़ते रहने के कारण पंजाब या भारत के किसी भाग पर उसकी राज्यसत्ता स्थापित न हो सकी। इसके दरबार में अल्बेरूनी नामक एक विद्वान् था जिसने पेशावर और मुलतान के पण्डितों से संस्कृत पढ़ी और भारतवर्ष के विषय में एक बड़ा ग्रन्थ लिखा।

इस प्रकार लगभग १००० ई० से प्रारम्भ होकर लगभग दो सौ वर्षों तक तो यही सिलसिला जारी रहा कि मुसलमान आक्रमणकारी आते थे और केवल लूटमार करके चले जाते थे। स्थायी मुसलमान राज्य भारत में शहाबुद्दीन ग़ोरी ने स्थापित किया। उपरोक्त ग़ज़नी का तुर्क राज्य महमूद के बाद धीरे-धीरे क्षीण हो गया था। ग़ज़नी से कुछ दूर ग़ोर नामक प्रदेश के

अलाउद्दीन नामक एक पठान सरदार ने ग़ज़नी पर आक्रमण किया । सात दिन तक ग़ज़नी को खूब लूटा और उसे जलाकर खाक कर दिया । इसी अलाउद्दीन की मृत्यु के बाद ग़ौर और ग़ज़नी का शासक शहाबुद्दीन बना । उसने भारत जीतने का संकल्प किया । जब शहाबुद्दीन ग़ौरी हिन्दुस्तान पर विजय करने के विचार में था उस समय समस्त उत्तरी भारत राजपूत राज्यों में विभाजित था । इन राज्यों में कहीं भी इस समझ और भावना वाले शासक नहीं थे और किन्हीं में भी यह राजनैतिक चेतना नहीं थी कि वे देखते कि उनके राज्य के बाहर भी, उनके देश के बाहर भी कुछ शक्तियाँ हैं, जिनका कुछ महत्त्व हो सकता है और जिनकी वजह से कुछ ऐसी हलचल पैदा हो सकती है जिसके भावी परिणाम की उन्हें कल्पना भी न हो । केवल शासक ही इस राजनैतिक और सामाजिक जागरूकता और दूरदर्शिता से हीन नहीं थे, उस समय की प्रजा भी सामाजिक और राजनैतिक चेतना से सर्वथा विहीन थी । उन सब की दृष्टि इतनी संकीर्ण हो चुकी थी कि वे अपने घर की चहारदीवारी के बाहर देख ही नहीं पाते थे । एक अजीब मानसिक एवं बौद्धिक शिथिलता उनमें घर कर चुकी थी । पुरानी लकीर पर चलने के अतिरिक्त कोई दूर की या नई चीज उन्हें सूझती ही नहीं थी । दृष्टि-शून्यता तो थी ही, साथ ही किसी भी प्रकार के व्यवस्थित, संगठित, सामाजिक एवं राजनैतिक जीवन के लिए कार्य-शून्यता भी ।

ऐसी परिस्थितियों में शहाबुद्दीन ग़ौरी के भारत पर आक्रमण प्रारम्भ हुए । ११८६ ई० तक उसने मुल्तान, लाहौर और सीमाप्रान्त अपने अधिकार में कर लिये । सन् ११९२ ई० में उसने दिल्ली के चौहान शासक पृथ्वीराज को पानीपत के पास तरावड़ी के मैदान में परास्त किया, और इस प्रकार दिल्ली पर उसका अधिकार हुआ । फिर ११९४ ई० में कन्नौज पर आक्रमण हुआ, और वह राज्य भी जीत लिया गया । इसके पश्चात् ग़ौरी के सेनापतियों ने ग्वालियर, कालिंजर, अजमेर और फिर ११९७ ई० में अवध, बंगाल और बिहार प्रदेशों को जीता । इस प्रकार उत्तर भारत में इस्लामी सल्तनत कायम हुई । शहाबुद्दीन अपने

दास (गुलाम) कुतुबुद्दीन को जो तुर्क था, भारत में हस्तगत किये प्रान्तों का शासक बनाकर ग़ज़नी की ओर लौटा, जहाँ १२०६ ई० में उसकी मृत्यु हुई। कुतुबुद्दीन भारत में विजित प्रान्तों का सन् १२०६ ई० में बादशाह बना। वह और उसके उत्तराधिकारी गुलाम वंश के बादशाह कहलाये। इस प्रकार सन् १२०६ ई० से भारत में बादशाहत प्रारम्भ हुई।

सन् १२०६ से १५२६ ई० तक अर्थात् लगभग ३०० वर्षों तक भिन्न-भिन्न वंशों के (यथा गुलाम, खिलजी, तुग़लक एवं लोदी) मुसलमान बादशाहों ने भारत में राज्य किया। इसका यह अर्थ नहीं कि इन ३०० वर्षों में भारत में कोई भी स्वतन्त्र हिन्दू राज्य रहे ही नहीं। केवल खिलजी वंश के बादशाहों के ज़माने में (१२८०–१३२५ ई०) भारत का यह तुर्क राज्य अपनी चरम सीमा पर था—जब सुदूर दक्षिण के कुछ भागों को छोड़कर समस्त भारत दिल्ली की सल्तनत के अधीन था। प्रायः इन कुछ वर्षों को छोड़कर उत्तर भारत के प्रान्तों में, यथा काश्मीर में, राजपूताना में, दक्षिण के अनेक प्रान्तों में स्वतन्त्र हिन्दू-राज्य कायम थे। इसके अतिरिक्त जब कभी दिल्ली की सल्तनत कमज़ोर पड़ जाती थी तो प्रान्तीय मुसलमान शासक भी अपने आपको स्वतन्त्र घोषित कर देते थे। इन ३०० वर्षों का राजनैतिक इतिहास इन्हीं दो विशेषताओं का बना हुआ है कि केन्द्रीय बादशाहों का राज्यकाल प्रायः हिन्दू-राजाओं या प्रान्तीय मुसलमान शासकों के साथ लड़ने में बीतता था, और केन्द्रीय बादशाहत के लिए सम्बन्धियों में अन्तर्विद्रोह चलता रहता था।

इसी युग में सन् १३९८ ई० में मंगोल तुर्क तैमूरलंग का भारत पर आक्रमण हुआ। उस समय देहली के सिंहासन पर महमूद तुग़लक था। तैमूर भयंकर आतंककारी मनुष्य था। पंजाब को पदाक्रांत करता हुआ वह देहली पर आया, तीन दिन तक खूब लूटमार की, खुले-आम लोगों का वध किया—इस प्रकार हज़ारों निरपराध नर-नारी मारे गये। अन्त में असंख्य कैदियों और लूट का धन लेकर वह वापस मध्य-एशिया

ट गया। केवल लूटमार करने को ही वह भारत आया था। किन्तु ाके पीछे दिल्ली राज्य विच्छिन्न हो गया और प्रायः समस्त देश स्वतन्त्र देशिक राज्यों में विभक्त हो गया। अब तुर्क सरदारों में दिल्ली का सन मानने की प्रवृत्ति नहीं थी, डेढ़ शताब्दी में वे भारतवर्ष के विभिन्न न्तों से परिचित हो चुके थे और भारत के बन चुके थे। प्रत्येक प्रान्त कुछ लोग मुसलमान हो चुके थे और बाहर से आये हुए तुर्क उनमें ा-मिल गये थे। अब जब वे अपने-अपने देश में निःशंकता से राज्य ? कर सकते थे, तो किसी भी केन्द्रीय शासक की अधीनता मानने की जरूरत नहीं समझते थे। इसी प्रकार अनेक हिन्दू-राज्य भी स्वतन्त्र गये। इस प्रकार १५वीं शती का (१३४८-१५०४) भारत का तहास प्रादेशिक राज्यों का इतिहास है। मुख्य प्रादेशिक राज्य ये —मेवाड़, बंगाल, जौनपुर, मालवा और गुजरात। दक्षिण भारत में महत्त्वशाली राज्य हुए—एक मुसलमान बहमनी राज्य, जिसका स्तार आधुनिक बम्बई प्रान्त और हैदराबाद की सीमाओं तक था और रा हिन्दू विजयनगर राज्य।

युग का भारतीय वन (१२०० ई० रे १५२६ तक)

यह ३०० वर्षों का भारतीय इतिहास का मध्यकाल, पठान या तुर्क राज्यकाल, हिन्दू सभ्यता की अधोगति का युग था। सचमुच यह देखकर आश्चर्य हो सकता है कि किस प्रकार मुसलमानी राज्य स्थापित होने के पूर्व समस्त देश के अन्दर आर्य राजाओं का राज्य होने पर भी विदेशी आक्रान्ताओं का धकार दिल्ली पर होकर प्रायः समूचे भारत में फैल गया। इस घटना समझाने के लिए प्रायः यह कहा जाता है कि ठंडे देशों के निवासी र मांसाहारी होने की वजह से मुसलमान हिन्दुओं से अधिक हृष्ट-पुष्ट हिन्दू-राजा युद्ध में अपने मंद हाथियों पर भरोसा करते थे जो लि तुर्क घुड़सवारों के मुकाबले में नहीं ठहरते थे, एवं हिन्दुओं में एकता ीं थी। इन बातों में तथ्य नहीं है। जैसा ऊपर बताया जा चुका है, पराजय का कारण था हिन्दू राजाओं और हिन्दू प्रजा के राजनैतिक

जीवन की मंदता, उनकी दृष्टि-संकीर्णता एवं उनमें उदार सामाजिकता का अभाव। सच बात तो यह है कि यदि हिन्दुओं का राजनैतिक जीवन मन्द न हो गया होता तो एक-एक हिन्दू राज्य अकेले ही शत्रु का मुकाबला कर सकता था। मुसलमानों के राज्य के पक्की तरह स्थापित हो जाने के बाद भी अनेक स्वतन्त्र हिन्दू राज्य थे। यदि उनमें राजनैतिक सचेष्टता और जागरूकता होती तो वे एक बड़ी शक्ति संगठित कर सकते थे। न जाने क्यों सामाजिक भावना का नितान्त अभाव हो गया था। यहाँ तक कहा जा सकता है कि यदि तुर्कों का राज्य भारत में स्थापित नहीं होता तो जहाँ-तहाँ छोटे-मोटे सरदारों और राजाओं की अनगिनत रियासतें खड़ी हो गई होतीं और देश में कहीं भी एकसूत्रता का पता नहीं लगता। इसके विपरीत मुसलमान मानो एक जाति के लोगों का दल था, जिनकी भाषा, जिनका आचार, रहन-सहन, मज़हब सब एक—उनमें नया जोश और नयी उमंग थी—सामाजिक मेल-जोल में कोई भेदभाव, कोई अन्तर नहीं था—और जहाँ जातीयता का प्रश्न आया कि वे एक साथ संगठित होकर काम करने लगे।

"(इस काल में) हिन्दू राजाओं ने जितनी लड़ाइयाँ लड़ीं, वे सब अपनी रक्षा के लिए थीं। कभी उन्हें आगे बढ़कर शत्रु पर चढ़ाई करने की नहीं सूझी। मुसलमान बादशाह यदि हमलों में हारे भी तो उन्हें अपने राज्य का कोई हिस्सा नहीं देना पड़ा, और यदि हिन्दू राजा उनके मुकाबले में जीते भी तो अधिक से अधिक अपना घर बचाने में ही सफल हुए। राजपूतों की जिस वीरता की बड़ी प्रशंसा की जाती है, वह वीरता सदा रक्षापरक युद्धों में ही प्रकट हुई। यह वीरता अपने अन्त को निकट देखकर निराश होकर मरने-मारने पर तुले हुए आदमियों की वीरता होती थी। उसमें महत्त्वाकांक्षा की वह प्रेरणा, विशाल दृष्टि का वह स्वप्न, वह ऊंची साध प्रायः नहीं होती थी जो मनुष्यों को नई भूमियाँ खोजने और जीतने के खतरे उठाने के लिए आगे बढ़ाती हैं। बेशक, कायर बनकर अधीनता मानने की अपेक्षा वैसी वीरता की मौत मरना भी अच्छा था। किन्तु वह बहादुरी का मरना ही था, बहादुरी का जीना नहीं कहा जा

सकता" (जयचन्द्र)। साथ ही साथ इस युग में राजपूत रमणियों के चामत्कारिक 'जौहर' व्रत के कई उदाहरण सामने आते हैं। जब राजपूत मुसलमानों से लड़ते-लड़ते ऐसी स्थिति में आ जाते थे कि उनकी विजय असंभव हो, तब वे केसरिया बाना पहनकर अपनी स्त्रियों को अन्तिम दर्शन दे युद्ध में धधकती अग्नि की लपटों की तरह फैल जाते थे और अन्तिम बार चमक कर भस्मीभूत हो जाते थे। साथ-साथ दूसरी ओर राजपूत रमणियाँ अपने पतियों के पीछे अग्निचिता प्रज्वलित कर अपने आप को उसी में भस्मीभूत कर लेती थीं। विश्व-इतिहास में मानवी जीवन के ऐसे चामत्कारिक दृश्य और कहीं देखने को नहीं मिलते।

भारतीय उपनिवेशों का अन्त

हिन्दू-राज्य-काल के मध्यकाल तक अर्थात् १२०० ई० तक, बृहत्तर भारत (सुमात्रा, जावा, हिन्दचीन इत्यादि) में भारतीयों के उपनिवेशों का जिक्र हम कर आये हैं। पठान राज्यकाल से अर्थात् १३वीं शताब्दी से हिन्दू जन कूपमंडूक के समान हुए, तभी से उनका सम्बन्ध इन सब उपनिवेशों से प्रायः सर्वथा टूट गया, और कुछ ही वर्षों में भारत यह भूल भी गया कि कभी उसका सम्बन्ध इन सब प्रदेशों से था भी कि नहीं।

सामंतशाही

इसी काल से भारत में भूस्वत्व की एक नयी प्रणाली चल पड़ी। वह नयी प्रणाली थी—सामंतशाही। अब तक कृषक अपनी उस भूमि का, जिस पर वह कृषि करता था, स्वयं स्वामी समझा जाता था। अब मध्य-युग से यह होने लगा कि जो तुर्क या अन्य विजेता आते थे वे विजय के बाद जमीन आपस में बाँट लेते थे या मुसलमान बादशाह विजेता अपने सामन्तों या सरदारों को जमीन या जागीरें बाँट देता था। तो मानो अब जमीन का मालिक बादशाह हुआ न कि किसान, या जमीन के मालिक वे सामन्त या सरदार हुए जिन्हें बादशाह जमीन दे देता था। प्रायः ऐसी ही सामन्तशाही का प्रचलन यूरोप में भी, मध्ययुग में हुआ।

इस्लामी आक्रमण के प्रारम्भ में प्रायः दो शताब्दियों तक तो इस्लाम एक विदेशी तत्त्व के समान रहा किन्तु १५वीं शती से प्रादेशिक मुस्लिम राज्यों की स्थापना के साथ-साथ इस्लाम भी भारत में विदेशी न रहा। तुर्क लोग तब तक भारतीय हो चुके थे और बहुत से भारतीय भी मुसलमान हो चुके थे। लोदी और अन्य पठान, भारतीय मुसलमान—अर्थात् हिन्दुओं से बने मुसलमान थे। वे विदेश के लोग नहीं थे और वास्तव में इस्लाम का उग्र प्रचार उन्हीं मुसलमानों ने किया था जो हिन्दुओं से बने मुसलमान थे, न कि मूल तुर्की मुसलमानों ने। हिन्दूकालीन मध्य-युग में जात-पांत का विकास हो चुका था और विवाह, खान-पान इत्यादि पर कड़े बंधन लग चुके थे। इस मध्य-युग में वे और भी परिपुष्ट हुए। वास्तव में बजाय इसके कि हिन्दू लोग अपने आचार-विचार के अवरुद्ध द्वार खोलते, जीवन में कुछ साहस, उदारता और ज़िन्दादिली बरतते, शुद्ध स्वतन्त्र वायु को अपने जीवन में प्रवाहित होने देते जिससे वे इस नयी इस्लामी हलचल को भी अपने में समा लेते, जैसे वे ग्रीक, शक और हूणों को अपने में समा सके थे—वे दिन प्रति-दिन अधिक-से-अधिक संकीर्ण होते गये और अपने आप में सिकुड़ते गये। उनके लिए जात-पांत, खान-पान, पाठ-पूजा और अपने धर्माचारों से बाहर कुछ नहीं बचा था, इसके साथ-साथ परदा और बाल-विवाह, जड़पूजा, वाममार्ग और अन्धविश्वास तथा कथित सिद्धों की असाधारण सिद्धियों में विश्वास—ये सब बातें हिन्दू मानस में बहुत दृढ़ हो गयी थीं। इस प्रवृत्ति के ख़िलाफ एक सुधार की लहर भी चली थी। वह लहर मुख्यतः संत लोगों ने चलायी थी जो प्रायः वैष्णव भक्त थे। इन लोगों ने बाह्याडम्बरों, जाति-पांति के भेद-भावों, पूजा-पाठों की बात छोड़कर केवल शुद्ध भक्ति-भाव, प्रेम और अन्तःकरण की शुद्धता पर ज़ोर दिया। मध्य-एशिया और ईरान में वैष्णव धर्म के सम्पर्क में इस्लाम में भी एक रहस्यवाद चला जिसके अनुभूतिकर्ता सूफ़ी कहे जाते थे। इस काल में ईरान में एक प्रसिद्ध सूफ़ी कवि हुआ जिसका नाम हाफ़िज था, जिसके

सामाजिक जीवन

काव्य का प्रभाव फ़ारसी भाषा-भाषियों पर अब भी है। इस काल में प्रेम और मधुर भक्ति-भावना की अनुभूति जन-जन में कराने वाले कई महात्मा हुए—यथा रामानन्द (१३७०—१४४० ई.) जिसने कृष्ण को छोड़ रामभक्ति को अपनाया, महात्मा कबीर (१३९९—१५१८ ई.) गुरु नानक (१४६९—१५३८ ई.), राजपूताना में दादूदयाल (१५४४—१६०३ ई.) और मीरा (१४९८—१५४६ ई.) बंगाल में चैतन्य महाप्रभु (१४८५—१५३३ ई.) महाराष्ट्र में नामदेव (१२७०—१३५० ई.)। इन सब भक्तों का धर्म अनुभूतिपरक था, आचारपरक नहीं। ये सब स्वयं-अनुभूत बात कहते थे,—(अनुभव गावे सो रागी है)—शास्त्र में पढ़ी-लिखी बात नहीं। इनकी वाणी मधुर कविता की अजस्र धारा में परिवर्तित होकर बह निकलती थी जो मानव हृदय को माधुर्य से आप्लावित कर देती थी,—जो आज भी लोक-मानस को आत्म-विभोर कर देती है। उस युग के जीवन में यदि कहीं सौंदर्य था तो बस यहीं—मानव मात्र की अमर बात ये कहते थे—व्यक्ति-विशेष, धर्म-विशेष, जाति-विशेष की नहीं।

कला-कौशल

वास्तव में १४वीं-१५वीं शती में प्रादेशिक राज्यों में ही कला-कौशल की विशेष उन्नति हुई। दिल्ली में जो कुतुब-मीनार है वह प्रथम मुसलमान बादशाह कुतुबुद्दीन की बनवायी हुई मानी जाती है। उस काल के प्रादेशिक हिन्दू व मुसलमान शासकों ने अनेक भवन, लाट, मस्जिदें, मन्दिर बनवाये जो उस काल की वास्तुकला के भव्य स्मारक हैं, जो विशेषतः मालवा, गुजरात और दक्षिण में मिलते हैं। मूर्तिकला का इस युग में ह्रास हुआ।

भाषा एवं साहित्य

जिन तुर्क मुसलमानों का आधिपत्य भारत पर हुआ, पहले ईरानी प्रभाव के सम्पर्क से उनकी भाषा फ़ारसी थी। मुसलमानी शासनकाल में फ़ारसी भाषा द्वारा समस्त राज्यकार्य किये जाने लगे। मुस्लिम दरबारों के इतिहास भी फ़ारसी में लिखे जाते थे। अतः संस्कृत का प्रचलन कम हुआ, किन्तु हिन्दू-राज्यों में हिन्दू-शास्त्रों और संस्कृत भाषा की

रक्षा होती रही। दक्षिण के हिन्दू-राज्य विजयनगर में दो बड़े विद्वान् हुए—मध्वाचार्य और सायणाचार्य। इन्होंने संस्कृत पुस्तकों के अनुवाद, सम्पादन और प्रकाशन के लिए एक मंडल बनाया था जिसमें बड़े-बड़े पंडित काम करते थे। सायणाचार्य द्वारा संपादित वेद ही आज वेदों के पाठ (Texts) के आधार हैं। वेदों को समझने के लिए उनके भाष्य का वैदिक साहित्य में एक महत्त्वपूर्ण स्थान है। याद रखना चाहिए कि यह सब काम हस्तलिखित होता था। इस समय संस्कृत का स्थान देशी भाषाओं ने ले लिया, देशी भाषाओं और साहित्य को प्रादेशिक राज्यों में खूब प्रोत्साहन मिला। मलिक खुसरो (१२५३—१३२५ ई०) ने खड़ी बोली में सब से पहले कविता की। बंगला भाषा के प्रसिद्ध कवि चंडीदास (१५वीं शताब्दी) मैथिली भाषा के विद्यापति (१३७५—१४४८ ई०) इसी काल में हुए। बंगाल के प्रादेशिक मुसलमान शाहों ने बंगला में भागवत और महाभारत के अनुवाद करवाये। १३वीं सदी के तामिल कवि कम्ब की रामायण तथा प्रसिद्ध कवयित्री मीरा, कवि कबीर और दादू का नाम पहले ही लिया जा चुका है—इन सब की सौन्दर्यमयी कृतियों से आधुनिक भाषाओं के साहित्य की अपूर्व समृद्धि हुई। वास्तव में हिन्दू हो या मुसलमान, उस समय सर्वसाधारण की बोली प्रादेशिक देशी भाषाएँ ही थीं,—न संस्कृत और न फ़ारसी।

इसी भारतीयमध्य युग (१२००–१५२६ ई०) की तुलना हम यूरोप के मध्ययुग (८००–१४५० ई० लगभग) से कर सकते हैं। सभ्यता की दृष्टि से देखें तो भारत यूरोप से अनेक-गुणा उन्नत स्थिति में था, किन्तु दोनों जगह राजनीतिक दृष्टि से सामन्तशाही थी, बुद्धि का द्वार अवरुद्ध था, धर्म में आडम्बर और संकीर्णता विशेष थी। यूरोप के लिए ऐसा होना स्वाभाविक था, क्योंकि वह तो असभ्य स्थिति में से धीरे-धीरे विकास कर रहा था, उसकी कोई प्राचीन परम्परा या संस्कृति नहीं थी। किन्तु भारत में ऐसा संकीर्ण युग आया, ऐसा अप्रगतिशील युग आया, यह एक आश्चर्यजनक घटना अवश्य है, क्योंकि इस देश के पीछे तो हज़ारों वर्षों की भव्य और उदात्त परम्परा और संस्कृति

थी। वास्तव में भारतीय इतना शिथिल और स्थिर हो चुका था कि जब १५वीं शती के मध्य से यूरोप ने तो करवट बदली भी और करवट बदल कर सहसा जागृत होकर ऐसा खड़ा हुआ और प्रगति-पथ पर अग्रसर हुआ कि कल्पनातीत ज्ञान का अबाध गति से वह सम्पादन करता गया। भारत प्रायः २०वीं शती के प्रारम्भ तक वहीं रहा जहां वह हिन्दू या इस्लामी मध्ययुग में था। यूरोपीय मानव की उपरोक्त जागृति के फलस्वरूप पुर्तगाली (यूरोप) नाविक वास्को-डी-गामा अफ्रीका का चक्कर काटता हुआ १४९८ ई० में भारत के पश्चिमी तट (मालाबार तट) पर स्थित कालीकट बन्दर आ पहुँचा। पुर्तगालियों ने वहां व्यापार प्रारम्भ किया—कई व्यापारिक कोठियां खोलीं। १५०३ ई० में कोचीन में अपनी कोठी की किलाबन्दी की। फिर १५१० ई० में बीजापुर राज्य से गोआ छीना और उसे अपने व्यापारिक क्षेत्र की राजधानी बनाया। आधुनिक काल में पश्चिम का भारत से यह प्रथम सम्पर्क था—यहीं से भारत पर यूरोप की प्रभुता के स्थापित होने का श्रीगणेश समझना चाहिये।

आठवाँ अध्याय

आधुनिक भारत

मुग़ल काल (१५२६—१७०७ ई० लगभग २०० वर्ष (बाबर से औरंगजेब तक) उसके पश्चात् मुगल साम्राज्य की परम्परा १८५७ ई० तक चलती रही, किन्तु नाममात्र के लिए)

भारत में १२०६ ई० से जो परम्परा इस्लामी राज्य की चली उसका अंतिम केन्द्रीय शासक इब्राहीम लोदी था। सन् १५२६ ई० में एक मुग़ल सरदार जिसका नाम बाबर था भारत पर चढ़ आया; पानीपत की लड़ाई में उसने इब्राहीम लोदी को परास्त किया और इस प्रकार १५२६ ई० में भारत में मुग़ल-साम्राज्य की नींव पड़ी। आज से लगभग ४०० वर्ष पूर्व मुग़ल राज्य की स्थापनाकाल से ही भारतीय इतिहास का वर्तमान युग माना जाता है। लगभग १६वीं शती

के आरंभ से ही यूरोप और चीन में भी वर्तमान युग की शुरुआत मानी जाती है।

भारत में मुग़ल साम्राज्य के प्रथम २०० वर्षों का काल यथा स्थापनाकाल से सन् १७०७ तक—बाबर, हुमायूँ, अकबर, जहाँगीर, शाहजहां और औरंगजेब का राज्यकाल शक्तिशाली साम्राज्य के उत्थान और देश में वैभव और समृद्धि का युग माना जाता है। इन सम्राटों में भी केवल सम्राट् अकबर का ही ऐसा व्यक्तित्व है जिसकी गणना विश्व-इतिहास के महान् सम्राटों में हो सकती है।

अकबर जब शासनारूढ़ हुआ तो उस समय मुग़ल राज्य केवल दिल्ली, आगरा और उसके समीपस्थ प्रदेशों तक ही सीमित था। पश्चिम में राजपूताने में राजपूत राजाओं के राज्य थे जिनमें प्रमुख थे—मेवाड़, मारवाड़, बीकानेर और आम्बेर (जयपुर), पूर्वी प्रांतों में पठान-काल के स्वतन्त्र पठान शासक थे, और दक्षिण में कई स्वतन्त्र हिन्दू और मुसलमान राज्य। किन्तु अकबर ने अपनी मानसिक (बौद्धिक) योग्यता और युद्ध-कौशल से सुदूर दक्षिण के कुछ प्रांतों को छोड़कर समस्त भारत को विजय कर एक राज्यसूत्र में बांध दिया। समस्त मुसलमानी काल में यही एक सम्राट् था जो यह समझ सका था कि भारत हिन्दुओं का देश है, अतएव हिन्दुओं से मिलकर, उनके साथ एकात्म होकर ही यहाँ पर कोई राज्य चल सकता है। अतएव उसने राजपूत राजाओं से कौटुम्बिक सम्बन्ध स्थापित किये, आम्बेर-नरेश की कन्या से विवाह किया, विशिष्ट राजपूतों को प्रान्तों का शासक नियुक्त किया, राजा मानसिंह को अपना सेनापति बनाया—उसी ने काबुल, कंधार, बंगाल, और दक्षिण के प्रान्तों को परास्त कर मुग़ल साम्राज्य का अंग बनाया। अकबर एवं अन्य मुग़ल सम्राटों द्वारा हिंदू-राजपूत राजाओं पर विजय के इस इतिहास में मेवाड़ के राणा प्रतापसिंह का अपनी स्वतन्त्रता के लिए मृत्यु पर्यन्त युद्ध करते रहना—मुग़लों की अधीनता स्वीकार नहीं करना, हिन्दू-जाति के इतिहास की एक रोमांचकारी गौरवमय गाथा है। स्वयं अकबर को—वह अकबर जिसके साम्राज्य के बराबर १६वीं शती

उत्तरार्ध में संसार में और कोई राज्य नहीं था—प्रताप की वीरता का लोहा मानना पड़ा, और उसके एक सेनापति अब्दुर्रहीम खानखाना ने तो प्रताप को यह लिखकर भेजा—"पतो (प्रताप) ने धन और देश त्याग दिया, किन्तु अपना सिर नहीं झुकाया। भारतवर्ष के समस्त राजाओं में केवल उसने अपनी जाति का मान स्थिर रखा है।"

भारतीय इतिहास के समस्त इस्लामी काल में केवल अकबर को हम एक राष्ट्रीय राजा कह सकते हैं। वह विचारशील व्यक्ति था, धर्म के मूलतत्त्वों को पाने की उसकी उत्कट इच्छा थी, अतएव अन्धविश्वास पर आधारित धार्मिक कट्टरता का वह विरोधी था। उसके राज्य-काल मे पूर्ण धार्मिक स्वतन्त्रता थी। आगरा शहर के पास फतहपुर सीकरी में उसने एक इबादतखाना (प्रार्थना-गृह) बनवाया जहाँ उस काल के सभी प्रमुख धर्मों के, यथा हिन्दू, जैन, पारसी, मुसलमान एवं ईसाई, शास्त्रज्ञ एकत्रित होते थे और अपने-अपने धर्म की विशेषताओं की चर्चा करते थे। ध्येय यही था कि विचार द्वारा सत्य तत्त्व तक पहुँचा जाय। इस्लाम के उस धार्मिक कट्टरता के काल में एक इस्लामी बादशाह के इस धर्म-समन्वय के कार्य के पीछे कितने साहस और आत्मबल की आवश्यकता हुई होगी, इसकी हम कल्पना कर सकते हैं। धार्मिक अनुदारता के उस जमाने में अकबर का यह समन्वयात्मक कार्य, जिस पर अनेक अंशों तक राष्ट्रीय एकता एवं अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति भी आधारित होती है, सफल नहीं हो सका, किन्तु इससे यह आभास अवश्य मिलता है कि अकबर का मानस कितना विकसित था और उसमें कितनी दूरदर्शिता थी।

अकबर का राज्य (१५५६-१६०५ ई०) आधुनिक ढंग से सुव्यवस्थित था। प्रजा उसमें प्रसन्न और सुखी थी। उसके राज्यकाल में कला, संगीत और साहित्य की खूब उन्नति हुई। वेद, रामायण और महाभारत के फारसी में अनुवाद हुए। फारसी में अनेक इतिहास-ग्रन्थ लिखे गये, जिनमें अकबर के एक राजदरबारी अद्वितीय विद्वान्, अबुलफजल द्वारा रचित 'आईने अकबरी' एक प्रमुख ग्रन्थ है। १६वीं शती के आरम्भ में ग्वालियर में एक संगीत-विद्यालय की स्थापना हुई,

उसी विद्यालय के प्रसिद्ध गायक तानसेन अकबर के दरबार के विशिष्ट सदस्य बने। चित्रकला में भारतीय शैली और ईरानी शैली के सामंजस्य से एक नई शैली का विकास हुआ। अकबर के ही राज्यकाल में आगरे के प्रसिद्ध लाल किले का निर्माण हुआ, तथा फतहपुर सीकरी के सुन्दर महल बने, एवं वृन्दावन में अनेक भव्य और विशाल हिन्दू-मन्दिरों का निर्माण हुआ। किन्तु इन सब बातों से परे और ऊपर एक घटना हुई—हिन्दी में अद्वितीय संत-साहित्य की रचना। उस साहित्य ने उस युग के जन-जन के हृदय को तो वशीभूत किया ही, किन्तु इतनी शताब्दियों बाद आज भी वह साहित्य जन-जन के हृदय में आनन्दमय रस का उद्रेक करता रहता है और युग-युग तक करता रहेगा। इस साहित्य के स्रष्टा थे सूरदास (१४७८-१५८३) और तुलसीदास (१५३२-१६३२ ई०)। सूरदास का सूरसागर, तुलसी का रामचरितमानस, विश्व-साहित्य के अनमोल ग्रन्थ हैं। यही काल इंग्लैंड के इतिहास का भी गौरवपूर्ण और समृद्ध युग था, जब वहाँ की शासनकर्त्री रानी एलिजाबेथ थी; और उस देश ने पैदा किया था विश्व-कवि और नाट्यकार शेक्सपीयर। और इसी काल में गुरु नानक (१४६९-१५३८ ई०) की परम्परा में ५वें गुरु अर्जुनदेव ने गुरुओं की वाणियों तथा अन्य संत-कवियों के वचनों का संकलन पंजाबी भाषा में एक ग्रन्थ के रूप में तैयार किया जो पंजाब की वीर सिक्ख-जाति का 'ग्रन्थ साहब' के नाम से धर्म-ग्रन्थ बना। इसी काल के कुछ बाद महाराष्ट्र में महान् भक्त-कवि तुकाराम (१६०९-१६५० ई०) और भक्त महापुरुष समर्थ रामदास (१६०८-१६८१ ई०) का उद्भव हुआ।

अकबर के बाद उसका पुत्र जहाँगीर (१६०५-२७) मुगल सम्राट् हुआ। यूरोपीय जातियों का पदार्पण भारत में होने लगा था और उन्होंने अपनी कई व्यापारिक कोठियाँ समुद्र-तटीय प्रदेशों में बना ली थीं, इसका उल्लेख पहले ही हो चुका है। जहाँगीर के राज्यकाल में इंग्लैंड के तत्कालीन राजा जेम्स प्रथम का दूत, जिसका नाम सर टामस रो था, भारत आया, और वह मुगल सम्राट् जहाँगीर से सन् १६१५ में अजमेर में

मिला। सर टामस रो ने सम्राट् से अपनी जाति (अंग्रेज़ों) के लिए भारत में व्यापार करने का परवाना लिया, और साथ ही अपनी बस्तियों में अपने कानून के अनुसार स्वयं शासन करने का अधिकार भी प्राप्त किया। फलतः अंग्रेजों ने सूरत में अपनी व्यापारिक कोठी खोली और धीरे-धीरे उन्होंने अपने व्यापार और सत्ता का विस्तार प्रारम्भ किया।

जहाँगीर के बाद उसका पुत्र शाहजहाँ (१६२७-५८) शासनारूढ़ हुआ। यह स्थापत्य, चित्रकला और संगीत की समृद्धि का युग था। शाहजहाँ ने अपनी साध्वी रानी मुमताज़महल की स्मृति में यमुना नदी के किनारे आगरे में भव्य इमारत 'ताजमहल' का निर्माण करवाया। संगमरमर में अंकित मानो यह मानव-हृदय की कविता है—मानव-प्रेम का प्रतीक। संसार के भवनों में यह एक अद्भुत कृति मानी जाती है। शाहजहाँ के राज्यकाल में मुगल-साम्राज्य का वैभव अपनी चरम सीमा तक निखर उठा था। उस वैभव को देखकर विदेशी चकित होते थे। यूरोपीय देशों में तब तक इतनी समृद्धि और इतने वैभव का नितान्त अभाव था, यद्यपि वे अब जागृत हो चुके थे और ज्ञान और कर्म के क्षेत्र में तीव्र गति से आगे बढ़ने लगे थे।

शाहजहाँ के बाद उसका पुत्र औरंगजेब (१६५८-१७०७) अपने भाइयों को कत्ल करके सम्राट् बना। राज्य-प्रबन्ध और विस्तार में, एवं देश की दो जातियों–हिन्दू और मुसलमानों–में एकदेशीयता की भावना उत्पन्न करने में जिस उदार नीति को अकबर और उसके बाद दो और सम्राटों ने बरता था, औरंगजेब ने उसे बदल दिया। इस्लामियत के कट्टरपन में उसने हिन्दुओं पर कुफ्र ढाहा और उनके धर्म पर आघात करना शुरू किया। एतदर्थ यद्यपि वह पराक्रमी, संयमी और कर्तव्यपरायण शासक था और यद्यपि उसने मुगल-साम्राज्य की सीमाएँ ठेठ दक्षिण तक बढ़ा दी थीं, तथापि उसने इस विशाल और समृद्ध साम्राज्य के विनाश के बीज अपनी नीति से बो दिये—अनेक अपने विरोधी पैदा कर लिये, जिनमें दक्षिण के मुसलमान राज्य भी थे—यहाँ तक कि यह साम्राज्य उसकी आँखों के सामने ही बोदा और दिवालिया हो गया। साथ ही साथ

इस काल में महाराष्ट्र में हिन्दुत्व की भावना से प्रेरित एक अपूर्व शक्ति का उदय हुआ। वह मराठा शक्ति थी, और उसका प्रवर्तक था महाराज शिवाजी। इस शक्ति ने तो मुगल साम्राज्य को चूर्ण कर दिया। सन् १७०७ में मराठों से लड़ते-लड़ते उनको परास्त करने की अपनी प्रबल इच्छा को पूरी किये बिना ही, जब औरंगजेब इस संसार से चल बसा तभी से मानो मुगल साम्राज्य का पतन हो गया। देश अनेक स्वतन्त्र प्रान्तों में विभक्त हो गया। वैसे सम्राटों की परम्परा और वंशावली तो १५० वर्षों तक (१८५७) तक चलती रही—किन्तु केवल नाममात्र को। देश में कई स्वतन्त्र राज्य होते हुए भी वास्तविक शक्ति और सत्ता सन् १८१८ तक तो मराठों में निहित रही और फिर अंग्रेज, जिन्होंने १८वीं शती के आरम्भ से ही इस देश में धीरे-धीरे जमना प्रारम्भ कर दिया था, इस विशाल देश के अधिपति बने।

मराठा राज्य-काल
(१७०७–१८१८)

हिन्दू मराठा-शक्ति के जन्मदाता महाराष्ट्र प्रदेश में उत्पन्न छत्रपति शिवाजी (१६२७-८०) थे, जिनमें हिन्दुत्व के गहन संस्कार, उनके बाल्यकाल में ही उनकी माता ने रामायण और महाभारत के चरित-नायक राम, कृष्ण, भीम और अर्जुन आदि की कथाएँ सुना-सुनाकर प्रतिष्ठित कर दिये थे। धीरे-धीरे महाराष्ट्र में शिवाजी ने अपना स्वतन्त्र राज्य स्थापित किया। औरंगजेब उस समय भारत का सम्राट् था। दक्षिण में औरंगजेब और शिवाजी की ठन गयी, किन्तु औरंगजेब अपनी असंख्य सेना और विशाल साम्राज्य के बल पर भी इस अदम्य सिपाही के पौरुष को दबा नहीं सका, और गौरिल्ला रण-नीति से महाराष्ट्र में छोटा-सा स्वतन्त्र और सुव्यवस्थित राज्य जो इसने स्थापित किया था, उसको मुगल सम्राट् अपने साम्राज्य में विलीन नहीं कर सका। १६८० ई० में शिवाजी के देहावसान के बाद शिवाजी के उत्तराधिकारी सुसंगठित मराठे निकटवर्ती मुगल-प्रदेशों पर आक्रमण कर-कर के अपने राज्य का विस्तार करते रहे, औरंगजेब वर्षों तक मराठों से जमकर लड़ता रहा, लाखों मुगल सैनिकों की क्षति हुई, दिल्ली का

खजाना खत्म हुआ, किन्तु मराठे परास्त नहीं हुए। मराठों को जीतने की अपनी अपूर्ण इच्छा को लेकर ही औरंगजेब की १७०७ ई० में मृत्यु हो गयी। उसकी मृत्यु के बाद कोई योग्य मुगल-सम्राट् नहीं हुआ, अतः मराठों की शक्ति में अभिवृद्धि होती रही, यहाँ तक कि लगभग सन् १७८०-९० तक भारतवर्ष का मध्य भाग, उत्तर में चंबल नदी से दक्षिण में कृष्णा नदी तक मराठों के अधीन हो गया। ५ बड़े-बड़े मराठा-राज्य स्थापित हुए जो एक महाराष्ट्र-संघ में सम्मिलित थे—(१) सितारा में शिवाजी के उत्तराधिकारियों का राज्य उनके ब्राह्मण मंत्री पेशवाओं की संरक्षकता में, (२) गुजरात में गायकवाड़ का राज्य जिसकी राजधानी बड़ौदा थी, (३) मालवा और इन्दौर में होलकर, (४) ग्वालियर में सिंधिया का राज्य, (५) और मध्य भारत तथा नागपुर में 'भौंसला' का राज्य।

मराठे अपने राज्यों के आसपास अन्य स्वतन्त्र राज्यों में भी चारों ओर चक्कर लगाते थे, तथा जबरदस्ती उनसे कर (चौथ) एकत्र करते थे। वास्तव में इस समय समस्त भारत में मराठों की तूती बोल रही थी। मराठों के हृदय में मुगलों को निकालकर दिल्ली में अपना राज्य स्थापित करने की बड़ी प्रबल इच्छा थी। मुगलों की शक्ति तो प्रायः क्षीण कर दी गयी थी, किन्तु उस समय भारतीय इतिहास से परे की एक घटना हो गई। उस समय ईरान का शासक अहमदशाह अब्दाली था। उत्तरी भारत पर लूटमार के लिए उसके आक्रमण हुआ करते थे। अब्दाली द्वारा विजित पंजाब प्रान्त में उसी का पुत्र शासक नियुक्त था। मराठों ने इसको मार डाला—फलस्वरूप अहमदशाह अपनी सम्पूर्ण शक्ति को एकत्र कर (लगभग ६० हजार सैनिक) मराठों से प्रतिकार के लिए भारत पर चढ़ आया। मराठे भी तैयार थे। पानीपत के मैदान में भयंकर युद्ध हुआ, और यद्यपि अब्दाली की बहुत क्षति हुई किन्तु अन्त में वह जीत गया। वह चाहता तो भारत में अपना स्वतन्त्र राज्य स्थापित कर सकता था किन्तु वह केवल प्रतिकार के लिए आया था, उसकी सेना में भी विद्रोह होने लगा था, अतः विजय के बाद केवल लूटमार करके

वह लौट गया। मुगलों की शक्ति का तो सर्वथा ह्रास हो ही चुका था, किन्तु इस युद्ध के बाद मराठों की शक्ति भी क्षीण हो गयी। फलस्वरूप यूरोप की व्यापारिक जातियों को जिन्होंने भारत में अपना पैर तो पहले से ही जमाना शुरू कर दिया था, स्थान-स्थान पर अपना प्रभाव जमाने का मौका मिला। बंगाल में अँग्रेजों ने धाक जमा ली और दक्षिण में फ्रांसीसियों ने। उत्तर भारत (पंजाब) में स्वतन्त्र सिक्खों ने अपने छोटे-छोटे राज्य स्थापित करने शुरू कर दिये और इधर राजपूत, जाट इत्यादि भी स्वतन्त्र छोटे-छोटे राज्य स्थापित करने में सफल हुए।

किन्तु मराठे फिर उठे। १० वर्ष में ही उन्होंने अपनी शक्ति का संचय किया और अपने प्रभुत्व का विस्तार किया। फिर एक बार वे दिल्ली आ पहुँचे और उनकी शक्ति का सम्मान भारत करने लगा। भारत में सम्पूर्ण प्रभुत्व के लिए इस समय तक यूरोपीय अँग्रेज जाति की शक्ति खूब बढ़ चुकी थी—बंगाल-बिहार तथा मद्रास में वहाँ की प्रादेशिक शक्तियों को एक-दूसरे से भिड़ाकर उसने धीरे-धीरे अपना राज्य कायम कर लिया था, सम्पूर्ण भारत में अपना एकाधिपत्य साम्राज्य-विस्तार कर लेने की उसकी महत्त्वाकांक्षा थी। भारत में इस समय मुख्यतया दो शक्तियाँ थीं, मराठे और अंग्रेज। दोनों शक्तियों की टक्कर हुई। निरंतर ३० वर्ष पर्यन्त संग्राम चला, अंग्रेजों ने यहाँ भी भेदनीति अपनायी। जैसा ऊपर कहा जा चुका है, ५ भिन्न-भिन्न मराठा राज्य थे जो एक संघ में संगठित थे, किन्तु इस संघ का बन्धन दृढ़ नहीं था। १८१७-१८ ई० में अन्तिम युद्ध हुआ जिसमें अन्त में मराठों की हार हुई। अंग्रेजों ने मराठा शक्ति का अन्त कर दिया—अतः भारत के समस्त मध्य भाग पर अंग्रेजों की सत्ता की तूती बोलने लगी। भारत में एक बार जो आशा उदित हुई थी कि हिन्दू मराठा समस्त विदेशी शक्तियों की महत्ता हटा भारत में एक केन्द्रीय साम्राज्य स्थापित करेंगे उसका हमेशा के लिए अन्त हो गया। सन् १८१८ में मराठों की हार के बाद केवल अंग्रेज ही भारत में एक शक्ति बचे और उन्होंने समस्त भारत पर अपना अधिकार कर लिया।

१८वीं शती का भारतीय समाज

इस काल को हम हिन्दू-पुनरुत्थान-काल मान सकते हैं । १५वीं-१६वीं सदियों में रामानन्द, कबीर, नानक, सूफी सन्त और फिर चैतन्य, मीरा, सूर, तुलसी, समर्थ रामदास और तुकाराम की वाणियों में जो धार्मिक उत्थान की भावना निहित थी, उसी के आधार पर हिन्दू-पुनरुत्थान-युग आया था, और १८वीं शती में महाराष्ट्र, ब्रज, पंजाब और नेपाल में एक राजनैतिक सचेष्टता, हिन्दू-साम्राज्य स्थापित करने की इच्छा प्रकट हुई थी जिसके फलस्वरूप दिल्ली-साम्राज्य पर मराठों द्वारा हिन्दू-साम्राज्य स्थापित होने को भी था, किन्तु अंग्रेज बीच में पड़ चुके थे ।

साहित्य और कला

१८वीं शती में दिल्ली, मेरठ (उत्तर-पांचाल) में खड़ी बोली (आधुनिक हिन्दी और उर्दू की आधार बोली) का विकास हो चुका था, और दिल्ली साम्राज्य के सहारे वह प्रायः समस्त भारत में समझी जाने लगी थी । अभी यह केवल बोली के ही रूप में थी, इसमें साहित्य का निर्माण नहीं हुआ था । हाँ, फारसी लिपि में लिखित खड़ी बोली में, जिसको उर्दू का नाम मिला था, कविताएँ लिखी जाने लगी थीं । अन्य देशीय (प्रांतीय) भाषाओं में मराठी को छोड़ किसी भी गद्य-साहित्य की रचना का प्रारम्भ नहीं हुआ था । जहाँ-जहाँ मराठों का राज्य पहुँचा था, वहाँ-वहाँ हिन्दू मन्दिरों का जीर्णोद्धार हुआ, एवं अनेक नये मन्दिरों का निर्माण भी । इस काल के काशी का विश्वनाथ मन्दिर, उज्जैन का महाकाल मन्दिर, अमृतसर का सिक्खों का गुरुद्वारा एवं जयपुर की वेधशाला उल्लेखनीय हैं ।

जनता का आर्थिक तथा सामाजिक जीवन

कृषक, कारीगर और व्यापारी जनता प्रायः खुशहाल और सुखी थी, यद्यपि राजविप्लव होते रहते थे । मराठा पेशवा की राजधानी पूना बड़ी घनी और फलती-फूलती नगरी थी । गाँवों में पंचायतें कायम थीं । महाराष्ट्र और बुन्देलखण्ड में

स्त्रियाँ वीर थीं। प्रत्येक मराठा और बुन्देली युवती को घुड़सवारी का अच्छा अभ्यास रहता था, किन्तु अन्य प्रांतों में स्त्रियों की दशा गिरी हुई थी। धार्मिक एवं सामाजिक संकीर्णता की वजह से हिंदू और मुसलमानों के जीवन में अभी तक एक अस्वाभाविक अन्तर बना हुआ था, जो अब तक भी है।

भारतीय जीवन में एक बार पुनरुत्थान की लहर उठी थी किंतु वह सफल नहीं हो पायी। इसके कई कारण थे। भारत में राष्ट्रीय भावना एवं संगठन का अभाव था। अंग्रेज जाति की प्रगति का आधार ही राष्ट्रीयता एवं सुदृढ़ राष्ट्रीय संगठन था। राष्ट्रीयता की भावना महाराष्ट्र में पर्याप्त जागृत थी, किंतु उसमें उचित विस्तार नहीं हो पाया था, वह देशव्यापी तो कभी भी नहीं हो पायी। राष्ट्रीयता की चेतना धुँधली थी। दूसरा कारण था भारतीयों में जागरूकता और जिज्ञासा का नितान्त अभाव, एवं सामाजिक और बौद्धिक संकीर्णता का साम्राज्य। यद्यपि वे यूरोपियन जाति के सम्पर्क में आ चुके थे, तथापि दुनिया में चारों तरफ क्या हो रहा है यह जानने की उनमें चेतना ही पैदा नहीं होती थी, दुनिया की बात तो दूर, उन्हें यही जानने की उत्सुकता नहीं रहती थी कि उन्हीं के देश के कोने-कोने में क्या हो रहा है। इस देश में रहने वाले पण्डित-ज्ञानियों की अपेक्षा विदेशियों को इस देश का अधिक ज्ञान था। साधारण जन की तो बात ही क्या ? यूरोप में व्यावसायिक क्रान्ति हो चुकी थी। अनेक आश्चर्य-जनक मशीनों के उत्पादन के यांत्रिक साधनों का, आधुनिक जहाज-रानी का, तोप, बन्दूकों का एवं पुस्तकों की छपाई का आविष्कार हो चुका था, स्वयं तो इस कार्य-क्षमता की ओर प्रवृत्त होने की बात को जाने दें, उनमें दूसरों द्वारा इन आविष्कृत चीजों को अपनाने की भी आकांक्षा नहीं होती थी। यह नहीं कि भारत में होशियार कारीगर न हों, एक से एक होशियार कारीगर थे, नये काम को अपनाने की भी उनकी क्षमता थी, किन्तु संगठित रूप से कुछ कर गुजरने की लहर

पैदा नहीं हुई थी। वास्तव में लोग शिथिल, जिज्ञासाहीन दृष्टि-शून्य-से महानिद्रा में सोए हुए थे।

अंग्रेजी राज्य-काल (१८१८-१९४७ लगभग १२५ वर्ष)

पश्चिम से संपर्क—१५वीं शती के उत्तरार्ध में यूरोप में नव जागृति की लहर उठी। उसके पूर्व यूरोप मध्ययुग के प्रायः अंधकारमय युग में विलीन था। उसने तब तक (प्राचीन ग्रीस और रोम को छोड़कर जिनकी सभ्यता विलीन हो चुकी थी) न तो उस समृद्धि के न उस ज्ञान-विज्ञान के दर्शन किये थे जिसको भारत अपने इतिहास के गुप्त युग (५-६ शताब्दी) में एवं चीन तांग-राज्य-काल में देख चुका था। किन्तु गुप्त युग के बाद भारत में धीरे-धीरे जीवन और विचारधारा में स्फूर्ति और मौलिकता का ह्रास होता गया, धीरे-धीरे संकीर्णता, स्थिरता और जड़ता आने लगी। वस्तुतः भारत के गुप्त युग के बाद लगभग १००० वर्षों तक समस्त संसार मानो गतिहीन सा था; उसे ज्ञान-विज्ञान में जो कुछ गुप्त युग तक प्राप्त हो चुका था उसके आगे उसने कुछ भी नयी उदभावना एवं प्रगति नहीं की थी। एक हजार वर्षों की सुषुप्ति के बाद ज्ञान-विज्ञान में नयी अन्वेषणाओं तथा प्रगति का तार केवल यूरोप के नव जागृत समाज ने १५वीं-१६वीं शताब्दी में पकड़ा, शेष सब देश अपने पुराने वैभव की स्मृति में निश्चिन्त सो गये—विश्व और प्रकृति की ओर से आँखें मूँदकर, मानो जो कुछ ज्ञान उनके पुरखा संपादन कर चुके थे, उसके आगे न तो कुछ जानने को था, न कुछ करने को। संकीर्णता, साहस-विहीनता एवं सीमित दृष्टि उनके जीवन की विशेषताएँ बन गयीं। धार्मिक सुधारकों द्वारा भावात्मक उत्थान की लहर अवश्य कभी-कभी आयी, किन्तु अपने दायरे से बाहर निकलकर क्रियात्मक भूमि पर कुछ कर गुजरने की स्फूर्ति नहीं।

अस्तु, जैसा अन्यत्र उल्लिखित हो चुका है, १४९२ ई० में नाविक कोलम्बस ने नयी दुनिया अमेरिका का पता लगाया और १४९८ ई० में पुर्तगीज नाविक वास्को-डी-गामा ने अफ्रीका का चक्कर काटकर भारत का नया सामुद्रिक मार्ग ढूँढ निकाला। उसने भारत के बन्दरगाह कालिकट

में अपना बेड़ा डाला, और उस प्रदेश के शासक से पुर्तगालियों के लिए व्यापार करने की आज्ञा ले ली। वैसे तो भारत का यूरोप से व्यापार प्राचीन काल से ही होता आया था किन्तु वर्तमान युग में यूरोपीय देशों के लोगों से भारत का यह प्रथम सीधा सम्पर्क था। अतिप्राचीनकाल में भारतीय व्यापारी भारत के पश्चिमी किनारे से फारस की खाड़ी होते हुए मेसोपोटेमिया और एशिया माइनर तक व्यापारिक सामान ले जाते थे और फिर वहाँ से ग्रीस और रोम। सातवाहन और गुप्तकाल में व्यापारिक सामान अरब सागर से मिस्र देश के उत्तर में रूम सागर होता हुआ रोम, वेनिस और जेनोआ को जाता था। उसी काल में एक तीसरा मार्ग था जो मध्य एशिया होकर काला सागर होता हुआ कुस्तुन-तुनिया जाता था। किन्तु ७वीं-८वीं शती में अरबों के उत्थान के बाद फारस की खाड़ी और अरब सागर के सामुद्रिक रास्तों पर अरवी वेड़ों ने अपना अधिकार कर लिया. अतः भारत और यूरोप का सीधा सम्पर्क नहीं रहा—अरबों के माध्यम द्वारा ही अब वह सम्भव था। १०वीं-११वीं शती में मध्य एशिया के मार्गों पर तुर्कों का अधिकार हो गया, अतः उस रास्ते से भी भारत और यूरोप का सीधा सम्पर्क नहीं रहा था। इस प्रकार १५वीं-१६वीं शती में चाहे भारत यूरोप से परिचित था, किन्तु अनेक वर्षों से उसका यूरोप के देशों से कोई सीधा सम्पर्क नहीं था। यह सीधा सम्पर्क स्थापित हुआ उपरोक्त घटना से जब १४९८ ई० में वास्को-डी-गामा ने भारत का नया सामुद्रिक रास्ता ढूँढ निकाला। तभी से यूरोपीय व्यापारियों का, साहसी नाविकों का, भारत में तांता-सा बंध गया जिसने यहाँ के इतिहास की गति ही मूलतः बदल दी। सबसे पहले वास्को-डी-गामा के देशवासी पुर्तगीज ही आए, उन्होंने कई बन्दरगाहों पर व्यापारिक कोठियाँ स्थापित कीं, गोआ, डामन और ड्यू पर अपना अधिकार स्थापित किया जो आज तक है, और भारत में एक साम्राज्य स्थापित करने की महत्त्वाकांक्षा वे रखने लगे। बम्बई पर भी उन्होंने अपना अधिकार कर लिया था, किन्तु पुर्तगाल के बादशाह ने यह बन्दर अंग्रेज बादशाह चार्ल्स द्वितीय को अपनी पुत्री के दहेज में दे दिया था।

पुर्तगालियों की देखा-देखी यूरोप की अन्य जातियों, यथा हॉलैंड के डच, फ्रांस की फ्रेंच और इंग्लैंड की अंग्रेज जाति भी भारत में व्यापार के लिए आयीं। केवल भारत में ही नहीं किन्तु समस्त पूर्वीय देशों में यथा लंका, मलाया-प्रायद्वीप, पूर्वी द्वीप-समूह, चीन और जापान में ये जातियाँ अपना व्यापार और धीरे-धीरे अपना साम्राज्य जमाने के लिए अग्रसर हुईं। सब ही जब धन कमाने और राज्य-सत्ता कायम करने निकले तो परस्पर विरोध होना स्वाभाविक था। इन जातियों में इन्हीं के देशों में एवं उन पूर्वीय देशों में जहाँ जाकर इनके व्यापारी बस गये थे, अनेक वर्षों तक अनेक युद्ध हुए; अन्त में ये जातियाँ पूर्वीय देशों में--कोई कहीं और कोई कहीं--अपना स्थायी राज्य कायम करने में सफल हुई। भारत में डच, फांसिसियों और अंग्रेजों की परस्पर कशमकश के बाद अन्त में अंग्रेजों का साम्राज्य स्थापित हुआ।

अंग्रेजी राज्य

सबसे पहला अंग्रेज़ जिसने भारत-भूमि पर पदार्पण किया, टामस स्टीफेन्स था। १५७९ ई० में वह गोआ जसुइट विश्वविद्यालय का रेक्टर नियुक्त किया गया था। यहाँ से उसने भारतीय भूमि, धनधान्य, समृद्धि और जीवन के विषय में अनेक पत्र अपने पिता के पास भेजे थे। उनका इंग्लैंड की जनता पर बहुत प्रभाव पड़ा, फलस्वरूप कई अंग्रेजों ने व्यक्तिगत रूप से भारत की यात्रा की और इस देश की कुछ जानकारी प्राप्त की। इन्हीं बातों से प्रभावित होकर ३१ दिसम्बर सन् १६०० के दिन इंग्लैंड में लन्दन के कुछ व्यापारियों ने महारानी एलिजाबेथ की आज्ञा से पूर्वीय देशों से व्यापार करने के लिए ईस्ट इंडिया कम्पनी की स्थापना की। कम्पनी का भारत से सर्वप्रथम व्यापारिक संपर्क १६१५ ई० में हुआ जब इंग्लैंड के तत्कालीन राजा जेम्स प्रथम का दूत सर टामस रो भारत-सम्राट् जहाँगीर से अजमेर में मिला और उसने स्वीकृति ली अपनी जाति के लिए भारत में व्यापार करने की, एवं अपनी बस्तियों में अपने ही कानूनों के अनुसार व्यवस्था करने की। ईस्ट इण्डिया कम्पनी ने शनैः-शनैः भारत में अपना व्यापार और अपनी बस्तियाँ फैलाईं। इसी

कम्पनी की पहली कोठी सूरत में स्थापित हुई। सन् १६४० में अंग्रेजों ने चन्द्रगिरि के राजा से मद्रास खरीदा और वहाँ सेंट जार्ज नामक किला बनाया और सन् १६६२ ई० में कम्पनी ने बम्बई टापू अपने बादशाह चार्ल्स द्वितीय से जो उसे पुर्तगाली बादशाह द्वारा दहेज में मिला था १० पौंड वार्षिक कर पर ले लिया। थोड़े ही काल में कम्पनी का व्यापार अहमदाबाद, सूरत, बंगाल, उड़ीसा, मद्रास, बम्बई आदि प्रमुख स्थानों में फैल गया।

सन् १७०७ में मुगल-सम्राट् औरंगजेब की मृत्यु के बाद भारत के राजकीय संगठन में विश्रृंखलता आ गयी। अनेक स्वतन्त्र राज्य खड़े हो गये—देश में अशांति छा गयी। अंग्रेजों ने इस अशांति का लाभ उठाया और धीरे-धीरे कम्पनी अपना व्यापार ही नहीं, किन्तु अपनी राजसत्ता भी बढ़ाने लगी। उनका तरीका यही था कि एक प्रादेशिक शासक को दूसरे प्रादेशिक शासक से लड़वा देना, स्वयं किसी एक पक्ष की मदद कर देना और विजित राज्य पर अपनी व्यवस्था और अधिकार स्थापित कर लेना। इस प्रकार अंग्रेजों ने सन् १७५७ ई० में बंगाल के अमीर को प्लासी के युद्ध में परास्त किया, सन् १७६४ में अवध के नवाब को बक्सर के युद्ध में परास्त किया, सन् १७६५ में मुगल सम्राट् शाह-आलम से बंगाल की दीवानी हासिल की। इस प्रकार भारत में अंग्रेजी राज्य की नींव पड़ गयी। भारत में एक ऐसी शक्ति का जो अंग्रेजों की बढ़ती हुई सुसंगठित और सुव्यवस्थित शक्ति से टक्कर लेती, विकास हो चुका था, और यह थी मराठा शक्ति। किन्तु इस शक्ति की भी अंत में सन् १८१८ ई० की अंग्रेजों के साथ लड़ाई में पराजय हुई, और वह सर्वथा ह्रास को प्राप्त हुई। इस प्रकार मराठों की पराजय के बाद १८१८ ई० में अंग्रेजी सत्ता और शक्ति भारत में निर्विरोध, निश्शंक शेष रह गयी। अतः भारत में अंग्रेजी साम्राज्य की अविरोध और स्थायी स्थापना हम १८१८ ई० से ही मानते हैं—जब तक सीधे या उनके संरक्षण में भारत के प्रायः सभी भागों पर उनका आधिपत्य हो चुका था। इस प्रकार भारतीय अंग्रेजी राज्य के काल को हम ३ भागों में

विभक्त कर सकते हैं। (१) १७६५-१८१८ अंग्रेजी राज्य की नींव पड़कर कम्पनी द्वारा साम्राज्य-विस्तार का युग। (२) १८१८ से १८५७ तक अंग्रेजी साम्राज्य का वह युग जब देश के समस्त अंग्रेजी प्रांतों की राजकीय व्यवस्था ईस्ट इंडिया कम्पनी के हाथों में रही। सन् १८५७ ई० में भारत में अंग्रेजों के विरुद्ध एक देशव्यापी विद्रोह हुआ, जिसके नेता अत्याचार-पीड़ित राजा तथा नवाब थे और जिसमें भारतीय सैनिकों ने उनका साथ दिया था। अंग्रेजों की जान-माल की भारी क्षति हुई किन्तु अन्त में उनकी विजय हुई। गदर के समाप्त होते ही पार्लियामेंट ने कम्पनी से देश का राज्याधिकार छीनकर अपने हाथ में ले लिया। (३) १८५८ से १९४७ तक नवभारत का शासन-भार इंगलैंड के बादशाह के नाम पर इगलैंड की पार्लियामेंट ने संभाला, और वहाँ का सम्राट् भारत का महाराजाधिराज (Emperor) कहलाया। ब्रिटिश पार्लियामेंट भारत का शासन भारत में वायसराय और बाद में वायसराय के अधीन प्रांतों में गवर्नर नियुक्त करके करने लगी।

अंग्रेजी राज्य का भारतीय जीवन पर प्रभाव

प्राचीन देश भारत में १७वीं शताब्दी के आरम्भ में ५००० मील दूर से व्यापारियों के रूप में अंग्रेजों का आना, देश में अपने व्यापार की अभिवृद्धि करना और साथ ही शनैः-शनैः राजकीय सत्ता स्थापित करते जाना, यहाँ तक कि १९वीं शती के आते-आते (१८१८ से) समस्त भारत में एकाधिपत्य साम्राज्य स्थापित कर लेना—यह भारत के इतिहास की एक अपूर्व घटना है। इससे पूर्व भी भारत में साम्राज्य स्थापित हुए थे—प्राचीन काल में अशोक का साम्राज्य, मध्यकाल में तुर्कों का साम्राज्य, आधुनिक काल के प्रारम्भ में अकबर तथा मुगलों का साम्राज्य किन्तु यह एक तथ्य है कि किसी भी साम्राज्य में इतनी राजकीय (शासनात्मक), संगठनात्मक, एवं व्यवस्थात्मक एकता नहीं आयी थी जितनी ब्रिटिश राज्य-काल में। इसके तीन कारण थे, पहला तो यातायात और आवागमन के आधुनिक वैज्ञानिक साधनों में, यथा रेल, तार, डाक, टेलीफोन में अभूतपूर्व वृद्धि

और उनका कुशल संगठन और प्रबन्ध। शासन में एकता स्थापित करने में यह एक साधन था जो पूर्ववर्ती साम्राज्यों को उपलब्ध नहीं था, क्योंकि रेल, तार, डाक संबन्धी वैज्ञानिक आविष्कार १९वीं सदी से पहले संसार में नहीं हो पाये थे। दूसरा कारण था अंग्रेज शासकों में बड़े-बड़े संगठन करने और व्यवस्था बैठाने की अपूर्व शक्ति और कार्य-कुशलता जिसमें शिथिलता और आलस्य का लेश मात्र न हो, और इनसे भी अधिक तीसरा कारण था उनके चरित्र में अनुशासन की भावना, और जातीय (देश) प्रेम।

अंग्रेजी राज्य में प्राचीन और शिथिल भारत पर सर्वथा एक नयी सभ्यता, नयी भावना और एक नये दृष्टिकोण की चोट पड़ी। मानवता के पूर्वीय और पश्चिमी छोर एक-दूसरे के सम्पर्क में आये। यदि ऐसा न होता तो शायद यह मानवता के विकास में ही बाधा होती।

अंग्रेजी राज्य-काल में भारतीय सामाजिक जीवन की कहानी एक सतत परिवर्तन की कहानी है, चाहे परिवर्तन की वह गति इतनी तेज नहीं रही जितनी होनी चाहिये थी।

भाषा, साहित्य एवं धर्म

प्राचीन हिन्दूकाल में शासन और साहित्य की भाषा संस्कृत थी। प्रायः ११वीं-१२वीं शती तक राज्य-शासन की एवं साहित्य की भाषा संस्कृत रही यद्यपि प्राकृत अपभ्रंश और आधुनिक भाषाएँ जन-साधारण की भाषाएँ रहीं। मुसलमानी मध्यकाल एवं मुगल-साम्राज्य-काल से (१३वीं शती से १८वीं शती तक) राज्य-शासन की भाषा फारसी किन्तु जन-साधारण की बोलचाल की भाषा प्राकृत से उद्भूत पहले अपभ्रंश और फिर देशी भाषाएँ रहीं—यथा बंगाली, मराठी, गुजराती, हिन्दी इत्यादि। अंग्रेजी राज्यकाल में शासन एवं उच्च शिक्षा की भाषा अंग्रेजी हुई। वैसे तो अंग्रेज भारत में व्यापार करने आये थे, किन्तु ऐतिहासिक परिस्थितियाँ अनुकूल होने के कारण उनका राज्य यहाँ स्थापित हो गया, और एक बार राज्य स्थापित होने पर तो, अपने आर्थिक लाभ के लिए हर हालत में उसे कायम रखना उनका मुख्य

उद्देश्य बन गया, किन्तु फिर भी ब्रिटिश पार्लियामेंट के, जिसका नियंत्रण कम्पनी पर रहता था, अनेक सदस्य सुसंस्कृत थे, मानव-जाति में ज्ञान की अभिवृद्धि और प्रसार हो ऐसी विशालता उनकी दृष्टि को छू गयी थी। उनके प्रभाव में ब्रिटिश पार्लियामेंट ने १८१३ ई० में कम्पनी को आदेश दिया कि वह एक लाख रुपया भारतीय साहित्य के पुनरुत्थान एवं सुधार के लिए, भारतीय विद्वानों को प्रोत्साहन देने के लिए, भारत में अंग्रेजी राज्य के अधीन लोगों में विज्ञान की शिक्षा की शुरुआत और विकास के लिए खर्च करे। फलतः १८१५ ई० में कलकत्ता में हिन्दू कालेज की स्थापना हुई, १८१८ ई० में सीतारामपुर कालेज की नींव डाली गयी; इसी वर्ष एक अंग्रेजी समाचारपत्र का प्रकाशन प्रारम्भ किया गया। देश का यह पहला समाचारपत्र था, १८७७ ई० के आते-आते तो अंग्रेजी एवं देशी भाषाओं को मिलाकर १०० से भी अधिक समाचारपत्र निकलने लगे थे। इंगलैंड में पहला दैनिक पत्र १७०२ ई० में निकला था—इसका नाम 'दी डेली करैन्ट' (The Daily Courant) था। लार्ड डलहौजी के राज्यकाल (१८२७-१८३४ ई०) में कई अन्य अंग्रेजी विद्यालय खोले गये किन्तु फिर भी शासकों के सामने वह प्रश्न समस्या के रूप में खड़ा ही रहा कि शिक्षा में पूर्वीय विद्याओं का प्राधान्य हो या अंग्रेजी भाषा एवं पाश्चात्य ज्ञान-विज्ञान का। कई वर्षों तक इस प्रश्न पर वाद-विवाद होते रहे, अन्त में लार्ड मैकाले की प्रेरणा से, जो एक अत्यन्त मेधावी व्यक्ति थे, १८३५ ई० में यह निर्णय हुआ कि शिक्षा का आधार अंग्रेजी भाषा एवं पाश्चात्य ज्ञान-विज्ञान हो। फलतः अनेक एंग्लोवर्नाक्यूलर स्कूल खोले गये और अन्त में १८५७ ई० में लंदन विश्वविद्यालय के आधार पर कलकत्ता, बम्बई तथा मद्रास में विश्वविद्यालयों की स्थापना की गयी। प्राचीन काल में तक्षशिला (ई० पू० लगभग ७वीं शताब्दी से ईस्वी सन् की पहली-दूसरी शताब्दी तक) एवं नालंदा (ईस्वी सन् की चौथी-पाँचवीं शताब्दियाँ) विश्वविद्यालयों की परम्परा के नष्ट हो जाने के बाद, आधुनिक काल में अपनी ही विशेषताओं एवं आधुनिक दृष्टिकोण को लिये हुए भारत में

ये ही आरम्भिक विश्वविद्यालय थे। यूरोप में सर्वप्रथम विश्वविद्यालयों की स्थापना १२-१३वीं शताब्दियों में हुई थी--११५८ ई० (?) में इटली के बोलोगना विश्वविद्यालय की; १२५३ ई० में सोरबोन (पेरिस) विश्वविद्यालय की, एवं १२वीं ही शताब्दी में इंगलैंड के प्राचीनतम विश्वविद्यालय ऑक्सफोर्ड की; १३वीं शताब्दी के आरम्भ (१२६० ई०) में कैम्ब्रिज की। १५०० ई० तक यूरोप में ७६ विश्वविद्यालय स्थापित हो चुके थे। भारत में फिर १८८७ ई० में इलाहाबाद (प्रयाग) विश्वविद्यालय, १६१६ में बनारस (काशी हिन्दू विश्वविद्यालय), एवं १६२२ ई० में दिल्ली विश्वविद्यालय की स्थापना हुई। १६५७ ई० में भारत में विश्वविद्यालयों की संख्या ३५ तक हो गई। ज्यों-ज्यों संसार में ज्ञान-विज्ञान की अभिवृद्धि होती गयी त्यों-त्यों भिन्न-भिन्न विषयों एवं नवीनतम ज्ञान का समावेश विश्वविद्यालयों की पढ़ाई में होता गया। साथ ही साथ ज्यों-ज्यों पाश्चात्त्य लोग प्राचीन भारतीय साहित्य के सम्पर्क में आने लगे त्यों-त्यों उसका अनुवाद जर्मन, अंग्रेजी और फ्रेंच भाषाओं में होने लगा, यहाँ तक कि उन लोगों में वैदिक और संस्कृत या अन्य भारतीय भाषाओं के अनेक धुरन्धर विद्वान् हुए जिनकी समता स्वयं भारतीय पंडित नहीं कर सके। अनेक प्राचीन धार्मिक दार्शनिक ग्रंथों का सम्पादन जर्मनी के मैक्सम्यूलर और विंटरनिट्ज प्रभृति विद्वानों ने किया। भारतीय अपने प्राचीन साहित्य-भंडार को भूल चुके थे। उसका भी पुनरुद्धार यूरोपीय जातियों ने ही किया, और उसी से भारतीयों की भी आँखें खुलीं और किसी प्रकार आलस्य-निद्रा से उठकर उन्होंने अपने प्राचीन ज्ञान को टटोलना और संभालना प्रारम्भ किया।

प्राचीन साहित्य, धर्म और दर्शन-शास्त्र के प्रकाश में आने के बाद उसका प्रभाव अनेक यूरोपीय अमेरिकन कवियों और चिंतकों पर पड़ा, और उस भारतीय दार्शनिक भावना की अभिव्यक्ति उनके काव्य और अन्य साहित्य में हुई, जैसे जर्मनी के १६वीं शती के महाकवि और दार्शनिक गेटे; अमेरिका के हेनरी थोरो, इमरसन एवं वाल्ट ह्विटमैन; इंगलैंड के कार्लाइल, यीट्स, जार्ज विलियम, रसल प्रभृति के साहित्य में।

२०वीं शती में तो यह आदान-प्रदान, विचार और भावनाओं का परस्पर प्रभाव और भी अधिक हुआ। १९वीं शती के मध्य तक भारत की प्रान्तीय भाषाओं में केवल पद्य की रचना होती थी; गद्य में ज्ञान-विज्ञान, इतिहास, भूगोल इत्यादि का पूर्ण अभाव था। इस ओर लोगों की प्रवृत्ति हुई। १९वीं शती के मध्य से गद्य-साहित्य का भी विकास प्रारम्भ हुआ। सन् १९२० के बाद जाकर कहीं ऐसी परिस्थिति हो पायी कि देशी भाषाओं में ज्ञान-विज्ञान की कुछ पुस्तकें मिलने लगीं। तत्पश्चात् तो तीव्रगति से उन्नति हुई किन्तु अब भी (१९५७ ई०) ऐसी स्थिति है कि राजनीति, अर्थशास्त्र, दर्शनशास्त्र, इतिहास, भूगोल, गणित, विज्ञान इत्यादि का उच्चकोटि का अध्ययन देशी भाषाओं में ठीक-ठीक नहीं हो सकता। इसके लिए यूरोपीय भाषाओं की सहायता लेनी पड़ती है।

पाश्चात्त्य भाषा, शैली, साहित्य, विचार एवं भावनाओं का भारतीय भाषाओं पर पूरा-पूरा प्रभाव पड़ा, और उस प्रभाव के फलस्वरूप २०वीं शती के आरम्भ होने के बाद प्राय: द्वितीय शतक से नव विचार, नव भावना, नव अभिव्यंजना के साथ देशी भाषाओं का साहित्य प्रस्फुटित हुआ। बंगाल में कवीन्द्र-रवीन्द्र (१८६१—१९४१ ई०) हुए जिन्हें साहित्य का नोबेल-पुरस्कार मिला और जो विश्व के साहित्यिकों में एक अनुपम विभूति माने जाने लगे; दक्षिण में कवि भारती हुए, और पंजाब में मुहम्मद इकबाल। हिंदी में भी कई विभूतियां हुई—प्रेमचन्द (१८८०-१९३३ ई०), जयशंकरप्रसाद (१८८९-१९३७ ई०) और महादेवी वर्मा (१९०७ ई०) जिनकी गणना विश्व-साहित्यिकों में हो सकती है। धार्मिक और दार्शनिक क्षेत्र में बंगाल में राजा राममोहनराय (१७७४-१८३३ ई०) और ब्रह्मसमाज ने समस्त उत्तरभारत में, महर्षि दयानन्द (१८२४—८३ ई०) और उनके द्वारा स्थापित आर्यसमाज ने क्रांति पैदा की, और अपने प्राचीन सत्य रूप का भारतीयों को दर्शन करवाया; आध्यात्मिक क्षेत्र में रामकृष्ण परमहंस (१८३३-१९०२ ई०), एवं उनके विश्व-विख्यात शिष्य स्वामी विवेकानन्द (१८६३-१९०२ ई०); रामतीर्थ (१८७३-१९०६ ई०), महर्षि रमण का संदेश केवल भारत में ही नहीं अपितु समस्त

विश्व में प्रसारित हुआ; वैज्ञानिक क्षेत्र में भी जगदीशचन्द्र वसु (१८५८–१९३७ ई०) प्रफुल्लचन्द्रराय (१८६१–१९४४ ई०) श्री चन्द्रशेखर रमण (१८८८ ई०) ने कई उद्भावनाएँ कीं और आज योगिराज अरविंद (१८७२–१९५० ई०) की ओर विश्व आकृष्ट है, और उत्कंठित है समझने को उनका विश्व-कल्याण एवं मानव-विकास का मार्ग।

भारत के सामाजिक जीवन में परिवर्तन

इतिहास में ऐसा पाया गया है कि धार्मिक एवं सामाजिक मान्यताओं और विश्वासों में क्रान्ति एवं परम्परागत संस्थाओं में परिवर्तन किसी आंतरिक प्रेरणा, उपदेश या चाहने से इतना नहीं होता जितना रहन-सहन की भौतिक परिस्थितियों एवं जीवन-निर्वाह के आधार के बदल जाने से अपने आप हो जाता है। पश्चिम के सम्पर्क में आने के बाद भारत में वैज्ञानिक साधनों का एवं मशीन उद्योगों का प्रसार होने लगा जिससे यहां की रहन-सहन की भौतिक परिस्थितियां एवं जीविका के आधार धीरे-धीरे बदलने लगे, अतः यहाँ की परम्परागत सामाजिक संस्थाओं में विघटन होने लगा, एवं सामाजिक मान्यताओं और विश्वासों में क्रान्ति। रहनसहन की भौतिक परिस्थितियों एवं जीवन-निर्वाह के साधनों में बहुत से परिवर्तन हुए। भारत में अति प्राचीनकाल से १९वीं शताब्दी के मध्य तक यातायात एवं आवागमन के साधन केवल बैलगाड़ी, ऊँट, घोड़े एवं घोड़े या बैल के रथ थे। १८५३ ई० में सर्वप्रथम रेलवे लाइन बनी। यह पहली रेलवे लाइन २० मील लम्बी थी। १८६३ ई० के आते-आते २५०० मील एवं १९५० ई० तक ३४००० मील लम्बी रेल की लाइनें बिछ गयीं। इसी प्रकार धीरे-धीरे स्टीम से चलने वाले जहाजों द्वारा सामुद्रिक आवागमन में वृद्धि हुई, एवं १८५३ ई० में भारत में सबसे पहली तार की लाइन (कलकत्ता और आगरा के बीच) लगी, तारघर स्थापित हुए जिनकी संख्या ठीक १०० वर्ष के बाद अर्थात् १९५३ ई० में बढ़ते-बढ़ते ८२३३ तक पहुँच गयी। सबसे पहले अक्टूबर १८५४ ई० में डाक-सेवा स्थापित हुई, आध आने के टिकिट जारी हुए, एवं डाकखाने खुले जिनकी संख्या बढ़ते-बढ़ते १९५४ ई० में

५१५३९ तक हो गयी। इस प्रकार टेलीफ़ोन सिस्टम का भी प्रचलन हुआ; १९५५ ई० में टेलीफोनों की संख्या बढ़कर २,६५,००० तक हो चुकी थी। १९२७ ई० में सर्वप्रथम आकाशवाणी (रेडियो) के केन्द्र स्थापित हुए। २३ जुलाई (१९२७ ई०) के दिन बम्बई-रेडियो एवं २६ अगस्त (१९२७ ई०) के दिन कलकत्ता-रेडियो-स्टेशन। १९५६ ई० में रेडियो-स्टेशनों की संख्या २६ तक पहुँच गयी। आज (१९५८ ई०) में भारत का कई देशों से—जैसे चीन, मिश्र, हिन्देशिया, जापान, ब्रिटेन और रूस आदि से—सीधा रेडियो-टेलीफ़ोन सम्बन्ध है। रेडियो द्वारा समाचार-पत्रों के लिए रेडियो फोटो प्राप्त कर लेना, ऐसा सम्बन्ध भी भारत का अमेरिका, रूस, चीन और ब्रिटेन से है। आवागमन, यातायात एवं सन्देशवाहन में यह एक अभूतपूर्व क्रांति है जिसकी कल्पना तक भी भारतीय मानव को आज (१९५८ ई०) से १०० वर्ष पहले नहीं हो सकती थी। ये सब बातें भारत के भौतिक रूप को ही धीरे-धीरे बदल रही हैं। दूसरी बात—यूरोप में १८वीं-१९वीं शताब्दी (१७५०-१८५० ई०) में औद्योगिक क्रांति हुई थी। इस औद्योगिक क्रांति के पूर्व भारत अपने हस्त एवं कुटीर-उद्योगों के लिए विश्व भर में प्रसिद्ध था। वस्तुतः यह देश विश्व का उद्योग-केन्द्र माना जाता था और अनेक देशों को यहां से चावल, गेहूँ, चीनी, कपास के अतिरिक्त हाथकर्घों का बना सुन्दर कपड़ा, रेशम एवं अन्य शौकीनी चीजें जैसे पीतल, तांबे और चांदी के कलात्मक ढंग से बने हुए बर्तन, लकड़ी एवं हाथीदांत पर खुदाई की हुई अनेक कलात्मक वस्तुएँ निर्यात होती थीं। किन्तु भारत में अंग्रेजी राज्य के स्थापित होने के बाद अंग्रेजों (ईस्ट इंडिया कम्पनी) ने अपने यांत्रिक उद्योगों की वस्तुओं की बिक्री के लिए भारतीय प्राचीन उद्योगों पर अनेक प्रतिबन्ध लगा दिये और धीरे-धीरे उनका महत्त्व समाप्त हो गया। किन्तु किन्हीं भी दो सभ्यताओं के सम्पर्क में आने से परस्पर आदान और प्रदान दोनों ही होते हैं अतः धीरे-धीरे भारत में भी यांत्रिक उद्योग प्रारम्भ होने लगे, उनका विकास होने लगा, और फलस्वरूप जीवन-निर्वाह के साधनों में परिवर्तन होने

लगा। १८५० ई० तक भारत में कोई भी यांत्रिक उद्योग नहीं था। वैसे नाम को १८१८ ई० में कलकत्ता के पास फोर्टग्लोस्टर में एक कपड़े के मिल की स्थापना हो चुकी थी, किंतु यांत्रिक उद्योग का वास्तविक प्रारम्भ १८५६ ई० से मानना चाहिए जब बम्बई में बौम्बे स्पिनिंग एंड वीविंग मिल्स (कपड़े के मिल) की स्थापना हुई। इनकी संख्या बढ़ते-बढ़ते सन् १९३९ ई० में ३८९ तक पहुँच चुकी थी। १८५९ ई० में भारत की सर्वप्रथम जूट-मिल कलकत्ता के पास निशारा में बनी। इनकी संख्या बढ़कर १९४० ई० में ८५ तक पहुँच गयी। इन्हीं वर्षों (१८५०-५५ ई०) में बिहार और बंगाल में कोयले की खानों से कोयला निकाले जाने का काम प्रारम्भ हुआ जिसका वार्षिक उत्पादन १९५० ई० के आते-आते लगभग ३ करोड़ टन तक हो गया। साथ ही साथ बिजली-उद्योग प्रारम्भ हुआ, और उसका विकास हुआ। भारत में सबसे पहला जल-विद्युत् का कारखाना दार्जिलिंग में १८९७ में बना। इसके तुरन्त बाद, १८९९ ई० में सबसे पहला बिजलीघर कलकत्ता में बना। १९३५ ई० के आते-आते भारत में ९ लाख किलोवाट बिजली पैदा होने लगी। १८७० ई० में आधुनिक ढंग से काग़ज़ बनाने का सर्वप्रथम कारखाना बाली-मिल के नाम से कलकत्ता में खुला; काग़ज़ के मिलों की संख्या द्वितीय विश्वयुद्ध काल में १५ तक पहुँच गयी, और १९५५-५६ ई० में तो अख़बारी काग़ज़ भी भारत में बनाया जाने लगा। १९०७ ई० में जमशेदपुर (बिहार) में लोहे और इस्पात का सर्वप्रथम आधुनिक ढंग का कारख़ाना देश के प्रसिद्ध उद्योगपति जमशेदजी नौशेरवानजी टाटा ने स्थापित किया, और धीरे-धीरे इस उद्योग में इतनी अभिवृद्धि हुई कि १९५० ई० के आते-आते छोटे-मोटे १०० से ऊपर लोहे के कारख़ाने खुल गये एवं देश में प्रतिवर्ष १० लाख टन तक इस्पात बनने लगा। प्रथम विश्व-युद्ध के बाद यांत्रिक उद्योगों के विकास की गति में कुछ तेजी आयी, कपड़ा और जूट-उद्योग में अभिवृद्धि के अतिरिक्त उत्तरप्रदेश में कई चीनी की मिलें खुलीं, बम्बई एवं बिहार में सीमेंट के कारख़ाने, पंजाब और कानपुर में ऊनी वस्त्र की मिलें,

एवं कई स्थानों पर तेल की मिलें एवं साबुन और वेजीटेबिल घी के कारखाने। सब उद्योगों का इतना विकास हुआ कि एशिया में भारत का नाम औद्योगिक देशों में गिना जाने लगा। द्वितीय विश्वयुद्ध-काल में तो औद्योगिक विकास की परिस्थितियों में बहुत अनुकूलता आयी और अभूतपूर्व तेजी से उद्योगों का विकास हुआ। कपड़ा, कागज, चीनी, इस्पात, चाय, सीमेंट, रासायनिक पदार्थ, दवाइयाँ, बारूद, इंजीनियरिंग काम का सामान और औज़ार इत्यादि वस्तुओं का उत्पादन खूब बढ़ गया। कई नई चीजों के कारखाने भी खुले—जैसे, डीज़ल इंजन, पम्प, बाइसिकल, कपड़ा सीने की मशीनें, सोडाऐश, कास्टिक सोडा, क्लोरीन एवं हल्की मशीनें भी बनने लगीं। भारत की विश्व के औद्योगिक क्षेत्र में यह स्थिति बन गयी कि वह विश्व के आठ बड़े औद्योगिक देशों में माना जाने लगा। २५ लाख से भी अधिक जन इन आधुनिक यांत्रिक उद्योगों में काम करने लगे। इन उद्योगों में काम करने वाले लोगों में आश्रित कुटुम्बों को शामिल कर लें तो १९४० ई० तक अनुमानतः एक करोड़ जन गाँवों से उखड़कर औद्योगिक शहरों में बस गये थे। इस प्रकार समाज में जीवन-निर्वाह के साधनों में खूब रद्दोबदल हो गया। यातायात एवं समाचार-वाहन के साधनों में परिवर्तन से भौतिक परिस्थितियाँ भी साथ-साथ बदल रही थीं। इन सबकी एक जबरदस्त चोट देश के परम्परागत सामाजिक जीवन पर पड़ी। बाल-विवाह, बहुविवाह, विधवा-जीवन, दहेज़ एवं परदा-प्रथाएँ और जाति-व्यवस्था और अस्पृश्यता सामाजिक जीवन के अभिशाप माने जाने लगे। सती-प्रथा तो १९वीं शताब्दी के प्रारम्भ में ही बन्द कर दी गयी; कानून द्वारा विधवा-विवाह को सामाजिक मान्यता मिली; बाल एवं बहु-विवाह, दहेज़ एवं परदा-प्रथाएँ धीरे-धीरे उठने लगीं; पुत्र के साथ पुत्री को भी पैतृक सम्पत्ति में अधिकार मिलने की बात होने लगी; स्त्रियाँ घर की चहारदीवारी से बाहर निकलकर सामाजिक, राजनैतिक एवं जीवनोपार्जन के क्षेत्रों में पुरुष के समान काम करने लगीं, एवं जाति एवं संयुक्त परिवार के बंधन शिथिल पड़ने लगे, मानो

भारतीय सामाजिक जीवन की पुरातनता में ताज़ा हवा का झोंका आया; विचार और मान्यताएँ बदलने लगीं।

युगों से भारतीय जन इस विश्वास में रूढ़ था कि व्यक्ति की धनी या गरीब अवस्था, उसकी शिक्षा, उसका स्वास्थ्य और आयु उसकी जाति, समाज में उसकी प्रतिष्ठा, उसका सुख-दुःख किसी मनुष्यकृत सामाजिक संगठन के रूप पर नहीं, वरन् किसी परोक्ष सत्ता पर अवलंबित है; और उसकी यह मान्यता बनी हुई थी कि प्रचलित धार्मिक सामाजिक प्रथाएँ, जाति-प्रथा, विवाह-प्रथा, वर्ण-व्यवस्था युगों से आती हुई स्थिरप्राय संस्थाएँ हैं। किन्तु आधुनिक विश्वविद्यालयों में शिक्षित भारतीय युवक धीरे-धीरे यह भान करने लगा था कि व्यक्ति के जीवन की समृद्धि और उसका स्वास्थ्य, उसकी शिक्षा-दीक्षा आदि का उत्तर-दायित्व मनुष्य द्वारा निर्मित सामाजिक व्यवस्था पर है; और वह यह अनुभव भी करने लगा था कि प्राचीन काल से आती हुई प्रथाएँ और मान्यताएँ वस्तुतः परिवर्तनशील हैं। वह यह सोचने लगा था कि इतिहास और मानव-समाज का वैज्ञानिक आधार पर अध्ययन कर मनुष्य स्वयं ही, परोक्ष सत्ता से निरपेक्ष, ऐसी सामाजिक व्यवस्था संगठित कर सकता था जिसमें व्यक्ति ग़रीबी, परमुखापेक्षिता एवं दीनता की भावना से मुक्त रह सके। एक नये ज्ञान और नयी सभ्यता से टकराकर उसका मानस बदलने लगा था—भारतीय जन का सुषुप्त इतिहास मानो करवटें बदलने लगा हो। इसके पूर्व यूरोप का जन १९वीं शताब्दी में ही परम्पराओं के प्रति अपनी श्रद्धा को तिलांजलि दे चुका था, बुद्धिवाद अर्थात् प्रत्यक्ष तथ्यों पर आधारित सत्य में उसका विश्वास होने लगा था; जीवन, प्रकृति, समस्त सृष्टि के प्रति वह वैज्ञानिक दृष्टिकोण अपनाने लगा था, और उसकी यह दृढ़ धारणा बन गई थी कि मानवजाति को विज्ञान—प्रत्यक्ष तथ्यों पर आधारित सिद्ध किये जा सकने वाले ज्ञान—के सहारे अपने भाग्य का निर्माण स्वयं करना चाहिए। स्थिति यह नहीं कि ये नयी बातें पूर्व और पश्चिम के

सर्व-साधारण के अन्तराल में गहरी प्रविष्ट कर गई हों, किंतु निःसंदेह मानव जाति के विचार की गति थी उसी ओर। वस्तुतः २०वीं शताब्दी में प्रथम महायुद्ध (१९१४-१८ ई०) के बाद से संसार के सब देश, सब जातियाँ, सब मान्यताएँ आधुनिक वैज्ञानिक साधनों, (यातायात, समाचार-वाहन, समाचार-पत्र, रेडियो, सिनेमा इत्यादि) के फलस्वरूप एक दूसरे के इतने निकट आ गये थे कि सब जगह पुरानी मान्यताओं, व्यवस्थाओं और संस्कारों में परिवर्तन होना स्वाभाविक था; और ऐसा हो भी रहा है। भारत ही नहीं, वरन् आज इस २०वीं शताब्दी के मध्य में समस्त विश्व एक संक्रांतिकाल में से गुज़र रहा है।

नौवाँ अध्याय

भारतीय वाङ्मय

वेद (संहिता, ब्राह्मण, आरण्यक एवं उपनिषद्), वेदाङ्ग (शिक्षा, छन्द, व्याकरण, निरुक्त, ज्योतिष एवं कल्प), धर्म (स्मृतियां), दर्शन, पुराण—इस विशाल वाङ्मय का, जो इतना उदात्त और प्रेरणामय है, जो अपने आप में एक सम्पूर्ण संसार है, जो अतीव गहन है और वैज्ञानिक विश्लेषण और भावात्मक संश्लिष्टता में अतुलनीय है, और जो भारतीयों की अद्भुत प्रतिभा का द्योतक है, निदर्शन अन्यत्र हो चुका है।

इसके अतिरिक्त भारत का काव्य और आलोचना-साहित्य भी बड़ी उच्च कोटि का है। काव्य-साहित्य में अपनी अनुभूतियों और कल्पनाओं के सहारे अन्तरतम मानवीय भावनाओं को, प्रेम, करुणा और विषाद की अनुभूतियों को भारतीय कवि अपनी ललित और ओजस्विनी भाषा में इस प्रकार उतार लाये हैं कि पाठक और श्रोता अथवा दर्शक रसमग्न हो जाते हैं। भारतीय संस्कृति को समझने के लिए भारत के काव्य-साहित्य (कविता, नाटक, गद्यकाव्य, चम्पू और साहित्य-शास्त्र आदि) का

परिचय आवश्यक है। हम यहाँ केवल प्राचीन (आधुनिक काल से पूर्व) साहित्य की रूप-रेखा मात्र देंगे।

'वाल्मीकि-रामायण' भारत का आदि महाकाव्य है। इसके रचयिता महाकवि वाल्मीकि आदि-कवि ही नहीं, विश्व के महानतम कवि भी हैं। यदि हमें संसार के तीन महानतम कवियों का नाम लेना हो तो हम कहेंगे कि वे वाल्मीकि, होमर और शेक्सपियर हैं। वाल्मीकि की कविता मानो कवि की वह आदि निर्मल भावमयी सरिता है जिसकी उदात्त धाराओं में मानव का मानस जीवन के उच्चतम स्वरूप के दर्शन करता है, ऐसे स्वरूप का जो उसको पावनता से परिप्लुत कर देता है।

दूसरा महाकाव्य 'महाभारत' है, जिसके रचयिता वेद-व्यास मुनि माने जाते हैं। इस महाकाव्य के मूल रूप की रचना बुद्ध के पहले हो चुकी होगी। अपने मूल रूप में तो यह एक कविता है जो भारत के एक श्रेष्ठ आर्यकुल के भाइयों के भयंकर युद्ध का वर्णन करती है, जिस युद्ध में भारत के तत्कालीन सभी महत्त्वपूर्ण राजा सम्मिलित थे। काव्य में मानव-हृदय की उदात्त शौर्य-भावना तो अन्तर्निहित है ही किन्तु इस भावना के सहारे मानव-मन के सभी संकल्पों, विकल्पों, इच्छाओं और अभिलाषाओं को छूती हुई कविता की परिणति होती है, मन की एक शांत स्थिति में। कालान्तर में इस शुद्ध महाकाव्य में अनेक क्षेपक जुड़ गये, और वस्तुतः यह काव्य होते हुए भी धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष की भारतीय भावना को साधने वाला एक अनुपम धर्म-ग्रंथ बन गया—ऐसा ग्रंथ जिसमें मानो भारत के सभी नैतिक, धार्मिक, तथा आध्यात्मिक विचार और भावनाएँ और भारत का समस्त दर्शन समा गये हों। इतना विशाल महाकाव्य जिसमें व्यक्ति और समाज के जीवन का इतना सर्वांग-पूर्ण विवेचन मिलता हो और जो साथ ही साथ मानव-भावों के गहनतम तल को छूता हो, संसार में और कोई दूसरा नहीं है।

रामायण और महाभारत दोनों महाकाव्य भारतीय संस्कृति की अनुपम देन हैं। ये सच्चे अर्थ में राष्ट्रीय महाकाव्य हैं।

इन दो महाकाव्यों के बाद कई शताब्दियों तक संस्कृत में किसी

काव्य-ग्रंथ की रचना हमें नहीं मिलती । तत्कालीन शिला-लेखों से अवश्य ऐसा भास होता है कि साहित्य-जगत् में उस समय महाकाव्य की शैली एवं अन्य काव्य-शैलियाँ प्रचलित थीं एवं रामायण और महाभारत काव्यों के इलावा अन्य कई काव्य भी विद्यमान थे । जो कुछ हो, जहाँ तक ज्ञात साहित्यिकों का प्रश्न है, ईसा की प्रथम शताब्दी में हमारे सामने आता है एक महान् कवि । वह है—अश्वघोष । अश्वघोष को हम उसके पूर्ववर्ती काल के आदिकवि वाल्मीकि और परवर्ती काल के श्रेष्ठतम कवि कालिदास—दोनों के बीच में खड़ा हुआ मान सकते हैं । अश्वघोष बौद्ध था किन्तु संस्कृत और काव्यशास्त्र का महान् पंडित । उसका महाकाव्य है—'बुद्ध-चरित', जो एक ओर अपनी पद्यात्मकता और आलंकारिकता में तो वाल्मीकि से बढ़कर है, और दूसरी ओर अपनी नैतिक और धार्मिक भावना की शक्ति में कालिदास के काव्य से गहनतर । अश्वघोष ने 'शारिपुत्र-प्रकरण' नाम का एक रूपक भी लिखा था । इस प्रकार यह माना जा सकता है कि रामायण और महाभारत के बाद अश्वघोष का 'बुद्ध-चरित' तो सबसे पुराना काव्य, और उसका 'शारिपुत्र-प्रकरण' सबसे पुराना नाटक है ।

अश्वघोष के बाद उस परम्परा की धारा सतत प्रवाहित मिलती है जिसमें काव्य-रचना प्रधानतया रसमय उद्देश्य को लेकर होती है और जो काव्य-शास्त्र के लिए तात्त्विक सामग्री प्रस्तुत करती है ।

इस परम्परा के महानतम कवि थे—कालिदास और अन्य महत्त्वपूर्ण नाटककार तथा कवि थे—भास, भारवि, माघ इत्यादि । एक बात उल्लेखनीय है और वह यह कि इन समस्त कवियों की रचनाओं में—चाहे वे रचनाएँ महाकाव्य हों, चाहे खंड-काव्य, चाहे नाटक, जहाँ तक कथावस्तु का प्रश्न है वह प्रधानतया पूर्ववर्ती साहित्य जैसे वेद, ब्राह्मण, रामायण और महाभारत आदि से आती है । मानो, यह पूर्ववर्ती साहित्य न केवल धर्म और दर्शन का किन्तु काव्यात्मक प्रेरणा का भी आदि-स्रोत हो ।

भास

भास का काल अभी अनिर्णीत है। विभिन्न विद्वान् ई० पू० पहली शताब्दी से ई० सन् की तीसरी शताब्दी तक इनका समय मानते हैं। इनके नाम से १३ नाटक प्रख्यात हैं। उनके नाम हैं – अभिषेक, प्रतिमा, दूत घटोत्कच, मध्यमव्यायोग, कर्णभार, ऊरुभङ्ग, दूतवाक्य, पंचरात्र, बालचरित, स्वप्नवासवदत्ता, प्रतिज्ञायौगन्धरायण, अविमारक, एवं चारुदत्त। इन नाटकों में सबसे अधिक लोकप्रिय स्वप्नवासवदत्ता है। इसमें कुरुवंश की परम्परा में वत्स प्रदेश के राजा उदयन (जो बुद्ध के समकालीन थे) और अवन्ति की राजकुमारी वासवदत्ता की प्रेम-कहानी है। इसी एक नाटक से कवि भास की अपूर्व कुशलता का परिचय मिल जाता है। भाषा प्राञ्जल है, भावों का उद्रेक है, एवं कल्पना निर्मल है। मानवीय मनोवृत्तियों के विश्लेषण में भास कदाचित् कालिदास से भी बढ़ जाते हैं।

शूद्रक

शूद्रक एक राजा था। जिसका काल अभी अनिर्णीत है। निश्चित रूप से तो इतना ही कहा जा सकता है कि वह भास के बाद हुआ। इसका सबसे प्रसिद्ध नाटक 'मृच्छकटिक' है। यह एक सामाजिक नाटक है जिसमें चारुदत्त नामक एक उदार ब्राह्मण व्यापारी के वसन्तसेना नामी एक समृद्ध वेश्या से प्रेम की कहानी है। शूद्रक संस्कृत साहित्य में एक लोक-प्रिय नाटककार है।

कालिदास

चौथी-पांचवीं शताब्दी में गुप्तयुग के सम्राट् चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य के ये समकालीन थे। कुछ आलोचक इन्हें पहली शताब्दी का मानते हैं और इस तरह वे अश्वघोष के पूर्ववर्ती कवि सिद्ध होते हैं।

रचनाएँ

महाकाव्य—**रघुवंश** १९ सर्गों का महाकाव्य है जिसमें भारत के प्राचीन सूर्यवंशी राजाओं—दिलीप, रघु, अज, दशरथ और राम तथा उनके पुत्रों की कथा है—एक विस्तृत राष्ट्रीय और सांस्कृतिक पृष्ठ-

भूमि में। काव्य के अनेक करुणापूर्ण स्थलों जैसे अज का विलाप; एवं रमणीय प्राकृतिक स्थलों जैसे त्रिवेणी-संगम, से कवि की आत्मीयता काव्य को उस स्तर पर उठा देती है जहाँ चेतना महानता की अनुभूति करती है।

कुमारसम्भव

इसमें १७ सर्ग हैं। इसका कथानक शिव, पार्वती और उनके पुत्र कुमार की पौराणिक गाथाओं पर आधारित है। इस काव्य की महानता का हमें अनुभव होता है—इसके विशाल हिमालय-वर्णन में और उस कठोर युद्ध में जो बुद्धि और वासना के बीच होता है। काव्य में वर्णित लम्बे काल तक चलने वाला शिव का तप अपने आप में भारतीय दर्शन और धर्म का एक महान् प्रतीक है। काव्य की प्रेरणा निहित है मानो इस अनुभूति में कि कामवासना को ज्ञानाग्नि में भस्म किये बिना प्रेमभाव की उपलब्धि नहीं हो सकती, प्रेम की भाव-भूमि एक आध्यात्मिक भाव-भूमि है। कुमारसंभव इसी रहस्यात्मक प्रेमानुभूति का अनुपम महाकाव्य है।

विक्रमोर्वशीय

इस नाटक का विषय है—ऋग्वेद में वर्णित भरत-कुल (दुष्यन्त, भरत) के आदि पुरुरवस् और देवकुमारी उर्वशी की प्रेम-कहानी। नाटक में प्रकृति के सरल रूप का वर्णन मनमोहक है; एवं उदात्त प्रेमलोक में मानवत्व और देवत्व के मधुर मिलन की भावना इस नाटक की आत्मा है।

मालविकाग्निमित्र

इसमें शुंगवंशी राजा अग्निमित्र (ई० पू० दूसरी शताब्दी) और उसकी रानी की दासी मालविका के प्रेम की कहानी का नाटकीय वर्णन है। कालिदास के सभी नाटक कला और भावपक्ष दोनों दृष्टियों से उत्कृष्ट हैं। भावपक्ष और कलापक्ष इन दोनों का उनमें अद्भुत संतुलन है।

शकुन्तला नाटक में राजा दुष्यन्त और शकुन्तला की प्रेम-कहानी है।

अभिज्ञान-शाकुन्तल

दुष्यन्त और शकुन्तला का पुत्र भरत था जिसका इस देश के नाम के साथ सम्बन्ध है। 'शकुन्तला' भारतीय नाटक-साहित्य की अमर कृति है। इसी के अंग्रेज़ी अनुवाद को पढ़कर जर्मनी का महाकवि गेटे गद्गद हो गया था, और उसने इसे विश्व का एक महान् काव्य घोषित किया था—ऐसा काव्य जो पृथ्वी और स्वग दोनों के सौन्दर्य को एक ही साथ भाव-लोक में अवतीर्ण करता है।

ऋतुसंहार

इस खंडकाव्य में भारत की छः ऋतुओं का सुन्दर कवित्वमय वर्णन है। इस काव्य को अभी अंतिम रूप से कालिदास की कृति नहीं माना गया है।

मेघदूत

यह एक मधुर खंड-काव्य है। इसमें कुल ११५ पद्य हैं जो मंदाक्राता छन्द में हैं। इस काव्य के हृदयस्पर्शी सौन्दर्य ने इसे विश्व-काव्य के महत्त्वपूर्ण स्थान पर आसीन कर दिया है। काव्य का कथानक इस प्रकार है: एक निर्वासित यक्ष राम-पर्वत के शिखर से मेघ को अपना संदेशवाहक बनाकर अपनी प्रेयसी पत्नी के पास भेजता है जो दूर अलकापुरी में रहती है।

यक्ष आकाशगामी मेघ को अलकापुरी का रास्ता बतलाता है और उन स्थानों का वर्णन करता है जिन पर होकर मेघ को जाना है। स्थानों के इस वर्णन में ही जिसमें दक्षिण से उत्तर तक के प्रमुख रमणीय प्राकृतिक स्थल एवं नगरियाँ आजाती हैं, इस काव्य के कवित्व की महानता है, इसका सौन्दर्य है।

इस वर्णन में कवि ने अपने देश की विशालता एवं महानता के प्रति अपने भावों को सरसता और चित्रोपम रूप से प्रस्तुत किया है। शायद ही किसी और कवि ने अपनी देशभक्ति की कहानी में इस प्रकार से अपने भावों को व्यक्त किया हो। सम्पूर्ण काव्य मानो कवि के हृदय की सुसंस्कृत वृत्ति और उदात्त सौन्दर्य भावना की अभिव्यक्ति है। प्रेम

के पावन स्वरूप को प्रत्यक्ष करने वाला यह लघुकाव्य संदेश-काव्यों में प्रथम स्थान को प्राप्त हुआ है।

संक्षेप में, इंगलैण्ड के प्रसिद्ध साहित्यिक शेक्सपियर की तरह कालिदास अपने देश के ही नहीं, समस्त विश्व के एक महान् कवि और नाटककार हैं।

काव्य-जगत् में भारवि का बड़ा ऊँचा स्थान है। किरातवेशधारी

भारवि
(लगभग ५५० ई०)

शिव और तपस्वी अर्जुन के बीच की युद्ध की घटना को आधार मानकर भारवि ने किरातार्जुनीय महाकाव्य की रचना की। इस महाकाव्य में अर्थ-गौरव का विशेष गुण पाया जाता है।

इनके महाकाव्य का नाम 'रावणवध' है। इसे 'भट्टिकाव्य' भी

भट्टि
(लगभग ६०० ई०)

कहते हैं। यह रामायण की कथा पर आधारित है। ऐसा माना जाता है कि उसने बलमी के राजा श्रीधरसेन के आश्रय में रहकर अपना काव्य लिखा। इस महाकाव्य की विशेषता काव्य के सहारे व्याकरण की शिक्षा है।

यह उत्तरभारत के सम्राट् थे, स्वयं कवि और कवियों के आश्रय-

हर्षवर्धन
(६०६-६४७ ई०)

दाता। महाकवि बाणभट्ट इन्हीं की राज्यसभा के रत्न थे। इन्होंने तीन रूपक लिखे हैं। १. रत्नावली २. नागानंद और ३. प्रियदर्शिका। रत्नावली में वत्स के राजा उदयन और रानी की दासी सागरिका की प्रेम-कहानी है। नागानंद का नायक एक बौद्ध है, और यह सम्पूर्ण नाटक बौद्ध-भावना से प्रेरित है। 'प्रियदर्शिका' रत्नावली की तरह उदयन की एक प्रेम-कहानी पर आश्रित है।

संस्कृत-साहित्य में कालिदास के बाद भवभूति का ही नाम आता

भवभूति
(७०० ई० के आसपास)

है। मानव-हृदय के सूक्ष्म से सूक्ष्म भावों का जितना ज्ञान भवभूति को था, उतना शायद ही किसी अन्य संस्कृत कवि को हो। हृदयगत

भावों के साथ भवभूति की संवेदना बहुत गहरी है, और वह बहुत ही मर्मस्पर्शी ढंग से उसके रूपकों में अभिव्यक्त हुई है। उसके तीन रूपक प्रसिद्ध हैं। (१) **मालतीमाधव**—इस प्रकरण में उज्जयिनी नगरी में विद्याध्ययन करने के लिए आये हुए एक मंत्रि-कुमार माधव और एक मंत्रि-कुमारी मालती के उद्दाम प्रेम की कथा है। (२) **महावीरचरित** नाटक का आधार रामचरित है। (३) **उत्तररामचरित**—इस करुणापूर्ण नाटक का आलम्बन है निर्वासिता सीता और वियोगी राम। मुख्य पात्र हैं सीता, और उसके दो पुत्र लव और कुश। करुण रस की इसमें चरमोन्नति है—जो भावुक को अलौकिक भाव-भूमि में पहुँचा देती है। भवभूति एक समर्थ महाकवि हैं।

माघ (नौवीं शताब्दी)

इसने 'शिशुपालवध' महाकाव्य की रचना की। किरातार्जुनीय, शिशुपालवध और नैषधचरित इन तीनों को महाकाव्य कहा जाता है। इसमें युधिष्ठिर का राजसूययज्ञ समाप्त होने पर श्रीकृष्ण द्वारा शिशुपाल के मारे जाने का वृत्तान्त है। माघ का कलापक्ष प्रशंसनीय है।

श्रीहर्ष (११५०-१२००ई०)

यह कवि कन्नौज के महाराज जयचन्द्र के आश्रय में रहता था। इसका 'नैषध-चरित' महाकाव्य की परम्परा में अंतिम महाकाव्य माना जाता है। इसमें निषध देश के अधिपति राजा नल के साथ दमयंती के प्रेम की गाथा का वर्णन है। वर्णन मनोहर है, शृंगार-रस का परिपाक खूब हुआ है।

विशाखदत्त

काल अभी अनिर्णीत है। विशाखदत्त संभवतः भर्तृहरि के पहले हुआ। किन्तु भर्तृहरि का काव्य भी अभी तक निश्चित नहीं हो पाया है। विशाखदत्त की सबसे प्रसिद्ध रचना 'मुद्राराक्षसनाटक' है, जिसमें मानवीय भावों की पृष्ठभूमि में चन्द्रगुप्त मौर्य के महामंत्री चाणक्य की कूटनीति का नाट्यात्मक प्रदर्शन है। यह एक ऐतिहासिक नाटक है, घटना-प्रधानता इसकी विशेषता है। इसकी गणना संस्कृत के

अत्यन्त उत्कृष्ट रूपकों में की जाती है।

भट्ट नारायण (ई० सन् ९ की शताब्दी का मध्य भाग)

यह बंगाल का रहने वाला था। इसका प्रसिद्ध नाटक 'वेणी-संहार' है। द्रौपदी का दुर्योधन द्वारा राज-सभा में घसीटा जाना, और इस कृत्य के प्रतिशोध स्वरूप भीम की यह प्रतिज्ञा कि वह शत्रु के रक्त से द्रौपदी के बाल सँवारेगा—इस घटना की नाटकीय अभिव्यक्ति उक्त नाटक में है। यह नाटक वीर-रस प्रधान है।

भवभूति के बाद संस्कृत नाटकों के मान में वस्तुतः गिरावट ही आयी। कुछ साधारण नाटककार जैसे—मुरारि (नवीं शताब्दी), राजशेखर (१०वीं शताब्दी), एवं कृष्णमिश्र (११वीं शताब्दी) नाटकों की रचना करते रहे। यह परम्परा भी चलते-चलते मुसलमानों के आक्रमण-काल तक प्रायः समाप्त हो गयी।

स्फुट काव्य

हाल की सतसई

(काल अनिश्चित शायद ईस्वी सन् की प्रथम शती की रचना हो) सतसई (सप्तशती) संस्कृत का नहीं किन्तु महाराष्ट्री प्राकृत का काव्य है। इसमें सात सौ पद्य हैं। इसके रचयिता या संग्रहकर्ता सातवाहन या हाल माने जाते हैं। इसकी रचना के बाद इसके अनुसरण में अनेक स्फुट काव्य रचे गये।

भर्तृहरि

(काल अनिश्चित, एक किंवदन्ती के अनुसार शायद प्रसिद्ध महाराजा विक्रमादित्य का भाई हो।) इसने सौ-सौ श्लोकों के तीन शतक लिखे—शृङ्गार-शतक, नीतिशतक और वैराग्य-शतक। पहले शतक में प्रेम-भावना, दूसरे में जीवन-नीति और तीसरे में वैराग्य-भावना अन्तर्निहित है। प्रत्येक श्लोक अपने आप में एक सम्पूर्ण कविता है—श्रुति-मधुर। काव्य की संगीतमयता में कालिदास के बाद शायद इसी कवि का स्थान है।

अमरु (७वीं शताब्दी ई०)

इनकी कृति 'अमरुशतक' एक अमर रचना है। इसमें प्रेम के विभिन्न स्वरूपों, प्रेमी-प्रेमिका के प्रणयन और आमोद-प्रमोद की विभिन्न परिस्थितियों के सुन्दर वर्ण-चित्र प्रस्तुत हैं।

अमरु के उपरान्त कई और कवि आते हैं, जैसे—मयूर (सातवीं श०), मातङ्ग दिवाकर (७वीं श०), शिल्हण—बौद्ध-भावना से प्रेरित 'शान्तिशतक' के रचयिता आदि। इस परम्परा में १२वीं शती में आते हैं—जयदेव।

जयदेव (१२वीं शती में बंगाल के राजा लक्ष्मणसेन के राजकवि)

इनकी संसारप्रसिद्ध कृति है—'गीतगोविन्द' राधाकृष्ण और राधा की सखियाँ ललित पदों में गीत गाते हैं प्रेम के, प्रेम-भाव के प्रत्येक रूप के, प्रेम में नैराश्य के, अभिलाषा के, ईर्ष्या, आशा और प्रत्याशा के, मिलन और विछोह के। इन गीतों में प्रकृति भी अपनी संगति देती है और ऐसा भान होता है मानो समस्त सृष्टि और जीवन में से एक ही ध्वनि उठ रही है—प्रेम की मधुर-मधुर ध्वनि। इसी ध्वनि को तो व्यक्त करने वाले ये गीत हैं।

वेद के ब्राह्मण-ग्रंथों में प्राचीनतम संस्कृत गद्य के दर्शन होते हैं।

गद्य-काव्य

गद्य-काव्य की परम्परा में निम्न कवियों एवं उनके ग्रंथों की जानकारी उपलब्ध है:—

दंडी

(काल—ईसा की छठी शताब्दी के आस-पास)। इनके दो प्रसिद्ध ग्रंथ हैं: १. दशकुमारचरित (गद्य में कहानी) और २. काव्यादर्श (अलंकार का ग्रन्थ)। दशकुमारचरित में दस राजकुमार यात्रा के लिए भिन्न-भिन्न दिशाओं में जाते हैं और लौटने पर प्रत्येक कुमार अपने-अपने अनुभव सुनाता है। कहानियाँ बहुत ही मनमोहक हैं—ध्यान को आकृष्ट कर अपने में केन्द्रित कर लेने वाली।

सुबन्धु का ग्रंथ है—'वासवदत्ता' जिसमें उज्जैन की राजकुमारी

वासवदत्ता तथा वत्स के राजा उदयन के प्रेम की कहानी है।

सुबन्धु
(ईसा की ७वीं शती)

इसी प्रेम-घटना को आलम्बन बनाकर भास आदि कवियों ने कई नाटक भी रचे थे।

बाणभट्ट
(हर्षवर्धन, ६०६ ई०–६४७ ई० का राजकवि)

इसकी दो कृतियाँ प्रसिद्ध हैं—१. कादम्बरी जिसमें कादम्बरी नाम की एक काल्पनिक नायिका का चरित्र-चित्रण है। २. हर्षचरित, जिसमें कन्नौज के हर्ष का चरित चित्रित किया गया है। इन दोनों में कादम्बरी अधिक प्रसिद्ध है। ग्रंथ रसपूर्ण और अलंकार-युक्त है। शृङ्गार रस का अपूर्व विकास हुआ है। इसमें कविता के तत्त्वों का अनुभव करके साहित्य-शास्त्रियों ने बाण-भट्ट को एक महाकवि माना है। कादम्बरी में लेखक की अनुपम वर्णन-शक्ति, मानवीय प्रवृत्तियों की गूढ़ समझ एवं उच्च कल्पना तथा शैली की सामासिकता एवं सरलता का परिचय मिलता है। संसार के साहित्य में ऐसे ग्रंथ बहुत ही कम मिलते हैं।

लोकप्रिय लघुकथा-ग्रंथ

भारत में प्राचीन काल से ही समाज में छोटी-छोटी उपदेशात्मक कहानियाँ प्रचलित रही हैं। ये लघु-कथाएँ इतनी रोचक और लोकप्रिय बन गयीं कि उनमें से अनेक तो विदेशों में भी आदर को प्राप्त हुई, सभी लोगों के मन को उन्होंने मोह लिया। इसका एक विशेष कारण यह है कि उनमें सर्वसामान्य किन्तु गूढ़ मनोवैज्ञानिक सत्य अन्तर्निहित होता है। इस प्रकार के कथा-साहित्य के विशेष प्रसिद्ध ग्रन्थों का एवं उनके रचयिताओं का परिचय नीचे दिया जाता है:—

गुणाढ्य

(ईस्वी सन् की छठी शताब्दी के पहले)। इनकी रचना है—'बृहत्कथा', पैशाची भाषा में। किन्तु यह ग्रंथ अपने मूल रूप में अभी तक उपलब्ध नहीं हुआ है। विद्वानों को इस नाम से केवल इसके अनुवाद या संक्षिप्त संस्करणों का पता लगा है। जिस रूप में भी वह

उपलब्ध हो, इसका महत्त्व बड़ा है, क्योंकि लोकप्रिय कहानियों का यह प्राचीनतम ग्रंथ है। २. इसी के आधार पर ११वीं शताब्दी में (१०३७ ई० के लगभग) क्षेमेन्द्र ने अपने ग्रंथ 'बृहत्कथा-मंजरी' की रचना की थी। ३. इसी के आधार पर काश्मीर के कवि सोमदेव ने १०७० ई० के लगभग पद्य में अपना 'कथा-सरित्सागर', जिसमें २२००० श्लोक हैं, रचा था। इसी परम्परा में कुछ अन्य ग्रंथ हैं जैसे—'वैताल-पंचविंशति', 'शुक-सप्तति', 'सिंहासन-द्वात्रिंशतिका' जिनके समय और रचयिताओं का कुछ पता नहीं। इस परम्परा में जगत्प्रसिद्ध रचनाएँ हैं—

१. पञ्चतन्त्र

मूल पञ्चतन्त्र अप्राप्य है। अन्य ग्रन्थों में आये हुए इसके वर्णन से एवं इसके प्राप्य अनुवादों से यह बात मान ली गयी है कि कोई मूलग्रन्थ अवश्य होगा। इस विषय में विद्वानों ने यह अनुमान लगाया है कि मूल पञ्चतन्त्र की रचना ईसा की दूसरी या तीसरी शताब्दी में दक्षिण प्रदेश के किसी विष्णुशर्मा नामक ब्राह्मण ने संस्कृत-भाषा में की थी। यह रचना लोकप्रिय बन गयी। ५६० ई० के लगभग ईरान के सेसेनियन राजा खुसरू अनुशीरवां ने पहलवी भाषा में इसका अनुवाद करवाया। और फिर तो इसके अनुवाद पर अनुवाद होते गये। पहलवी से इसके अनुवाद हुए ५७० ई० में पुरानी सीरियन भाषा में; ७५० ई० में अरबी में; १०८० ई० में यूनानी में; ११०० ई० में हिब्रू में; ११३० ई० में फारसी में; १२५१ ई० में पुरानी स्पेनिश में; १२६० ई० में लेटिन में; १४८३ ई० में जर्मन में; १५५२ ई० में इटालियन में; १५५६ ई० में फ्रेंच में; और १५७० ई० में अँग्रेजी में; इस प्रकार पञ्चतन्त्र की कथाएँ जगत् में फैल गयीं।

'पञ्चतन्त्र' जन्तु-कथाओं के सहारे रूपक-शैली में मनोहर और आकर्षक ढंग से व्यावहारिक ज्ञान की शिक्षा देता है।

२. हितोपदेश

यह पञ्चतन्त्र पर आधारित ४३ कथाओं का संग्रह है, जिसमें २५ तो सीधी पञ्चतन्त्र से ले ली गयी हैं। इसके लेखक और काल का भी कोई निश्चित पता नहीं है।

इसी परम्परा में हम पाली भाषा में रचित बौद्ध साहित्य की जातक कथाओं को ले सकते हैं। इनकी संख्या लगभग ४२३ है। इनकी रचना ई० सन् की दूसरी-तीसरी शताब्दी में हुई होगी। बुद्ध की महत्ता को बताती हुई इन उपदेशात्मक गाथाओं का उद्देश्य मानव-जीवन को सदाचार युक्त बनाना है। ये कथाएँ भी अब विश्व-साहित्य का एक अंग बन गयी हैं।

ऐतिहासिक काव्य

पुराण लिखे जाने की परम्परा के बाद भारत में कई फुटकर ऐतिहासिक काव्य लिखे गये, जिनमें से महत्त्वपूर्ण रचनाओं का संक्षिप्त परिचय नीचे दिया जाता है :—

१. बाण का हर्षचरित (७वीं शताब्दी पूर्वार्द्ध)—इसमें राजा हर्षवर्धन के चरित का वर्णन है। प्रसंगवश तत्कालीन राजनैतिक एवं सामाजिक दशा का चित्रण भी इसमें हो गया है।

२. विल्हण का विक्रमांकदेव-चरित (११वीं शताब्दी)—इसमें विक्रमादित्य षष्ठ (१०७६–११२७ ई०) का वृत्तान्त है।

३. कल्हण की राजतरंगिणी (११५० ई०)—कल्हण संस्कृत साहित्य में सबसे बड़े इतिहास कवि हैं। यह काश्मीर के रहने वाले थे। इनके ग्रन्थ 'राजतरंगिणी' में काश्मीर के राजवंशों का ऐतिहासिक वर्णन है। उन शताब्दियों में काश्मीर की राजनैतिक, सामाजिक, धार्मिक और साहित्यिक गति-विधियों का प्रामाणिक वृत्तान्त इस ग्रन्थ में मिलता है।

इन इतिहास-काव्यों से ऐतिहासिक तथ्यों को पुष्टि मिलती है। ये काव्य इतिहास के ग्रन्थ नहीं हैं। ऐतिहासिक आधार को लेकर कवित्व का इनमें विकास हुआ है।

आलोचनात्मक साहित्य

भारत का साहित्य-शास्त्र—कविता, नाटक आदि काव्य के विभिन्न स्वरूपों की तात्त्विक विवेचना करने वाला शास्त्र—काव्य की मूल प्रेरणा, उसके उद्देश्य, उसके रहस्य और रचना-विधियों को समझाने

वाला शास्त्र, बहुत विकसित है। यह अपने आप में एक पूर्ण वस्तु है। विद्वान् ऐसा मानते हैं कि काव्यात्मक प्रेरणा और सौन्दर्यानुभूति के सम्बन्ध में जो तथ्य भारतीय काव्य-शास्त्र के द्वारा प्रस्तुत किये गये हैं वे सार्वदेशिक और सार्वकालिक हैं, और वे मूलभूत मनोवैज्ञानिक तथ्यों पर आधारित हैं। इसके लिए थोड़ा विवरण में जाना समीचीन होगा।

आलोचना सम्बन्धी साहित्य को संस्कृत में पहले तो नाट्यशास्त्र, अलंकार-शास्त्र और फिर साहित्य-शास्त्र कहा जाने लगा। कविता के विकास के साथ ही कविता का उद्देश्य, कवि की योग्यता, कविता का क्षेत्र, उसके शब्दार्थमय शरीर, रस-भावमय आत्मा, अलंकार, गुण और दोष आदि की चर्चा होने लगी थी। यह चर्चा आरम्भ में इतने विभागों की दृष्टि से शृंखलित अथवा समाहित नहीं थी, फिर भी जो कुछ कहा जाता था, एक पूर्णता को दृष्टि में रखते हुए ही कहा जाता था।

कविता का उद्देश्य एक ऐसी मानसिक भूमि को तैयार करना है, जिससे मानव लौकिक जीवन को सरलता से आनन्दपूर्वक व्यतीत कर सके। प्रेयोमार्ग द्वारा श्रेयस्-निःश्रेयस् की प्राप्ति करने में सफल हो जाय। उसके शब्दों में शक्ति हो मन को ऊँचा उठाने की, भावलोक तक पहुँचा देने की। इस शक्ति का विवेचन शब्द और अर्थ के स्वरूप के विशदीकरण से किया गया और इन दोनों की शक्तियों का सांगोपांग प्रतिपादन अभिधा, तात्पर्य, लक्षणा और व्यंजना आदि नामों के द्वारा किया गया। अपनी सीमाओं के कारण वाणी सम्पूर्ण अर्थ को एकसाथ प्रस्तुत नहीं कर सकती, इस सम्पूर्णता को लाने के लिए वाच्य अर्थ के अतिरिक्त लक्ष्य और व्यंग्य अर्थ की कल्पना की गयी और व्यंग्यार्थ की विविधता का प्रतिपादन जिस सिद्धान्त से किया गया वह ध्वनि-सिद्धान्त कहलाया। पहले तो अलंकार रूप में ही ध्वनियों की समाहिति थी पर काव्य सम्बन्धी चर्चा के बढ़ने के साथ-साथ ध्वनियों को मूल मानकर उस पर काव्य के सारे तत्त्वों का आधान समीचीन प्रतीत हुआ। अब तक माने जाने वाले अलंकार, रीति, गुण आदि से अभिहित 'मत' ध्वनि-सिद्धान्त में यथास्थान समन्वित कर लिये गये। काव्य के कलापक्ष और भाव-पक्ष स्थिर हुए,

कला-पक्ष में शब्द और अर्थ और भाव-पक्ष में ध्वनि का समावेश हुआ। ध्वनियों का संकलित रूप भाव और रस में चरमोत्कर्ष से प्रतिष्ठित हुआ। काव्य के स्वरूप के साथ काव्य के दोषों पर भी विचार हुआ और वे शब्द-दोष, अर्थ-दोष और रस-दोष इस तरह विभाजित हुए। काव्य सम्बन्धी आधुनिक शैली की आलोचना का आरम्भ आज से लगभग २००० वर्ष पहले हुआ था। रस-सिद्धान्त सबसे पुराना सिद्धान्त है, और ध्वनि-सिद्धान्त एक तरह से इसी का एक विकसित रूप है।

संस्कृत में विरचित आलोचना शास्त्र का विस्तृत विवरण तो यहाँ दिया नहीं जा सकता, पर उसके ग्रन्थगत स्वरूप का एक तालिका के द्वारा परिचय दिया जाता है। देखिए : परिशिष्ट 'ख' इस पुस्तक के अन्त में।

इनके अतिरिक्त हिन्दी और अंग्रेजी में संस्कृत-साहित्य-शास्त्र पर कई उत्तमोत्तम ग्रन्थ और प्रबंध लिखे गये हैं। इस रचना में भारतीय और विदेशी विद्वानों का जो योग रहा है वह अत्यन्त प्रशंसनीय है। स्थानाभाव से यहाँ इसका संकेत-मात्र कर दिया गया है।

यह एक विचारणीय बात है कि संस्कृत काव्य के ह्रास का तथा आलोचना-साहित्य के विकास का काल एक ही है।

दसवाँ अध्याय

प्राचीन भारत में शिक्षा

ज्ञान के सम्बन्ध में भारत में जो विचार-मंथन हुआ है, उस पर प्राचीन भारतीय शिक्षा-पद्धति आधारित रही है। इस मंथन में जीवन और मृत्यु के गहन से गहन और सूक्ष्म से सूक्ष्म स्वरूपों की विवेचना समाहित है। जीवन और मृत्यु दोनों मिलकर जीवन की अनन्तता, पूर्णता को बनाते हैं। यह भारतीय संस्कृति का एक विशिष्ट दृष्टिकोण है। शिक्षण-सम्बन्धी मूल्यों का निर्धारण इसी दृष्टि पर अवलम्बित रहा है।

इस चिंतना में व्यक्ति को प्रमुख स्थान मिला है। शिक्षा-प्रणाली भी

इसी लिए व्यक्ति के सर्वांगीण विकास के प्रति उन्मुख रही है। व्यक्ति का विकास, जो इस दृष्टि को लेकर हुआ, उसमें समष्टि का विकास अनिवार्यतः निहित रहा। व्यक्ति को इस विकास की ओर प्रवृत्त करने में आरम्भ से ही गुरु का, पथ-प्रदर्शक का, एक प्रमुख स्थान रहा—ऐसा स्थान जिसकी उच्चता में कभी शंका या अनास्था प्रकट नहीं की गयी। आरम्भ में शिक्षा का अर्थ वेद-मन्त्रों की उच्चारण-विधि तक ही सीमित हुआ। जब आश्रम-धर्म की प्रतिष्ठा हुई तो ब्रह्मचर्याश्रम शिक्षा-काल के अर्थ में प्रयुक्त होने लगा। इस काल में जो विद्या प्राप्त की जाती थी उसका उद्देश्य बना—अमृतत्त्व की प्राप्ति। अमृतत्त्व और व्यक्तित्व का सम्पूर्ण विकास एक ही बात कहने के दो प्रकार हैं। उपनीत शिष्य के लिए गुरु की अन्तेवासिता अनिवार्य थी। गुरु का घर, उसका आश्रम शिष्य का विद्यालय था। इस तरह विद्यालय का आरम्भ मानव की स्वाभाविक जिज्ञासा को सन्तुष्ट करने अथवा प्रगतिशीलता एवं उत्तरोत्तर विकासोन्मुखता की इच्छा के कारण अनायास ही हो गया। इसीलिए हम देखते हैं कि भारत में शिक्षा और उद्योग-धंधे तथा कलावृत्तियाँ घर के वातावरण में ही पनपी हैं। गुरु-शिष्य का पिता-पुत्रवत् सम्पर्क एक पारिवारिक सम्पर्क है, इस सम्पर्क की आवश्यकता शिक्षा के लिए आरम्भिक आवश्यकता मानी गयी है। एक विषय या ग्रंथ के पाठ के सहारे तो कई शिष्य एक गुरु के पास एक साथ अध्ययन करते रहे हैं, किन्तु इस तरह एक साथ पढ़ना ही शिक्षा का एकमात्र उद्देश्य नहीं रहा। प्रत्येक छात्र के व्यक्तिगत विकास की ओर गुरु का ध्यान रहा है, इसलिए उसके जीवन के नियमन में गुरु सदा सावधान रहा है। यहाँ नियमन का अर्थ—विकास की दिशा में मनोवृत्ति को गतिशील बनाना है। इसीलिए सारी मर्यादाओं, पारस्परिक बंधनों के होते हुए भी यह नियमन शिष्य के विकास का साधक ही रहा है, बाधक नहीं। इस अर्थ में गुरुओं में मनोवैज्ञानिकता एक अनिवार्य आवश्यकता मानी गयी है। पारिवारिक वातावरण में दी जाने वाली शिक्षा का यह फल हुआ कि आदर्श और व्यवहार का सुन्दर समन्वय पनपा, जीवन से शिक्षा का सम्बन्ध बना रहा। जंगल से यज्ञ-

यागादि के लिए इंधन आदि लाने, घर को साफ-सुथरा रखने, गो आदि पशुओं का पालन करने, भिक्षा मांगकर लाने आदि के जिन दैनिक कर्तव्यों की शिष्य से अपेक्षा रही थी वह पारिवारिक सेवा के रूप में तो थी ही, इसके साथ ही उसकी व्यावहारिक शिक्षा भी इन कर्तव्यों के सहारे अपने आप हो जाती थी।

इस प्रकार के जीवन में ग्रन्थ-पाठ एक गौण स्थिति में रह जाता था। श्रवण के बाद मनन और निदिध्यासन के लिए पर्याप्त समय मिलता था। इस तरह से प्राप्त हुआ ज्ञान अनुभूति के द्वारा दर्शन के स्वरूप को प्राप्त हो जाता था। दर्शन और अनुभूति, अनुभूति और ज्ञान, ज्ञान और आचरण अथवा ज्ञान और व्यवहार ये मानो एक ही बन जाते थे, इनकी एकता ही शिक्षा का चरम ध्येय थी।

स्पष्ट है कि इस शिक्षा में आध्यात्मिक और लौकिक विषयों का समावेश था। वैदिक साहित्य, षडंगदर्शन, इतिहास, पुराण, स्मृति. साहित्य, क्षत्र-विद्या, नृत्य, गीत, वादित्र, विविध शिल्प आदि की शिक्षा एकान्ततः बहिर्मुखी न होकर अन्तर्मुखी भी होती थी। यज्ञ-यागादि का सविधि सम्पादन मानो उस समय की वैज्ञानिक प्रयोगशालाओं में होने वाले अन्वेषण और अनुसंधान का काम करता था। विद्वत्परिषदों में जाना, विद्वत्सम्मेलनों में भाग लेना तथा एक आश्रम से दूसरे आश्रमों में आना-जाना एक प्रकार के शिक्षा-भ्रमण ही थे। दैनिक परीक्षा गुरु के घर अथवा आश्रम में होती रहती थी। इन परिषदों और सम्मेलनों में तथा दूसरे आश्रमों में उनकी परीक्षा विशेष प्रकार की होती थी। दोनों प्रकार की परीक्षाओं में, आचरण और ज्ञान की उच्चता की परीक्षाओं में, उत्तीर्ण छात्र स्नात अथवा स्नातक समझे जाते थे। इस तरह की परीक्षा में गुरु की सम्मति सर्वोच्च और सर्वमान्य होती थी। संक्षेप में, प्राचीन भारतीय शिक्षा-दृष्टि व्यक्ति के विकास को प्रमुखता के साथ अपना केन्द्र-बिंदु मानती है।

यह एक ध्यान देने की बात है कि जहाँ भारतीय अन्तर्दृष्टि तो सृष्टि में अन्तर्भूत सत्य के दर्शन पर लगी थी, वहाँ भारतीय मेधाशक्ति लगी

थी, 'दृश्य वस्तु' की छानबीन में, तत्सम्बन्धी ज्ञान-विज्ञान की खोज में, एवं उस उपार्जित ज्ञान-विज्ञान के स्पष्टीकरण और वर्गीकरण में। यही कारण था कि विश्व की सभ्यताओं में सबसे पहले भारत में ही ज्ञान-विज्ञान एवं विद्याओं का विषय और उनके क्षेत्र के आधार पर वैज्ञानिक वर्गीकरण प्रस्तुत हो सका। इस प्रकार का वर्गीकरण हमें सर्वप्रथम शतपथ-ब्राह्मण में मिलता है जिसका काल ई० पू० ६वीं शताब्दी माना जाता है। पश्चिमी दुनिया में तो इस प्रकार का वर्णन सर्वप्रथम ग्रीक दार्शनिक अरस्तू के ग्रंथों में हुआ था, जो शतपथ-ब्राह्मण के काल से ५०० वर्ष बाद हुआ। शतपथ-ब्राह्मण में ६ विद्याओं का वर्णन है जिन का अध्ययन अपेक्षित है। इन ६ विद्याओं में चार वेद हैं, एक इतिहास-पुराण जिसमें सृष्टि के आरम्भ, विकास इत्यादि का ज्ञान भी सम्मिलित है, एवं चार अन्य विद्याएँ। इस प्रकार का विद्याओं का वर्णन और उन का वैज्ञानिक वर्गीकरण आगे चलकर छांदोग्य-उपनिषद्, याज्ञवल्क्य स्मृति (ई० सन् की दूसरी शताब्दी), विष्णुपुराण (ई० सन् की छठी शताब्दी), शुक्रनीति ग्रन्थ (११वीं या १२वीं शताब्दी) और अन्त में १७वीं शताब्दी के प्रसिद्ध पंडित और दार्शनिक मधुसूदन सरस्वती के 'प्रस्थान-भेद' में बराबर चलता रहा। विद्याओं में १४ विशेष मान्य या प्रचलित थीं यथा—४ वेद, ६ वेदांग, ४ शास्त्र-पुराण, आन्वीक्षिकी मीमांसा एवं स्मृति-तंत्र या धर्म-शास्त्र। इन १४ विद्याओं के अतिरिक्त ६४ कलाओं का वर्णन भी विशद रूप से आता है। इन सबसे स्पष्ट ज्ञात होता है कि व्यक्तिगत और सामाजिक जीवन को उदात्त, सुन्दर और सुखी बनाने के लिए विविध विद्याओं और कलाओं का विकास, ज्ञान, और अध्ययन आवश्यक समझा जाता था। शिक्षा का द्वार पुरुषों और स्त्रियों दोनों के लिए अपनी-अपनी परिस्थितियों और मर्यादाओं में खुला हुआ था। जीवन के उच्चतम ज्ञान से कोई वञ्चित नहीं रहता था। स्त्रियाँ भी ब्रह्मविद्या प्राप्त करके ऋषिकाएँ बनती थीं। ऋग्वेद में अनेक ऋषिकाओं के नाम आये हैं—जैसे रोमशा, लोपामुद्रा, विश्वपारा, शाश्वती, अपाला, घोषा, उर्वशी आदि। विदुषी स्त्रियाँ शास्त्रार्थ में

भाग लेती थीं, जैसे गार्गी का याज्ञवल्क्य ऋषि से शास्त्रार्थ, और इन्हीं ऋषि से मैत्रेयी का विवाद। स्त्रियाँ उच्च विद्या के लिए ऋषियों के आश्रमों में जाती थीं, ऐसे छात्रावासों को छात्राशाला कहा जाता था।

गुरु के घरों को तो एक रूप से विद्यालयों का-सा स्वरूप प्राप्त था और आश्रमों को तथा आगे चलकर मठों और विहारों को, विश्व-विद्यालयों का। ये आश्रम जंगलों में, खुले वातावरण में होते थे। प्रकृति की गोद में मानो छात्र पलते थे, नगरों और गाँवों के कोलाहल से दूर, गृहस्थ-जीवन की समस्याओं से निश्चिन्त, निर्विकार और तटस्थ भाव से ज्ञानार्जन करते हुए। इन आश्रमों में देश-विदेशों से छात्र अध्ययन के लिए, जीवन के दर्शन को प्राप्त करने के लिए हज़ारों की संख्या में आते थे। शिक्षा की व्यवस्था इस प्रकार की थी जिसमें कुलपति का प्रत्येक छात्र से सम्बन्ध शिष्य-प्रशिष्य प्रणाली द्वारा अपने आप स्थापित हो जाता था। विभिन्न विषयों के आचार्य अपनी परिषद् के द्वारा आश्रम की शिक्षा-सम्बन्धी तथा आश्रमों के जीवन-निर्वाह-सम्बन्धी व्यवस्था करते थे। कुलपति प्रथम और अन्तिम निर्णेता होते थे। समाज इन आश्रमों अथवा शिक्षा-केन्द्रों के प्रति श्रद्धालु था, उनके संरक्षण का भार तत्कालीन शासन-व्यवस्था पर था। शासन-व्यवस्था का शिक्षा-संचालन में किसी प्रकार का हस्तक्षेप नहीं था।

प्राचीन भारत में निम्नांकित विद्यालय अथवा विश्वविद्यालय प्रसिद्ध थे—

तक्षशिला

विद्वानों का अनुमान है कि ई० पू० ६०० के लगभग विद्याध्ययन के एक केन्द्र के रूप में तक्षशिला का नाम ज्ञात था। उस प्राचीन काल में तो यह विशेषकर वेदाध्ययन का केन्द्र था किंतु शिक्षा के आदर्श, शिक्षा के विषय और शिक्षण-व्यवस्था इत्यादि में समयानुकूल परिवर्तन होता जाता था। कालान्तर में वह एक महान् विश्वविद्यालय के रूप में परिणत हो गया और यहाँ भाषा, विज्ञान, धर्म, दर्शन, ज्योतिष,

गणित, युद्ध-विद्या और अन्य अनेक कलाओं की उच्चस्तरीय शिक्षा दी जाने लगी। औषधि एवं जीव-विज्ञान की उच्चतम शिक्षा के लिए तो समस्त भारत में यह विश्वविद्यालय लोक-प्रसिद्ध था। विद्याध्ययन के लिए विद्यार्थी यहाँ न केवल भारत के सभी भागों से वरन् देशांतरों जैसे ग्रीस, पश्चिमी एशिया के प्रदेश, मध्य एशिया और चीन से भी आते थे।

नालंदा-विश्वविद्यालय

(बिहार में) नालन्दा में पहले तो प्रियदर्शी अशोक ने बौद्ध-भिक्षुओं के लिए एक बिहार बनाया था। फिर ई० सन् की प्रथम शताब्दी के आरम्भ तक वह शिक्षा का केन्द्र बन चुका था। बौद्ध-धर्म के महानतम दार्शनिक नागार्जुन ने चौथी शताब्दी में नालंदा-विश्वविद्यालय में ही शिक्षा पायी थी। यहाँ वैदिक और बौद्ध दोनों दर्शनों का वैज्ञानिक अध्ययन होता था। अपनी चरम उन्नति के काल में (३री-४थी शताब्दी से राजपूत युग के आरम्भ तक) नालंदा में छः-छः मंज़िलों के कई बिहार थे, अनेक अन्य भवन थे, मंदिर थे, स्नानागार एवं छात्रावास थे। लगभग १०,००० तक विद्यार्थी वहाँ रहकर विद्याध्ययन करते थे, उनमें लगभग १५०० शिक्षक थे। नालंदा उच्च शिक्षा का केन्द्र था— विश्वविद्यालय के स्तर की शिक्षा का। इसकी प्रसिद्धि देशांतरों में फैली हुई थी, और यहाँ विद्याध्ययन करने के लिए चीन, तिब्बत, नेपाल, मध्य-एशिया, ब्रह्मा, कम्बोज आदि से विद्यार्थी और पंडित आते थे।

वलभी

वलभी मैत्रक राजाओं (४७५-७७५ ई०) की राजधानी थी, और उन्हीं राजाओं के दान से वहाँ एक विश्व-विद्यालय का निर्माण हुआ था। यह भी एक विशाल शिक्षाकेन्द्र था जहाँ नालंदा की तरह भारत के विभिन्न भागों से एवं विदेशों से भी कुछ विद्यार्थी विद्याध्ययन के लिए आते थे। यहाँ धर्म, नीति, वार्ता एवं चिकित्सा-शास्त्रों का विशेष अध्ययन होता था। बौद्ध-धर्म के हीनयान सम्प्रदाय की शिक्षा की यहाँ विशेष व्यवस्था थी। यहाँ दीक्षित हो जाने के पश्चात् राजाओं के यहाँ

राज्य-कार्य में उत्तरदायित्व पूर्ण कार्य मिल जाता था।

विक्रमशिला

उत्तर-मगध में गंगा के किनारे राजाओं के दान से विक्रमशिला विश्वविद्यालय का निर्माण हुआ था। विश्व-विद्यालय से ६ विहार (कालेज) सम्बन्धित थे, जहाँ सैकड़ों विद्यार्थी अध्ययन करते थे। अध्ययन-अध्यापन का स्तर बहुत ऊँचा था। यहाँ भी विदेशी छात्र पढ़ते थे। इस विश्वविद्यालय ने अनेक प्रसिद्ध विद्वान् एवं पण्डित उत्पन्न किये। मुसलमानी राज्यकाल में यह विशाल विद्याकेन्द्र एवं यहाँ का विशाल पुस्तकालय ध्वस्त कर दिये गये।

मिथिला

पूर्व-प्रदेश में वेद, दर्शन एवं उपनिषद्-विद्याओं का यह एक बड़ा केन्द्र था। जनश्रुति के अनुसार इस विद्यालय का अस्तित्व वैदिक काल में था। यहाँ के दार्शनिक राजा जनक कुरु और पंचाल देशों के ब्राह्मण पण्डितों एवं दार्शनिकों को वार्ता और शास्त्रार्थ के लिए आमन्त्रित किया करते थे। उत्तरकाल में न्याय और दर्शन-शास्त्रों के यहाँ कई प्रसिद्ध पण्डित हुए। उपनिषद् एवं दर्शन-शास्त्रों के अध्ययन के लिए यहाँ भारत के विभिन्न भागों से विद्यार्थी आते थे। विश्वविद्यालय में प्रवेश एक विशेष परीक्षा को उत्तीर्ण करने पर ही होता था। यह परम्परा १६वीं शताब्दी तक चलती रही।

इसी प्रकार प्राचीन भारत में जगद्दल, ओदन्तपुरी, नाडिया—ये तीन विश्वविद्यालय भी प्रसिद्ध थे। इनमें से नाडिया की ख्याति विदेशों में भी फैली हुई थी।

उत्तर-भारत में काशी और दक्षिण भारत में कांजीवरम् प्राचीन काल से वेद-विद्या के प्रसिद्ध केन्द्र माने जाते रहे हैं। काशी में विधिवत् स्थापित विद्यालयों की चर्चा तो प्राचीन साहित्य में प्रायः नहीं मिलती किन्तु इस रहस्यमयी नगरी के वेदभास्कर और विद्यामार्तण्ड पण्डितों के निवास-स्थानों पर देश के कोने-कोने से विद्या के लिए आतुर विद्यार्थी एकत्र होते रहते थे और सरल तथा विनीत भाव से विद्याध्ययन करते

रहते थे। प्रसिद्ध जनश्रुति है कि काशी गये बिना ब्रह्मचारी की विद्या पूर्ण नहीं समझी जाती थी। इस अत्यन्त प्राचीन नगरी के नाम से ही भारतीय पवित्रता, पुरातनता और रहस्यमयता की ध्वनि सतत निकलती रहती है।

ग्यारहवाँ अध्याय

भारत में लेखन-कला का विकास

ज्ञान-विज्ञान की थाती तभी बनी रह सकती है जब वह लिखित (ग्रन्थाकार) रूप में सुरक्षित हो। अतः व्यक्ति की उन्नति का साधन, मानव सभ्यता और संस्कृति के विकास का प्रमुख माध्यम, लिखित ग्रंथ ही तो हो सकते हैं। हम अपने पूर्वजों के समस्त विशाल ज्ञान, उदात्त विचार और गहन अनुभूतियों के धनी इसीलिए तो हैं कि वह समस्त ज्ञान, वे समस्त विचार और अनुभूतियां हमें पुस्तकों में उपलब्ध हैं। हम भी यदि किसी नये विचार की उद्भावना करें, ज्ञान-विज्ञान की किसी नयी बात का आविष्कार करें तो उसकी जानकारी भावी मानव को तभी तो करा सकते हैं जब हम उस विचार या बात को लिखकर सुरक्षित कर दें। वैदिक ऋषि ने मन्त्रदृष्ट किये, जैन मुनि ने अपना प्रवचन सुनाया, बुद्ध ने अपनी 'वाणी' कही—क्या ये सब-के-सब उसी समय लिखित रूप में सुरक्षित कर लिये गये थे? क्या उस प्राचीन वैदिक काल में—आज से ५००० वर्ष पूर्व, लिखने का प्रचार था? यदि था, तो कैसी लिपि थी? किसने इसका आविष्कार किया था? लिखने के कौन-से साधन थे? क्या उस समय काग़ज़, स्याही, कलम थे? ये प्रश्न हैं, इनका उत्तर जाने बिना हम भारतीय संस्कृति को तो क्या, किसी भी संस्कृति और सभ्यता को अच्छी तरह से समझ नहीं सकते।

इतनी बात तो निर्विवाद और स्पष्ट है कि मानव के जन्म के साथ-साथ भाषा नहीं आयी पृथ्वी पर मानव जगत् के हज़ारों वर्ष बाद

किन्हीं सुस्पष्ट भाषाओं का विकास हुआ, और जिस किसी भी भाषा का विकास हुआ उसका बोले जाने वाला रूप पहले बना, और लिखे जाने वाला रूप, उसकी लिपि, बोले जाने वाले रूप के अनेक वर्षों बाद। इस प्रकार वैदिक ऋषि ने सर्वप्रथम जब वेदमन्त्र उच्चारित किया तो तुरन्त वह लिख नहीं लिया गया, लिपि-बद्ध नहीं कर लिया गया। पुरातत्त्व-वेत्ताओं, विशेषकर यूरोपीय विद्वानों का मत है कि "भारतीय आर्य लोग पहले लिखना नहीं जानते थे, उनके वेदादि ग्रंथों का पठन-पाठन केवल कथन-श्रवण द्वारा ही होता था और पीछे से उन्होंने विदेशियों से लिखना सीखा।"[१] मैक्समूलर ने लिखा है—"मैं निश्चय के साथ कहता हूँ कि पाणिनि की परिभाषा में एक शब्द भी ऐसा नहीं है जो यह सूचित करे कि लिखने की प्रणाली पहले से थी।" मैक्समूलर ने पाणिनि का काल ई०पू० चौथी शताब्दी माना है, अतः उसके कथन का यह अर्थ हुआ कि ई०पू० चौथी शती से पहले भारत में लिखने का प्रचार नहीं था। एक दूसरे यूरोपीय पुरातत्त्ववेत्ता बर्नेल का भी लगभग यही अभिमत है कि भारत में ई०पू० चौथी-पाँचवी शताब्दी पहले के काल में लिखने का प्रचार नहीं था। उसका कथन है कि "फिनीशियन लोगों से भारतवासियों ने लिखना सीखा और फिनीशियन अक्षरों का, जिनसे दक्षिणी अशोक लिपि (भारतीय वर्णमाला, ब्राह्मी लिपि) बनी, भारतवर्ष में सम्भवतः ई०पू० ५०० से पहले प्रवेश नहीं हुआ।" इसके विपरीत भारतीय आर्यों का यह मानना है कि उनके यहां बहुत प्राचीन काल से लिखने का प्रचार चला आता है और उनकी लिपि (ब्राह्मी), जिसमें प्रत्येक अक्षर या चिह्न एक ही ध्वनि या उच्चारण का सूचक है और जो संसार भर की लिपियों में सबसे सरल और निर्दोष है, का निर्माण स्वयं वैदिक ऋषियों ने ही किया था। जो कुछ हो, इस सम्बन्ध में कोई बिलकुल निश्चित बात तो नहीं कही जा सकती कि भारत में लिखने का—ज्ञान को लिखित रूप में ग्रंथित कर

---

१. भारत में 'लिखने—लिपि का प्रारम्भ' प्रश्न पर हमारी विवेचना का मुख्य आधार स्व० गौरीशंकर हीराचंद ओझा द्वारा लिखित 'भारतीय प्राचीन लिपिमाला' ग्रंथ है।

लेने का—प्रचलन कब प्रारम्भ हुआ। हां, तथ्यों के आधार पर उसकी प्राचीनता का अनुमान हम अवश्य लगा सकते हैं। यही प्रयत्न नीचे किया जा रहा है। इसके पूर्व एक बात की चर्चा आवश्यक है। वह यह कि भारत की प्राचीन सिंधु-घाटी सभ्यता (ई० पू० ३२५०–१५५०) के लोगों में लिखने का प्रचलन था। उनकी लिपि एक प्रकार की चित्रलिपि थी। यह सभ्यता तो लुप्त हो गयी, और उस सभ्यता की मिट्टी की पट्टियों या मुद्राओं पर जो कुछ भी लिखित सामग्री हमें मिली है, वह अभी तक पढ़ी नहीं जा सकी है। खैर, इतना तो निश्चित है कि उनकी भाषा और लिपि भारतीय भाषाओं और लिपियों की परम्परा में नहीं है, और न उनका भारतीय साहित्य से, जिसमें हमारी सांस्कृतिक थाती निहित है, कोई प्रत्यक्ष लगाव। अतः हमारे प्रश्न से सिंधु-घाटी सभ्यता की भाषा और लेखन-विधि से, चाहे वह अत्यन्त प्राचीन थी, कोई सीधा सम्बन्ध नहीं।

१. ई० पू० १५५० के लगभग जब सिंधु घाटी के नगर हरप्पा का पतन हुआ तब से ई० पू० तीसरी शताब्दी के मध्य तक कोई भी चीज़ लिखित रूप में उपलब्ध नहीं होती। भारत में सबसे प्राचीन लिखित सामग्री तो अशोक के शिला-लेख हैं जो भारत के विभिन्न भागों में कुछ साधारण हेर-फेर के साथ ब्राह्मी लिपि में खुदे हुए मिलते हैं। अभी हाल में अशोक से पूर्व के भी दो छोटे-छोटे शिला-लेख मिले हैं,[1] जिनमें से एक में तो जैन तीर्थंकर महावीर और दूसरे में बुद्ध के सम्बन्ध में कुछ तथ्य अंकित हैं और जो ई० पू० ५वीं शती के सिद्ध होते हैं। इनसे प्रकट होता है कि ई० पू० ५वीं शताब्दी में लिखने का प्रचार इस देश में कोई नयी बात नहीं थी।

२. निआर्क्स (ग्रीक सम्राट् सिकंदर का एक सेनापति) कहता है कि भारत के लोग रुई या रुई के चिथड़ों को कूट-कूटकर लिखने के लिए कागज़ बनाते हैं। मेगस्थनीज़ लिखता है कि यहाँ पर दस-दस स्टेडिया (६०६ फ़ीट ९ इंच) के अन्तर पर पाषाण लगे हैं, जिनसे धर्मशालाओं का तथा दूरी का पता लगता है, नये वर्ष के दिन भावी फल (पंचांग)

१. देखिए—ओझा : 'भारतीय प्राचीन लिपिमाला', पृष्ठ २, ३.

सुनाया जाता है, जन्म-पत्र बनाने के लिए जन्म-समय लिखा जाता है और न्याय स्मृति के अनुसार होता है।[1] इन दोनों लेखकों के कथन भारत में लेखन-कला की प्राचीनता के सूचक हैं।

३. ऋग्वेद से प्रारम्भ कर, पश्चात्वर्ती अनेक प्राचीन ग्रंथों में लेखन-कला के अस्तित्व के अनेक संकेत और स्पष्ट उल्लेख मिलते हैं। जैसे, ऋग्वेद में गायत्री, उष्णिक्, अनुष्टुप्, बृहती, पंक्ति, त्रिष्टुप् और जगती आदि छन्दों के नाम, एवं पदसंख्या के आधार पर उनके भेदों का उल्लेख मिलता है--- छन्दों के भेद और पद-संख्या का विवेचन लिखित साहित्य के आधार पर ही किया जा सकता है। छान्दोग्य उपनिषद् में अक्षर शब्द मिलता है : तैत्तिरीय उपनिषद् में वर्ण और मात्रा का उल्लेख मिलता है, ऐतरेय ब्राह्मण में ओम् अक्षर को अकार, उकार और मकार वर्णों के संयोग से बना हुआ बतलाया है, शतपथ-ब्राह्मण में एकवचन, द्विवचन और बहुवचन, तथा तीनों लिंगों के भेद का विवेचन मिलता है, और फिर यास्क मुनि का प्रसिद्ध निरुक्त ग्रंथ और पाणिनि का 'अष्टाध्यायी' व्याकरण---इन सब बातों से स्पष्ट होता है कि वेद, ब्राह्मण, उपनिषद्, आदि साहित्य के उत्पत्ति-काल से यदि लिखने का प्रचार न होता तो व्याकरण और उसके पारिभाषिक शब्दों की चर्चा भी न होती क्योंकि जो जातियाँ लिखना नहीं जानतीं वे छन्दोबद्ध गीत और भजन अवश्य गाती हैं, कथाएँ कहती हैं परन्तु उनको स्वर, व्यंजन, घोष, संधि, एकवचन, बहुवचन, लिंग आदि व्याकरण के पारिभाषिक शब्दों का ज्ञान सर्वथा नहीं होता।[2] व्याकरण की रचना लेखनकला की उन्नत दशा में ही होती है और उसके लिए भाषा का सारा साहित्य टटोलना पड़ता है।

अतः यही मत न्यायसंगत लगता है कि भारत में लेखन-कला का प्रचलन अशोक के कुछ ही वर्ष पहले नहीं (जैसा कि कुछ विद्वान् मानते हैं) बल्कि यदि ठेठ ऋग्वैदिक युग में नहीं तो कम से कम अशोक से

१. देखिए भारतीय प्राचीन लिपिमाला पृष्ठ ३---४

२. देखिए भारतीय प्राचीन लिपिमाला पृष्ठ १०

बहुत-सी शताब्दियों पहले प्रारम्भ हो चुका था। इस मत को कुछ-कुछ यूरोपीय विद्वान् भी अब मानने लगे हैं। बूलर लिखता है कि इस अनुमान को रोकने के लिए कोई कारण नहीं कि वैदिक समय में भी लिखित पुस्तकें मौखिक शिक्षा और दूसरे अवसरों पर सहायता के लिए काम में ली जाती थीं।'[1] राथ लिखता है कि लिखने का प्रचार भारतवर्ष में प्राचीन समय से ही होना चाहिए क्योंकि यदि वेदों के लिखित पुस्तक विद्यमान न होते तो कोई प्रातिशाख्य बना न सकता।[2] कोई आश्चर्य नहीं यदि कुछ और तथ्यों के उद्घाटित हो जाने पर विद्वान् यह मानने लगें कि ऋग्वैदिक काल में लेखन-विधि ज्ञात थी।

भारत में लिखने की प्राचीनता के विषय में इतना विवेचन हो जाने के बाद अब यह प्रश्न रहता है कि वह लिखना किस विधि—लिपि—में होता था और किसने इसका आविष्कार किया।

प्राचीनतम प्राप्त लेखों, जैसे ई० पू० ४थी-५वीं शतियों एवं अशोक-काल के शिला-लेखों से यह ज्ञात होता है कि उस समय भारत में दो लिपियाँ प्रचलित थीं,—एक तो नागरी की तरह बाईं से दाहिनी ओर लिखी जाती थी जिसे ब्राह्मी-लिपि का नाम दिया गया है, जो नागरी (देवनागरी[3])का ही प्राचीन रूप है, और दूसरी फ़ारसी की तरह दाहिने से बाईं ओर लिखी जाती थी जिसे खरोष्ठी लिपि नाम दिया गया। ब्राह्मी लिपि ही सार्वदेशिक थी और यही अनुमान है कि इसी लिपि या इसी के किसी पूर्व रूप में वेदादि ग्रंथ सर्वप्रथम लिखे गये होंगे। इसकी उत्पत्ति के विषय में विद्वानों के भिन्न-भिन्न मत हैं :—

डा० आफ्रेड मूलर का अनुमान है कि सिकन्दर के समय यूनानी लोग भारत में आये और उन्हीं से यहाँ वालों ने अक्षर सीखे। विद्वान् प्रिन्सेप और सेनार्ट ने भी यूनानी लिपि से ब्राह्मी लिपि का बनना अनुमान किया है। कस्ट का मानना है कि एशिया के पश्चिम में रहने वाले फ़िनीशियन लोग,

---

१. भारतीय प्राचीन लिपिमाला पृष्ठ १५ से उद्धृत

२. भारतीय प्राचीन लिपिमाला से उद्धृत

३. 'नागरी' नाम कब से प्रसिद्धि में आया, यह निश्चित नहीं।

(व्यापार-चतुर लोग) ई० पू० की ८वीं शती में लिखना जानते थे, उनका व्यापारिक सम्बन्ध भारत के साथ रहने तथा उन्हीं के अक्षरों से ग्रीक, रोमन तथा सेमेटिक भाषाओं के अक्षर बनने से अनुमान होता है कि ब्राह्मी लिपि भी फ़ीनीशियन लिपि से बनी होगी। स्टिवैन्सन् का अनुमान है कि ब्राह्मी लिपि या तो फ़िनीशियन लिपि से बनी हो या मिस्र के अक्षरों से। इस प्रकार यूरोपीय विद्वान् मिस्र की हिअरेटिक लिपि या फिनीशियन या ग्रीक लिपि से ब्राह्मी लिपि की उत्पत्ति मानते हैं, और उनका अनुमान है कि यह ब्राह्मी लिपि ई० पू० की ५वीं-छठी शती से तीसरी चौथी शती के समय तक कभी अस्तित्व में आ गयी होगी।

किन्हीं भारतीय विद्वानों का यह मत है कि वर्णमाला का जन्म तो प्रारम्भिक मनुष्य के जीवन-काल में ही हुआ होगा, किन्तु उसका अंगोपचय बाद में। इस आधार पर, उनके मतानुसार भारत के प्रागैतिहासिक मृण्मय पात्रों पर अंकित संकेतों को ब्राह्मी लिपि के अक्षरों का पूर्व रूप मान लिया जाना युक्तिसंगत है।

किन्तु विशेष अध्ययन के फलस्वरूप यह अनुभव करके कि ब्राह्मी लिपि के अक्षर भारतीय भाषाओं की ध्वनि के बिल्कुल अनुरूप हैं, यह मान्यता बनने लगी है कि ब्राह्मी लिपि किन्हीं व्यापारियों की अपूर्ण-सी प्रारम्भिक लिपि से उत्पन्न नहीं हुई है, बल्कि उसकी रचना ज्ञानपूर्वक किन्हीं ऐसे पंडितों ने की होगी जो कि वैदिक भाषा के ध्वनि-विज्ञान से परिचित थे। महामहोपाध्याय पं० गौरीशंकर हीराचंद ओझा लिखते हैं—"ब्राह्मी लिपि के अक्षर न तो फिनीशियन या अन्य किसी लिपि से निकले हैं और न उसकी बाईं ओर दाहिनी ओर लिखने की प्रणाली किसी और लिपि से बदलकर बनायी गयी है। यह भारतवर्ष के आर्यों का अपनी खोज से उत्पन्न किया हुआ मौलिक आविष्कार है। इसकी प्राचीनता और सर्वांग-सुन्दरता से चाहे इसका कर्ता ब्रह्मा देवता माना जाकर इसका नाम ब्राह्मी पड़ा, चाहे साक्षर समाज ब्राह्मणों की लिपि होने से यह ब्राह्मी कहलायी हो, पर इसमें संदेह नहीं कि इसका फिनीशियन से कुछ भी सम्बन्ध नहीं। ···आर्य-भाषाओं की ध्वनियों को व्यक्त करने के

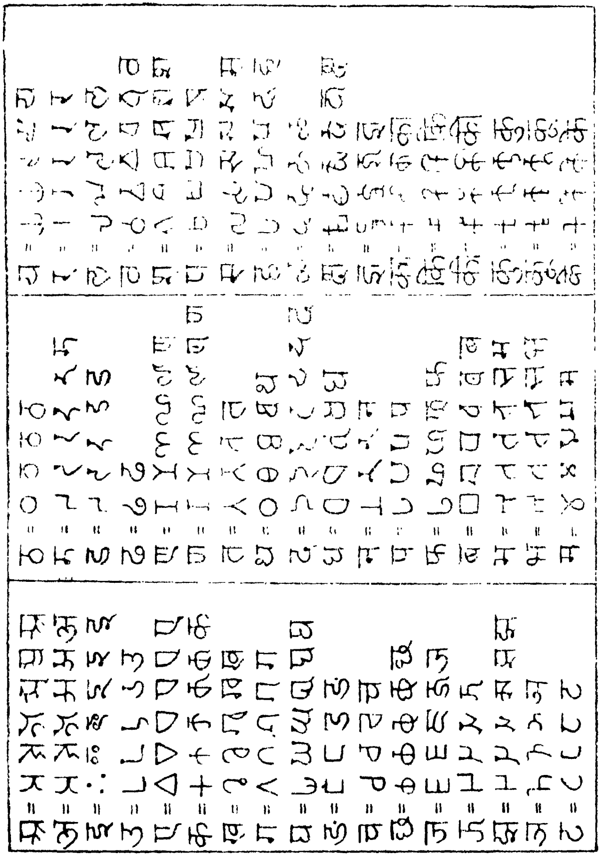
लिए इसमें किसी प्रकार के संशोधन या परिवर्तन करने की अपेक्षा नहीं है।"[१]

तो ब्राह्मी लिपि भारतवर्ष की प्राचीन लिपि है जिसका रूप अशोक एवं कुछ पूर्ववर्ती काल के शिलालेखों में मिलता है, किन्तु "हस्तलिखित लिपियों में सर्वत्र ही समय के साथ और लेखकों की लेखन-रुचि के अनुसार परिवर्तन हुआ ही करता है।" ब्राह्मी लिपि में भी समय के साथ बहुत कुछ परिवर्तन हुआ और उससे कई एक लिपियाँ निकलीं। "हमारे देश की नागरी, शारदा (काश्मीरी), गुरुमुखी, बंगला, उड़िया, तेलगू, कनड़ी, तामिल आदि समस्त वर्तमान लिपियाँ एक ही मूल लिपि ब्राह्मी से निकली हैं। इन विभिन्न आधुनिक लिपियों का प्रचार ई० सन् की प्रायः ८वीं शताब्दी से होना पाया जाता है। नागरी लिपि का प्रचार ९वीं शताब्दी के अन्त के आस-पास से मिलता है। ई० पू० ३री-४थी शताब्दी से ई० सन् की ९वीं-१०वीं शताब्दी तक ब्राह्मी लिपि में कैसे रूपान्तर हुए, और उसने कैसे आधुनिक नागरी लिपि का रूप धारण किया यह बात सामने के चित्र से स्पष्ट हो जायगी।

अब देखना यह रहा कि प्राचीन काल में लिखने के लिए क्या साधन काम में लिये जाते थे। तब आजकल जैसे मुद्रण-यन्त्र तो थे नहीं, और न कारखानों में बने काग़ज़, न फाउंटेन पैन, लोहे के निब या रासायनिक स्याहियाँ। किन्तु उन प्रारम्भिक युगों में मानव ने अपनी आवश्यकता पूरी करने के लिए सामग्री का निर्माण कर ही लिया था, और वह भी कम कामचलाऊ नहीं। जिन पर लिखा जाय वे वस्तुएँ थीं—मुख्यतया ताड़-पत्र, भोज-पत्र और कभी-कभी काग़ज़, रुई का कपड़ा, रेशमी कपड़ा, चमड़ा, पत्थर (शिलालेख), लकड़ी का पट्ट और सोना, चाँदी, ताँबा, लोहे आदि धातुओं के पत्र जिनमें मुख्य थे ताँबे के पत्र। जिससे लिखा जाय वह वस्तु थी स्याही—मुख्यतया काली स्याही, और कभी-कभी लाल स्याही और सोने और चाँदी की सुनहरी और रुपहरी स्याहियाँ भी। जिसके द्वारा लिखा जाय वह थी लेखनी (कलम)।

---

१. **ओझा : भारतीय प्राचीन लिपिमाला, पृष्ठ २८-२९**



नागरी लिपि का उद्भव

ताड़पत्र

ताड़ (ताल, ताली) वृक्ष दक्षिण में और समुद्रतट के प्रदेशों में विशेष रूप से, और राजस्थान और पंजाब में साधारण रूप से पाया जाता है। ताड़ के पत्तों को काट लिया जाता है और उनकी आवश्यकतानुसार लम्बी और दो-चार इंच चौड़ी पट्टियाँ निकाल ली जाती थीं। इनको पहले सुखा देते थे, फिर पानी में उबाल लेते थे और फिर उनको सुखाकर शंख, कौड़े या चिकने पत्थर आदि से घोटते थे। इस प्रकार तैयार हो जाने के बाद उन पर स्याही से लिखते थे। कभी-कभी, विशेषकर दक्षिण भारत में, उन पर अक्षर कुरेदते थे और कुरेदे हुए अक्षरों पर कज्जल फेर दिया जाता था। इस प्रकार लिखे हुए पत्रों के मध्य में एक छिद्र किया जाता था। उस छिद्र में डोरी डालकर उन पत्रों को एक पुस्तक के रूप में बाँध लिया जाता था। अब तक प्राप्त ताड़-पत्र की पुस्तकों में सबसे पुरानी दूसरी शताब्दी की एक पुस्तक उपलब्ध हुई है।

भोजपत्र (भुर्जपत्र)

भोज नामक वृक्ष हिमालय प्रदेश में बहुतायत से होता है। इस वृक्ष की लम्बी-चौड़ी छाल से ही भोजपत्र बनाया जाता था। उसको तेल लगाकर मजबूत किया जाता था और फिर ताड़पत्र की तरह घोटकर चिकना किया जाता था। फिर उस पर स्याही से लिखा जाता था, और ताड़पत्र की तरह ही उसे ग्रंथित कर लिया जाता था। भोजपत्र पर लिखी हुई पुस्तकें विशेषकर काश्मीर में मिली हैं। अब तक उपलब्ध पुस्तकों में पाली भाषा में लिखी 'धम्मपद' पुस्तक का एक अंश है, जिसे दूसरी या तीसरी शताब्दी का लिखा हुआ माना जाता है।

कागज़

ऐसा माना जाता है कि कागज़ का आविष्कार सबसे पहले चीन वालों ने १०५ ई० सन् में किया था। किन्तु जैसा कि इसी अध्याय में ऊपर लिखा जा चुका है, ग्रीक सेनापति निआर्क्स के अनुसार ई० पू० चौथी शताब्दी में भारतवर्ष के लोग रुई या चिथड़ों को कूट-कूटकर कागज़

बनाते थे। इन कागजों को शंख या कौड़ी आदि से घोटकर ताड़पत्र की तरह चिकना भी बनाया जाता था और फिर उन पर काली स्याही से लिखा जाता था। ऐसा अनुमान है कि हाथ का बना यह कागज सुलभ नहीं था, न यह बहुत काल तक टिक पाता था, इसलिए कागज पर लिखी हुई प्राचीन पुस्तकें बहुत कम मिली हैं। मध्य एशिया के कुछ स्थानों से कुछ पुरानी संस्कृत पुस्तकें मिली हैं जो ई० सन् की ५वीं शताब्दी की मानी जाती हैं। इसके बाद तो कागज़ पर लिखे कुछ ग्रंथ १३वीं शताब्दी के मिले हैं।

काली स्याही

प्राचीन काल में लिखने के लिए काली स्याही निम्न प्रकार से बनायी जाती थी। पीपल की लाख को पीसकर मिट्टी की हंडिया में पानी के साथ आग पर चढ़ा दिया जाता था। फिर उसमें सुहागा और लोध पीसकर डाल दी जाती थी। उबलते-उबलते जब लाख का रस पानी में यहाँ तक मिल जाता कि कागज़ पर उससे गहरी लाल लकीर बनने लगती, तब उसे उतार कर छान लिया जाता था। तब उसमें तिलों के तेल के दीपक के कज्जल को कपड़े की पोटली में रखकर फिराते जाते थे, और उस वक्त तक फिराते थे जब तक कि कज्जल उक्त रस में ऐसा नहीं घुल जाता कि उससे सुन्दर काले अक्षर बनने लग जायँ। इस प्रकार बनी हुई स्याही का अधिक प्रयोग कागज़ और ताड़पत्र पर लिखने में होता था। भोजपत्र पर लिखने के लिए स्याही बादाम के छिलकों के कोयलों को गोमूत्र में उबालकर बनायी जाती थी। लाल स्याही हिंगलू को उक्त पीपल की लाख के रस में घोलकर बनायी जाती थी। भोजपत्र, ताड़पत्र, कागज़ और कपड़े या लकड़ी के पट्ट पर क़लम (लेखनी) से, जो नड़ (बरू) या बाँस की होती थी, लिखा जाता था।

बारहवाँ अध्याय

भारतीय कला

भारत में सौन्दर्यात्मक अनुभूति की काव्यात्मक अभिव्यक्ति का परिचय पहले दिया जा चुका है। अब हम उस अद्भुत और अलौकिक संसार का परिचय यहाँ देने का प्रयास करेंगे, उस भवन, मूर्ति और रंग की दुनिया का, जिसकी रचना भारतीय कलात्मक वृत्ति ने की। वास्तु, मूर्ति और चित्र की इस दुनिया को साधारण उपलब्धि नहीं समझना चाहिये, यह दुनिया तो मानो दृश्य या मूर्त रूप है उस अलौकिक भाव का जो जीवन के किन्हीं उदात्त क्षणों में मानव-चेतना में जागृत हो उठता है। यह जागृति मानव के मन की सचमुच एक ऐसी स्थिति होती है जब वह लोकोत्तर प्रकाश, सुख और शांति का अनुभव करता है। भारत में सांची के स्तूप, भुवनेश्वर की मूर्तियाँ, दक्षिण के विशाल मंदिरों के उन्नत शिखर, और अजन्ता के भित्ति-चित्र इस देश की कला की असाधारण अभिव्यक्ति हैं। ये कृतियाँ प्रकट करती हैं मनुष्य के हाथ, मस्तिष्क और भावना की अद्भुत शक्ति को। मानव प्रेरित होता है उस सौन्दर्य-भावना से जो उसकी आत्मा में कभी-कभी उभर आती है। वह उस सौन्दर्य को एक मूर्त रूप देकर अपनी आँखों के सामने खड़ा कर देना चाहता है। इस काम में बुद्धि उसकी मदद करती है, बतलाती है कौन-सा पत्थर, चूना, ईंट, मिट्टी मिलायी जाय, कैसे मिलायी जाय, कैसा आकार स्थित किया जाय, कैसे पत्थर काटा जाय, किस वस्तु के रंग बनाये जायँ, कैसे बनाये जायँ, कौन-कौन से रंग बनाये जायँ। तो इस प्रकार अंतर की प्रेरणा और बुद्धि की सहायता पाकर मनुष्य के हाथ जुट जाते हैं, किसी भवन, मूर्ति या वस्तु को बनाने में। मानव सचमुच ही अपनी आत्मा के आनन्द को एक मूर्त रूप देने में सफल हो जाता है, स्वयं आनंदित होता और दर्शकों को आनंदमय कर देता है। आनंद की उस स्थिति में मानो सृष्टि के सारे रहस्य आत्मसात् हो जाते हैं। भारत धन्य है, जहाँ कला ऐसे पावन स्वरूप को लेकर अवतीर्ण हुई है।

सामान्यतया ऐसा माना जाता रहा है कि भारतीय कला इस स्थूल संसार और जीवन से ऊपर उठकर, लौकिक या सामाजिक जीवन से सम्पर्क त्याग कर सदैव किसी परोक्षसत्ता—सृष्टि में अंतर्भूत सूक्ष्म तत्त्व से सम्पर्क साधने में ही लीन रही। कलाकार की तूलिका उसी तत्त्व की तलाश में चली है—मूर्तिकार ने उसी तत्त्व को अपनी मूर्ति में उतारने का तथा वास्तुकार ने अपने भवन के शिखरों से उसी आकाशीय तत्त्व को छूने का प्रयास किया है। यह बात सत्य है, किन्तु पूर्ण सत्य नहीं। तृष्णा का त्याग सिखाने वाले बुद्ध की मूर्तियाँ कृशकाय नहीं, वे पुष्ट, सुन्दर और सुडौल शरीर वाली हैं; उनका स्थूल शारीरिक सौन्दर्य गौण नहीं, साक्षात् प्रत्यक्ष है, चेहरे की मुद्रा अवश्य मौन है, सर्वथा अन्तर्मुख, मानो आत्मलीन। इसी तरह जैन तीर्थंकरों की मूर्तियाँ भी। मैसूर के श्रवण बेलगोला नामक स्थान में जैन महातापस गोमटेश्वर की मूर्ति इसका एक अनुपम उदाहरण है।

विशाल यह मूर्ति है, पैर ज़मीन पर जमे हुए और सिर मानो आकाश को छूता हुआ, आँखें मुँदी हुई। यह भाव दर्शाने का प्रयास किया गया है मानो संत कायोत्सर्ग (शरीर का उत्सर्ग) कर रहे हैं, और आत्मा कर्मबंधन से मुक्त होकर सर्वोच्च लोक में जाने ही वाली है। किन्तु दर्शक की आंखों से इन महामानव का स्थूल रूप ओझल नहीं होता। वह स्थूल रूप जो अद्भुत क्षमा, अद्भुत सौन्दर्य और अद्भुत शक्ति को प्रदर्शित करता है। मंदिरों के शिखर, उनके गोपुरों (दक्षिण भारत के मन्दिर-द्वारों) के उच्च चौकोर शिखर और उन मन्दिरों के आन्तरिक भाग की शांत अन्धेरी कोठरियों में दीपशिखा से प्रकाशमान देव-मूर्तियाँ परोक्ष सत्ता का आभास अवश्य कराती हैं, किन्तु उन्हीं मन्दिरों के स्तम्भों, तोरणों और मण्डपों और दीवारों में निर्मित मूर्तियाँ या उन पर अंकित भित्तिचित्र तो मुखरित हैं इसी जग और जीवन की, इतिहास और समाज की गाथाओं और कथाओं से; युद्ध, प्रेमालिंगन, आखेट, शृङ्गार, मनोरंजन, राजदरबार, नगर, बाजार और घाट के दृश्यों से। स्पष्ट मालूम होता है कि चित्रकार या मूर्तिकार जो कुछ दृष्टि-

गोचर करा रहा है वह अपने आस-पास के जीवन और समाज का ही अंग है, वह स्वयं उसकी ओर सजग है, उसी में घुला-मिला है, और उसी का चित्रण कर रहा है। अजन्ता के अनेक भित्तिचित्र और खजुराहो (मध्य प्रदेश) के मंदिर की शृंगारिक मूर्तियों से उक्त बात स्पष्ट हो जाती है, और इस बात का आभास मिलता है कि भारतीय कलाकार अपने चारों ओर के जीवन और समाज से सम्पर्क साधता हुआ; लौकिक भाव, अनुभाव और हलचल में सुख और उल्लास का अनुभव करता हुआ ही लोकोत्तर शक्ति और सौन्दर्यमय चेतन-तत्त्व में आत्मसाद् होने का प्रयास करता है। कलाकार का ध्यान या उसकी दृष्टि अवश्य ही अन्तर्भूत ईश्वरीय तत्त्व की ओर है, किन्तु इसका माध्यम तो यही लोक, समाज, परिवार, मानवीय भाव, इच्छाएं, संकल्प-विकल्प और अभिलाषाएँ, यही शरीर और यही हृदय है। प्राचीन भारत की प्रायः सभी कलाकृतियाँ धार्मिक हैं, धार्मिक उनके विषय हैं, धार्मिक भावना से ही उनकी रचना की गयी है, किन्तु कलाकार के आस-पास का लौकिक सामाजिक-जीवन अपने आप उनमें उभर आया है। लौकिक-सामाजिक जीवन से विलग होकर कभी भी वह ऐकांतिक कल्पना के अंतर्लोक में विलीन नहीं हुआ।

भारतीय कला का इतिहास

भारतीय कला का इतिहास प्रायः मौर्य-युग (ई० पू० चौथी शती) से प्रारम्भ होता है—इसका यह अर्थ नहीं कि भारतीयों को आध्यात्मिक या सौंदर्यात्मक या रसात्मक अनुभूति इसके पहले नहीं हुई हो। वह हुई थी ऋग्वैदिक काल में ही, बल्कि इससे भी पूर्व, किन्तु अनुभूति की यह सब अभिव्यक्ति अभी तक हुई थी मुख्यतः साहित्य के रूप में—वैदिक संगीतमय मंत्रों में। शायद ही कोई ऐसी भाव-प्रकाशन की शैली हो, ऐसी उपमा या अलंकार हो। ऐसी ध्वनि या भावानुभूति हो जो ऋग्वेद में न हो। यह कलात्मक अनुभूति अभी वाणी के संगीत में ही मुखरित हुई थी; अभी तक इसने स्थापत्य, मूर्ति या चित्र का रूप नहीं लिया था, शायद उस समय इन सबके लिए साधन भी उपलब्ध न हों। इन रूपों में कला का प्रत्यक्ष दर्शन तो मौर्य युग में

ही होता है। इसके पहले भी इन्हीं रूपों में कलात्मक वृत्ति चाहे चली हो, किन्तु सिन्धु-सभ्यता के कुछ भवन या मूर्ति-अवशेषों को या मुद्राओं के चित्रांकनों को छोड़कर कुछ भी उपलब्ध नहीं होता। वेदों में भी भवन, दुर्ग, चित्र एवं मूर्ति-निर्माण के उल्लेख आते हैं, किन्तु उस काल के अवशेष कुछ भी नहीं मिलते—शायद तत्कालीन भवन लकड़ी के बनते हों। वस्तुतः तो मौर्य युग में ही हमें स्थापत्य और मूर्त्ति-कला के नमूनों का मिलना आरम्भ होता है,और तब से लेकर आज तक इन कलाओं की कहानी लगातार एक धारा के रूप में देश के विभिन्न कोनों में अंकित हुई मिलती है। अस्तु, भारतीय कला (स्थापत्य, मूर्ति एवं चित्रकला) का अध्ययन हम निम्नांकित ऐतिहासिक युगों के आधार पर कर सकते हैं :

स्थापत्य और मूर्तिकला का विकास प्रायः साथ-साथ हुआ है; भवनों को अलंकृत करने के लिए मूर्तियां बनीं, मूर्तियों की स्थापना के लिए भवन बने। अतः इन दोनों का वर्णन कहीं-कहीं एक साथ आयेगा।

स्थापत्य (वास्तु) कला

१. प्राग्-ऐतिहासिक (या प्राग्-बौद्ध)

इस युग की कला में मिर्ज़ापुर (उत्तरप्रदेश) एवं पचमढ़ी (मध्य प्रदेश) की गुफाओं में आदिनिवासियों के शिकार और नृत्य आदि दृश्यों के चित्रांकन एवं सिंधु-घाटी-सभ्यता के नगर, भवन और मूर्त्तियों के भग्नावशेष सम्मिलित किये जा सकते हैं। सिंधु-घाटी-सभ्यता के लगभग दो हज़ार से भी अधिक वर्षों के बाद तक अर्थात् लगभग ५०० ई० पू० तक हमें किसी भी महत्त्वपूर्ण भवन या कलावस्तु के दर्शन नहीं होते। इसका कारण शायद यह हो कि इस लम्बे काल में भवन इत्यादि लकड़ी के बनते रहे हों और वे नष्ट हो गये हों।

२. मौर्यकाल की कला (ई० पू० ३०० ई० पू० से १५० तक)

वैसे तो लगभग ई० पू० ५०० के समय के स्मारकों के कुछ भग्नावशेष मिलते हैं जैसे प्राचीन राजगृह का क़िला तथा दीवारें, एवं उत्तरप्रदेश के बस्ती जिले में पिपराहवा स्तूप, किन्तु जहाँ तक महत्त्वपूर्ण प्राचीन स्मारक मिले हैं उनके

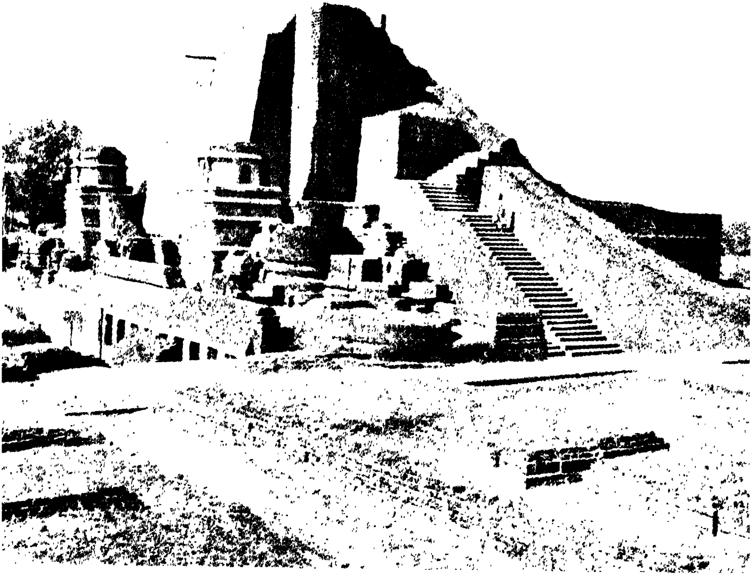
आधार पर तो यही कहा जा सकता है कि कला की परम्परा वस्तुतः सम्राट् अशोक के समय से ही प्रारम्भ होती है। यद्यपि कला के नमूने सर्वप्रथम इसी काल के मिलते हैं तथापि आश्चर्य की बात तो यह है कि वे ही नमूने कला की बहुत उत्कृष्ट उपलब्धियाँ हैं। यह आरम्भिक वास्तु-कला तीन रूपों में उदित हुई—(क) स्तूप, (ख) चैत्य, एवं (ग) संघाराम (मठ या विहार)।

(क) स्तूप (गुम्बज-जैसी इमारतें)

जिनमें निर्वाण के बाद बुद्ध या उनके प्रधान शिष्यों की राख, नख, अस्थि-अवशेष या अन्य कोई स्मरणीय वस्तु स्थापित की जाती थी। स्तूपों के चारों ओर वेष्टनी (Railing) होती है, जिसमें चार तोरण (महाद्वार) होते हैं। स्तूपों के शिरों पर सत्ता-सूचक राज-छत्र बना हुआ होता है। अशोक ने देश के कोने-कोने में ८४००० स्तूप बनवाये थे, जो प्रायः सभी नष्ट हो चुके हैं; उनमें से सांची, सारनाथ एवं भारहुत के विशाल स्तूप अभी विद्यमान हैं। मूर्ति-पूजा और मूर्ति-निर्माण के आरम्भ होने के पहले स्तूप ही बौद्ध लोगों की पूजा और भावोत्सर्ग का आलम्बन होता था। स्तूप पहले ईंट और फिर पत्थर के बने थे।

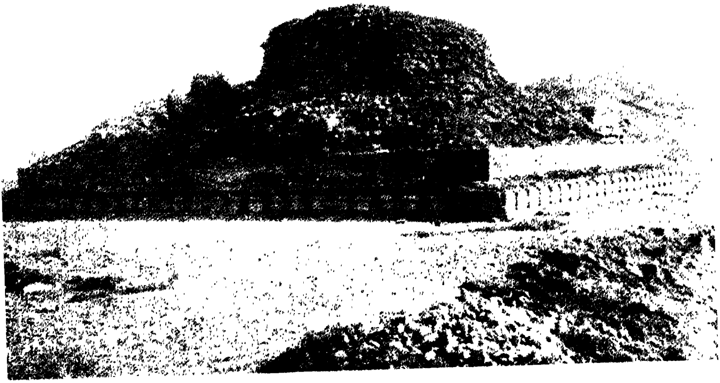
(ख) चैत्य-भवन

चैत्य का अर्थ होता है स्मारक रूप एक छोटा-सा स्तूप। ऐसे धार्मिक भवन जिनमें पूजा-वेदी के स्थान पर छोटा-सा चैत्य होता था, चैत्य-भवन कहलाये। अपने रूप आकार एवं प्रयोग में चैत्य, यह एक आश्चर्य की बात है, ईसाई-गिरजों से बहुत कुछ मिलते-जुलते हैं। इस प्रकार के चैत्य-भवनों के भग्नावशेष सांची, सारनाथ एवं सोनारी आदि स्थानों में मिलते हैं, जो अशोक के काल के माने जाते हैं। किन्तु वे विशाल चैत्य तो, जो आज भी अपने समृद्ध रूप में पाये जाते हैं, वही हैं जो पर्वतों को काटकर उनकी गुफाओं में निर्मित किये गये थे। गया के निकट बराबर में बनी गुफाओं, पूना के निकट भाजा की गुफाओं, अजन्ता एवं नासिक की गुफाओं में ऐसे चैत्य-भवन मिलते हैं। किन्तु विशालतम, एवं भारतीय



ऊपर—नालन्दा : स्तूप । नीचे—नालन्दा में बने मठ ।





ऊपर—तक्षशिला : कुणाल स्तूप।

नीचे—तक्षशिला : धर्मराजिका स्तूप।



स्थापत्य-कला का एक बहुत ही भव्य एवं उत्कृष्ट नमूना तो पश्चिमी घाट में निर्मित कार्ले का चैत्य-भवन है, जो अनुमानतः द्वितीय शती के प्रारम्भ में बना था। बम्बई के निकट कन्हेरी, भाजा, बेडगा एवं औरंगाबाद की गुफाओं में भी चैत्य-भवन मिलते हैं।

(ग) संघाराम (मठ या विहार)

बुद्ध से प्रेरणा पाकर अनेक जन संसार त्यागकर भिक्षुक बन गये थे। उनके रहने-सहने के लिए, चिंतन और पाठ-पूजा के लिए, अनेक भवनों का निर्माण किया गया जो संघाराम या विहार कहलाये। ऐसे भवन साधारण समतल भूमि पर भी बनाये गये जैसे सांची, सारनाथ, नालंदा आदि अनेक स्थानों में, जो बौद्ध-धर्म के केन्द्र थे। किन्तु ऐसे विहार पर्वतों को काटकर भी बनाये गये जो गुफा-संघाराम कहलाते थे और जो बहुत विशाल होते थे। इन्हीं में भिक्षुओं के रहने के लिए बड़े कमरे, पूजा और चिंतन के लिए एकांत कोठरियाँ एवं सामूहिक प्रार्थना के लिए चैत्य-भवन होते थे। जैन साधुओं के लिए भी ऐसे अनेक विहार बने। इन्हीं गुफा-विहार या ऊपर-वर्णित गुफा-चैत्यों से कालांतर में गुफा-मंदिरों का विकास हुआ। भारत में इस प्रकार की लगभग १२०० गुफाएँ हैं जिनमें ६०० गुफाएँ बौद्धों की और शेष जैनों या ब्राह्मणों की। अधिकतर ये बम्बई प्रदेश में ही स्थित हैं।

इस प्रकार इस काल में स्तूप, चैत्य एवं संघाराम बनाने की परम्परा चली जिसका विकास और विस्तार कालांतर में होता रहा।

३. शुंगकाल (ई० पू० १५०)

इस काल में भक्ति-प्रधान वैष्णव धर्म अस्तित्व में आ चुका था अतः देवी-देवताओं की मूर्तियों का प्रचलन होने लगा। उसी से प्रभावित होकर भगवान् बुद्ध की भी मूर्तियाँ बनने लगीं। मूर्तियों पर, और पूर्व युग के स्तूपों के तोरणों पर अनेक प्रकार के अलंकरण होने लगे। गुफाओं की दीवारों पर मिट्टी के ही रंगों से सुन्दर चित्र बनने लगे। इसी युग में जैन, बौद्ध, शैव और वैष्णव धर्म संबन्धी मूर्तियों का निर्माण होने लगा।

इस युग में सांची (मध्य भारत में भोपाल के निकट), भारहुत (मध्य भारत), गया और सारनाथ कला के मुख्य केन्द्र थे ।

४. कुषाण काल (ई० सन् के प्रारम्भ से २०० ई० तक)

इस काल में कला के तीन केन्द्र प्रसिद्ध हुए—१. गांधार (उत्तर-पश्चिमी पंजाब में); २. मथुरा; ३. अमरावती (दक्षिण में कृष्णा नदी के मुहाने के नजदीक) । इन तीनों केन्द्रों में स्थापत्य और मूर्ति-कला अपनी-अपनी विशिष्ट शैली लेकर विकसित हुई । परम्परागत भारतीय कला पर ग्रीक (यवन) कला के प्रभाव से गांधार कला का विकास हुआ । इसमें भारतीयों की अध्यात्म या निःश्रेयस् भावना का शारीरिक सौन्दर्य, सुडौलता और भव्यता का संगम है । बुद्ध भगवान्, बोधिसत्वों, तीर्थंकर और देवताओं की मूर्तियों में वही रूप-सौष्ठव आने लगा जो ग्रीक देवी-देवताओं की मूर्तियों में पाया जाता है । पत्थरों में निर्मित उनके परिधान रोमन चोगा की तरह दिखलायी देते हैं, और तत्कालीन साधु, पुजारी, ऋषि इत्यादि ग्रीक दार्शनिकों की तरह दिखायी देते हैं, यहाँ तक कि कई मूर्तियों में बुद्ध भगवान ग्रीक देवता ज्यूस की तरह मूछों सहित निर्देशित किये गये हैं । इस शैली की परम्परा ई०पू० प्रथम शताब्दी से लगभग ५०० ई० तक चलती रही ।

मथुरा

मथुरा-शैली की समस्त मूर्तियाँ सीकरी से प्राप्त दानेदार लाल पत्थर की बनी हुई हैं । ये सभी मूर्तियाँ शरीर में एक बोझलपन लिये हुए हैं, वक्षस्थल उभरा हुआ है, कंधे गोल हैं और हाव-भाव में किंचित् वासना का आभास मिलता है । मथुरा भागवत वैष्णव धर्म का केन्द्र था, अतः इस शैली की बुद्ध की मूर्तियों के साथ-साथ इन्द्र, सूर्य, शिव की भी मूर्तियाँ बनीं; यक्ष और यक्षिणियों की भी मूर्तियाँ बनीं, और साथ ही जैन तीर्थंकरों की भी । इस कला में प्रकृति-चित्रण का संगम भी हुआ । इसकी परम्परा ई० सन् १५० से लगभग ई० सन् ३०० तक चलती रही ।

दक्षिण में कृष्णा नदी के तट पर अमरावती एवं नागार्जुनी कोंड स्थानों में अमरावती-कला का विकास हुआ जिसका विस्तार काल ई० पू० १५० से लगभग ४०० ई० तक माना जाता है। इस शैली की कला सांची की सरलता और स्वाभाविकता एवं मथुरा की शारीरिक वासनामयता के बीच से अपनी राह निकालती है। इस शैली की मूर्तियों में ऐन्द्रियता, अंगात्मक रमणीयता है किन्तु वह एक उच्च सूक्ष्मतर स्तर पर उठी हुई दिखलायी देती है। ऐसा भी प्रतीत होता है, मानो कलाकार अपने मन के वेग और भावना को संयत किये हुए है। इन स्थानों में संगमरमर का विशेष प्रयोग हुआ है, स्तूपों के तोरण, वेष्टनी और बुद्ध की मूर्तियाँ सभी संगमरमर की हैं। तोरणों, कथा को अंकित करने वाली मूर्तियों और वातावरण में प्रकृति, इनका साथ बराबर रहा है।

अमरावती

ऐसा स्पष्ट झलकता है कि मौर्य काल की भारहुत और आरंभिक सांची की कला सरल चेतना की कला है, ऐसे कलाकार की कला, जिसका प्रकृति से सीधा और सरल सम्पर्क है, जिसमें भागवत सौम्यता और तप का भाव है, और जिसके चारों ओर का समाज भी सरल और ग्रामीण है। शुंग-काल तक प्रायः यही आदर्श और भावना रहती है। ईसा की प्रायः दूसरी शताब्दी के प्रारम्भ से—कुषाण-काल से जिस कला के हमें दर्शन होते हैं उससे ऐसा झलकता है—विशेषकर जैसे मथुरा और अमरावती की कला में—कि मानो वह एक नागरिक सभ्यता की कला है जिसमें व्यापार, रूप-सौन्दर्य और नागरिक आमोद-प्रमोद का भी मूल्य है। इस काल की कला में शृंगार-भावना, पक्षियों से मन-बहलाव एवं समूह में सुरापान के जैसे विषय भी सम्मिलित हैं।

यद्यपि गुप्त सम्राटों का राजनैतिक आधिपत्य ५०० ई० तक प्रायः समाप्त हो चुका था किन्तु उनके राजत्व-काल में जिस कला-प्रणाली का विकास हुआ उसकी परम्परा ६०० ई०, यहाँ तक कि कुछ उसके बाद तक भी चलती रही। यह काल भारतीय

५. गुप्तकाल की कला
(३२०–६००ई०)

कला का स्वर्ण-काल है—वास्तु, मूर्ति एवं चित्रकला तीनों में जीवन-वैभव, उल्लास, समृद्धि, शुद्ध मनोरंजन एवं धार्मिक और आध्यात्मक अनुभूतियाँ मानो सभी समरस होकर अन्तर्निहित हो गयी हैं; कला में वे सभी भव्य और मुक्त अभिव्यक्ति पा गयी हैं। इसी काल में भारतीय मन्दिर-निर्माण शैलियों की स्थापना हुई, बड़े-बड़े मन्दिर बने, मन्दिरों पर उच्च शिखर एवं गोपुर बने जो मानो दूर से ही यात्रियों को उल्लसित कर रहे हों और देवपूजा के लिए आह्वान कर रहे हों। यही युग अजन्ता, इलोरा और बाघ की भव्यतम और सुन्दरतम गुफाओं के निर्माण का युग था। इसी युग में ब्रह्मा, विष्णु, महेश, दुर्गा, पार्वती देवी-देवताओं की भव्य प्रतिमाएँ बनीं, जिनमें यह झलकाने का प्रयत्न किया गया मानो एक तत्त्व के अनेक शक्तिमय रूप इस सृष्टि का संचालन कर रहे हों। दार्शनिक, विचारक, चिन्तक और भक्त सभी अपनी भावना अथवा विचार की मूर्त अभिव्यक्ति मूर्तियों में पा लेना चाहते थे। इस युग में बौद्ध दार्शनिकों और चिंतकों की प्रेरणा से बुद्ध और बोधिसत्त्व की जो मूर्तियाँ बनीं उनमें भी विचारात्मक सूक्ष्मता और रहस्यात्मक अनुभूति की अद्भूत अभिव्यक्ति थी। इस धार्मिक एवं दार्शनिक प्रेरणा के साथ-साथ हमें तत्कालीन सामाजिक दैनिक जीवन का चित्रण भी मिलता है जो अपने अद्भुत उल्लास और सौन्दर्य भावना को, तथा प्रेम, क्रोध, लज्जा, हर्ष, उत्साह, एवं भय, चिंता आदि मानवीय भावों को लिये हुए है और चारों ओर की सृष्टि से अपना रागात्मक सम्पर्क स्थापित किये हुए हैं।

६. पूर्व मध्य-युग (६००-१२०० ई०)

इस युग में पूर्वकालीन परम्पराएँ समृद्धि के साथ चलती रहती हैं। ऐसा लगता है मानो जहाँ तक कला का संबन्ध है, गुप्तकाल अभी तक अपना प्रसार पा रहा है। इसी काल में राजपूतों का उदय होता है जो पौराणिक धर्म को अपनाते हैं और मूर्ति और मन्दिर-निर्माण की परम्परा चालू रखते हैं। मन्दिरों के साथ-साथ इस युग में अनेक दुर्ग भी बने; जैसे चित्तौड़, रणथम्भोर, ग्वालियर

और कालिंजर के दुर्ग। यही काल आबू के जैन मंदिरों, खुजराहो, कोणार्क (उड़ीसा) और जगन्नाथपुरी आदि के प्रसिद्ध मंदिरों का युग है। इसी काल में कृष्ण और राम के मंदिर बने। दक्षिण में तंजोर, कांची, मामल्लपुरम्, मदुरा और चिदंबरम् (नटराज) के प्रसिद्ध मन्दिर बने।

७. उत्तर मध्य-युग (१२००-१८०० ई०)

इस युग में मुसलमान सल्तनत कायम हो गयी थी। मुसलमान तुर्क और पठान लोग ईरान और मध्य एशिया से अपनी कला-परम्परा लाये थे। उनका भारतीय कलाओं पर, विशेषकर भवन-निर्माण और चित्रकला पर प्रभाव पड़ा और इन दोनों के संयोग से भारतीय भव्यता और ईरानी रेखा की सरलता, महराबदार छत और मीनारों के सम्मिलन से भारत में सामासिक वास्तुकला का विकास हुआ। अनेक ऐसे भी भवनों का निर्माण हुआ जिनमें अपनी-अपनी पृथक् विशिष्टता स्पष्ट झलकती थी। हिन्दुओं के मंदिर थे और मुसलमानों की मस्जिदें और मक़बरे। यही युग था ताज का जिसका निर्माता वास्तुकार उस्ताद ईसा ताज के साथ-साथ अमर रहेगा। यही काल था औरंगाबाद में बीबी के मक़बरे का, और दिल्ली और अहमदाबाद की जामा मस्जिदों का, एवं फतेहपुर सीकरी के भवनों का। मिश्रण न केवल भवन-निर्माण-कला में हुआ, किन्तु चित्र और संगीत-कला में भी।

८. आधुनिक युग

आधुनिक युग में कला में पहले तो विकास नहीं किन्तु ह्रास हुआ। १९वीं शती में भारतीय संस्कृति के पुनर्जागरण के साथ-साथ संगीत, चित्र और नृत्यकला में तो भारतीय कला के प्राचीन आदर्श की पुनः प्रतिष्ठा हुई, उसके द्वारा भारतीय आत्मा की अभिव्यक्ति हुई। इन क्षेत्रों में कई प्रतिभाएं भी विकसित हुईं, किन्तु वास्तु एव मूर्तिकला में गति, प्रगति, उत्कर्ष अधिक नहीं हो पाया। लार्ड कर्ज़न ने ताजमहल से प्रेरित होकर वैसे ही स्थायी सौन्दर्य और भव्यत ।वाली वास्तुकृति निर्माण करने का संकल्प किया, एवं तदनुकूल कलकत्ता में प्रसिद्ध विक्टोरिया मेमोरियल भवन बनवाया। यह १८३ फीट ऊँचा है जब कि ताज २००

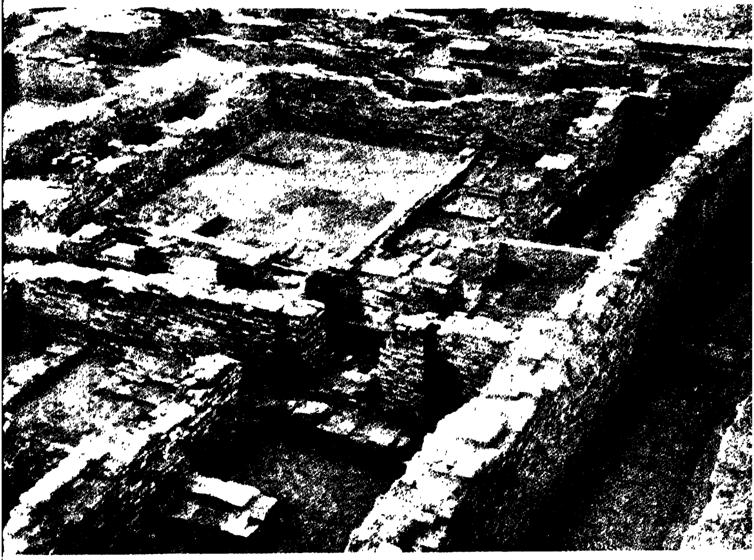
फीट। इंजिनियर सर विलियम इमर्सन ने इसका निर्माण कराया। भारत को वास्तुकला के क्षेत्र में अंग्रेजी राज्यकाल की यही सबसे बड़ी देन है, किन्तु इसका सौन्दर्य ताज की समता नहीं कर सकता है। ताज की समानता करने के लिए आज भी आगरा में राधास्वामी मत के लोग एक भव्य, विशाल और सुन्दर राधास्वामी का मन्दिर बनाने का प्रयास कर रहे हैं। सन् १९०० में इसका निर्माण कार्य-प्रारम्भ हुआ था और अभी तक यह बनता जा रहा है। जब यह बन चुकेगा तब इसकी ऊँचाई १९३ फ़ीट होगी, किन्तु ऐसा दिखता है कि ताजमहल जैसी विभूति इसमें नहीं आ सकेगी।

प्रमुख कला-कृतियों के लिए देखिए परिशिष्ट 'ग' पुस्तक के अन्त में।

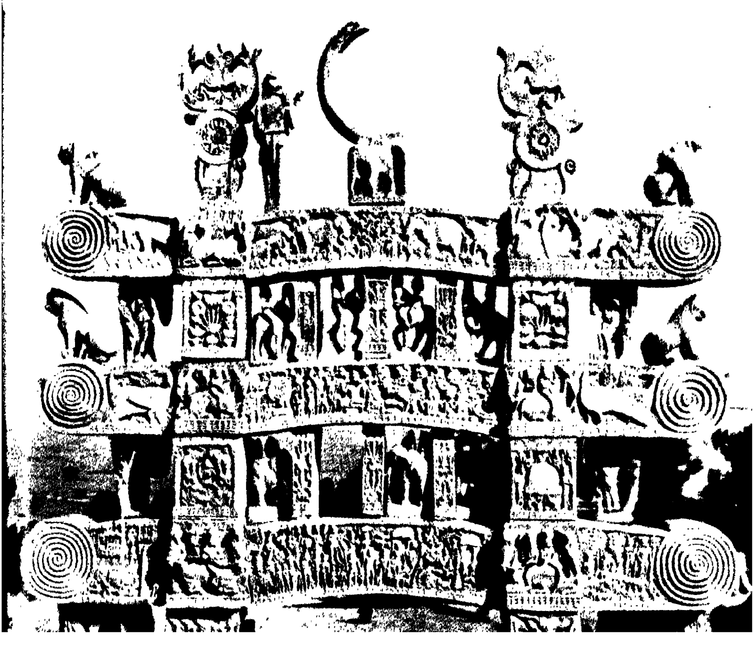
परिशिष्ट 'ग' की तालिका में स्थापत्य और मूर्तिकला, दोनों का विवरण साथ-साथ हुआ है। उपसंहारात्मक रूप में मूर्तिकला के इतिहास को हम अलग से यहां संक्षेप में दोहरा देते हैं।

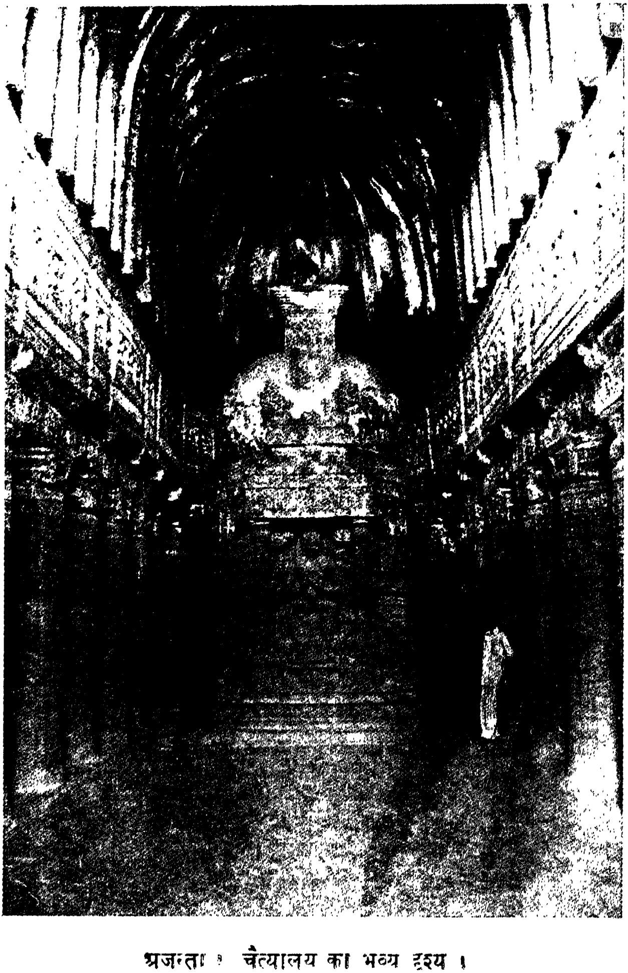
मूर्तिकला

सिंधु-घाटी-सभ्यता में ही हम भारत की प्राचीनतम मूर्तिकला के नमूने पाते हैं। उसके उपरान्त मौर्यकाल तक—एक हज़ार से भी अधिक वर्ष तक—मूर्तियों के किसी भी प्रकार के अवशेष नहीं मिलते। ऐसा तो नहीं कहा जा सकता कि इस लम्बे अर्से में मूर्तियाँ बनी ही न हों, मूर्तियां अवश्य बनी होंगी, किन्तु मिट्टी या अन्य किसी ऐसे द्रव्यों से जो स्थायी नहीं रह सकते थे। सिंधु-घाटी-सभ्यता के बाद मूर्तिकला का स्फुरण सहसा हम मौर्ययुगीय स्तम्भों में पाते हैं, जिनके शिरोभाग पर सिंह, बैल आदि की सजीव मूर्तियां बनी होती थीं—आकार, भावाभिव्यंजन और गति की इतनी वास्तविकता और सजीवता लिये हुए कि उनकी सानी की जन्तु-मूर्तियां विश्व में अन्यत्र कठिनता से ही मिल सकती हैं। इसके बाद मूर्तिकला का विकास बौद्ध-स्तूपों के तोरणों पर और उनके वेष्टन (Railings) पर मिलता है, जिन पर पशु-पक्षियों, यक्ष-यक्षिणियों एवं अप्सराओं की मूर्तियां बड़ी सजीव बन पायी हैं। शुंग-काल (१५० ई० पू०) के पूर्व की देवी-देवताओं की मूर्तियां उपलब्ध नहीं होतीं। ऐसी मूर्तियो की परम्परा तो वैष्णव-धर्म के प्रसार के बाद ही प्रारम्भ होती है।



र—मोहेंजोदड़ो : कमरे व गलियाँ। **नीचे**—साँची : उत्तराभिमुख दरवाजे का पिछला





अजन्ता : चैत्यालय का भव्य दृश्य ।

कुषाण-काल (ई० सन् की प्रारम्भिक शती) के आते-आते देव-मूर्तियों के दर्शन होने लगते हैं, एवं ३२० ई० तक गांधार, मथुरा और अमरावती की मूर्ति-शैलियों का विकास होता है। गुप्तकाल (३२०-६०० ई०) मूर्तिकला के वैभव का युग है। इस काल में मूर्तिकला मानो पराकाष्ठा को पहुँच गयी हो—बुद्ध और हिन्दू-देवताओं की सुन्दर, प्रत्येक दृष्टि से मानो अपने आप में पूर्णतया कलामय मूर्तियां बनने लगीं। इस युग में मूर्तियां केवल पत्थर की ही नहीं बनीं, किन्तु धातु की भी सुन्दरतम मूर्तियां बनने लगीं—सुल्तानगंज की ७½ फीट ऊँची कांस्य-मूर्ति इसी धातु-मूर्तिकला का उत्कृष्ट नमूना है। वस्तुतः मूर्तिकला का स्थापत्य-कला के साथ-साथ विकास हुआ है, और भारतीय जीवन में उन दोनों का अद्भुत संयोग रहा है। मंदिरों के साथ-साथ मूर्तियां भी बनी हैं। भारत की कला-पूर्ण हजारों मूर्तियों में से—जो स्तूपों और मन्दिरों के द्वारों पर, शिखरों पर, मंडपों में, गुफाओं में बनी हुई हैं, अथवा मन्दिरों के अन्दर स्थापित हैं, हम यहां कुछ का ज़िक्र करते हैं :

मोहनजोदाड़ो की खुदाई में प्राप्त पद्मासन लगाये एक साधक की मूर्ति महत्त्वपूर्ण है। यह एक योगी की मूर्ति मालूम होती है, जिसकी दृष्टि नासाग्र पर केन्द्रित है। योग और ध्यान के भाव को अभिव्यक्त करने में यह मूर्ति अद्भुत है। जैन मुनि भी पद्मासन मुद्रा में नासाग्र दृष्टि से ही ध्यानावस्थ होते हैं। इस साम्य से उत्पन्न संभावना अनुसन्धान की अपेक्षा रखती है।

ई० पू० छठी शताब्दी से ई० पू० ३०० तक के काल में

मथुरा-संग्रहालय में रखी हुई सम्राट् अजातशत्रु (५२५ ई०पू०) की मूर्ति खंडितावस्था में, कलकत्ता संग्रहालय में संगृहीत आजउदयी (जो अजातशत्रु का पोता था और जिसने पाटलिपुत्र बसाया था) तथा उसके बेटे नन्दिवर्धन की मूर्तियां। ये तीनों मूर्तियां मनुष्य के क़द से ऊँची और विशाल हैं, पत्थर की बनी हुई हैं, और इनमें मानव आकृति की वास्तविकता है। इनके अतिरिक्त प्रायः उसी काल की पत्थर की तीन और विशाल मूर्तियां

मिलती हैं जिनमें दो स्त्री-मूर्तियां हैं और एक पुरुष-मूर्ति है। एक स्त्री और पुरुष की मूर्ति मथुरा-संग्रहालय में, और एक स्त्री की मूर्ति कलकत्ता संग्रहालय में सुरक्षित है। ये तत्कालीन राजा-रानियों की मूर्तियां मालूम पड़ती हैं।

परम्परा तो यह है कि मूर्त्तिकला स्तम्भ-निर्माण के रूप में प्रकट हुई। अशोक ने देश के कोने-कोने में अनेक स्तम्भ बनवाये। ये स्तम्भ, ऐसा अनुमान किया जाता है, चुनार के रेतीले लाल पत्थर के बने हैं जिन पर चिकना सुन्दर वज्रलेप किया गया है और जिसकी वजह से उनकी चिकनाई और चमक आज भी फीकी नहीं पड़ी है। स्तम्भ के दो अंग होते हैं—मुख्य स्तम्भ और उसका शीर्ष। शीर्षों पर शेर, हाथी, घोड़े, बैल, आदि की प्रभावोत्पादक और सजीव मूर्त्तियां बनी हुई हैं; मुख्य भाग (लाट) पर बुद्ध के उपदेश तथा धर्म-प्रचार की कथाएँ अंकित हैं। वे स्तम्भ ही इस युग की कला की सर्वोत्कृष्ट और विस्मयकारी उपलब्धियाँ हैं। इस काल में भगवान् बुद्ध की कोई मूर्ति नहीं बनायी गयी, केवल कुछ प्रतीकों, जैसे कमल, वृक्ष, चक्र, इत्यादि से बुद्ध-भावना का निर्देशन कर दिया जाता था; कमल बुद्ध के जन्म की पवित्रता का, वृक्ष उनकी ज्ञान-प्राप्ति का, चक्र उनके धर्म-प्रवर्त्तन का, स्तूप स्वयं उनके महानिर्वाण का सूचक होता था। सारनाथ में स्थित स्तम्भ के शिरोभाग पर निर्मित चार मुख वाले सिंह की मूर्ति के विषय में रायकृष्णदास इतिहासकार विसेंट स्मिथ की सम्मति को उद्धृत करते हुए लिखते हैं : "संसार के किसी भी देश की प्राचीन पशु-मूर्तियों में इस सुन्दर मूर्ति से बढ़कर कौन कहे, इसके टक्कर की भी चीज़ मिलना कठिन है।"[1]

इसी काल की पटना-संग्रहालय में संगृहीत चामर-ग्राहिणी की मूर्ति भी द्रष्टव्य है।

---

१. रायकृष्णदास : भारतीय मूर्तिकला, पृष्ठ २८

इस काल की सांची और भारहुत के बौद्ध-स्तूपों के तोरणों में खुदी हुई बुद्ध के जीवन को चित्रित करने वाली मूर्तियां, अलंकरण, वेल-बूटे तथा यक्षिणी एवं देवयोनि की मूर्तियां; सिंह, हाथी, महिष, मृग, नाग इत्यादि की मूर्तियां महत्त्वपूर्ण हैं। ये भारतीय कला की अपूर्व निधियाँ हैं।

ई०पू० की दूसरी शताब्दी से ई० सन् की पहली शताब्दी तक

इसी काल की कटवाई हुई गुफाओं में मूर्ति-शिल्प के नमूने भी मिलते हैं। इसी काल की अनेक मृण्मूर्तियां भी मिली हैं जो भारत के एक छोर से दूसरे छोर तक पायी जाती हैं। इसके नमूने कई संग्रहालयों में मिलते हैं।

ई० सन् की दूसरी शताब्दी से छठी शताब्दी तक—इस काल की निम्न मूर्तियां द्रष्टव्य हैं :—

१. मथुरा-संग्रहालय में सुरक्षित भारशिव काल की 'मा' की मूर्ति।

२. मध्य भारत के नचना नामक स्थान में वाकाटक काल की चतुर्मुखी शिवमूर्ति।

३. सारनाथ की धर्म-चक्र-प्रवर्तन सहित पद्मासनासीन बुद्ध की प्रतिमा जिसके मुख-मंडल पर अपूर्व शांति, प्रवाह और गम्भीरता झलक रही है।

४. मथुरा-संग्रहालय में स्थित खड़ी हुई बुद्धमूर्ति।

५. साढ़े सात फीट ऊँची ताम्र की बुद्धमूर्ति जो आजकल इंगलैंड के बरमिंघम म्यूज़ियम में रखी हुई है।

६. भेलसा के पास उदयगिरि में गुप्त-मंदिरों के बाहर वपुष्मान् वाराह की मूर्ति।

७. सारनाथ (बनारस) के संग्रहालय में रखी हुई गोवर्धनधारी कृष्ण की मूर्ति।

८. देवगढ़ (झाँसी) के गुप्तकालीन खण्डहर मन्दिर की दीवारों पर अंकित वैष्णव धर्म-सम्बन्धी अनेक मूर्तियों एवं मन्दिर के अन्दर नर-नारायण की मूर्ति।

९. कौशांबी (बिहार) में रखी हुई सूर्य-मूर्ति।

१०. कलाभवन काशी में संगृहीत हिन्दू-देवताओं के सेनापति

कार्तिकेय की मूर्ति जिसमें गाम्भीर्य, पौरुष, उत्साह और निश्चिन्तता स्पष्ट झलकते हैं।

११. भरतपुर ज़िले के रूपवास नामक स्थान में पायी जाने वाली बलदेव, लक्ष्मीनारायण, बलदेव की पत्नी रेवती एवं युधिष्ठिर के मस्तक पर खड़े हुए नारायण की विशाल मूर्तियां। इनमें बलदेव की मूर्ति की ऊँचाई तो २७ फीट से भी अधिक है।

पूर्व-मध्य-काल ६००-६०० ई० तक

इस काल में मूर्तिकला के ३ प्रमुख केन्द्र रहे, एलोरा, एलिफेंटा एवं मामल्लपुरम्। ऐलोरा के मूर्ति-मण्डपों में पौराणिक गाथाओं के अनेक दृश्य उत्कीर्ण हैं, जैसे-कैलास पर्वत को उठाये हुए रावण, शिवपार्वती-विवाह, त्रिपुर-दाह, नृसिंहावतार, भैरव, इन्द्र-इन्द्राणी, मार्कण्डेय का उद्धार इत्यादि। एलिफेंटा में शिव की मूर्ति, योगिराज शिव की मूर्ति एवं शिव-पार्वती-विवाह का दृश्य बहुत ही विशाल भव्य और प्रभावोत्पादक है। मामल्लपुरम् के एक-एक पूरी चट्टान से काटे हुए रथ मंदिरों में, जो संसार की अद्भुत वस्तुओं में गिने जाते हैं, शेषशायी विष्णु की मूर्ति, दुर्गा की महिषासुर से युद्ध करती हुई मूर्ति इत्यादि बड़ी सजीव मूर्तियाँ हैं। किन्तु यहाँ की सबसे आश्चर्यजनक कृति तो ९८ फ़ीट लम्बी और ४३ फीट चौड़ी चट्टान पर काटी हुई भगीरथ की तपस्या के दृश्य को अंकित करती हुई एक मूर्ति है।

उत्तर मध्य-काल ९०० ई० से लेकर आधुनिक काल तक

इस काल के भुवनेश्वर, कोणार्क, पुरी, खजुराहो, धारनगरी, ग्वालियर, गिरिनार, पालीताना आदि के मंदिरों में स्थापित मूर्तियाँ एवं प्रस्तर में अंकित धार्मिक दृश्य महत्त्वपूर्ण हैं। एक दो विशेष मूर्तियों का उल्लेख नीचे दिया जाता है।

१. **जैन संत गोमटेश्वर की मूर्ति**—यह विशाल मूर्ति ५६ फीट ऊंची है, एक ही प्रस्तर-खंड में से निर्मित है। इसको चामुंडाराय ने ९८३ ई० में दक्षिण में श्रावण बेलगोला नामक स्थान में बनवाया था, मूर्ति वहाँ पूरी शान से अभी तक खड़ी है।

२. नटराज की मूर्ति—यह दक्षिण भारत के चिदम्बरम् नगर के नटराज के मंदिर में स्थापित है। इस मूर्ति में मानो सृष्टि, प्रकृति, माया और ईश्वर का समस्त रहस्य अन्तर्हित हो गया है। शिव के एक पद-ताल में सृष्टि की रचना हो जाती है, दूसरे पदताल में सृष्टि का संहार; सृष्टि का चक्र प्रतिक्षण चलता रहता है, तांडव नृत्य होता रहता है—इन सब में व्याप्त चेतना गतिमान् रहते हुए भी शिव-समाधि की अनुभूति करती रहती है।

मूर्ति-कला की दृष्टि से उत्तर-मध्य-युग ह्रास का युग था। वर्तमान युग में इस कला का पुनर्जीवन हो रहा है। इस युग के प्रमुख मूर्तिकारों में हम देवीप्रसादराय चौधरी, प्रभातरंजन खास्तगीर एवं रामकिंकर बैंज के नाम गिना सकते हैं। जयपुर के मूर्तिकार भी देश भर में प्रसिद्ध हैं।

चित्र-कला

मनुष्य में प्रारम्भ से ही अपने भावोद्गार को अभिव्यक्त करने की—किसी-न-किसी प्रकार उसको बाहर उंडेल देने की स्वाभाविक प्रवृत्ति रही है। इस अभिव्यक्ति ने स्वर-गान, शब्द और नृत्य के साथ-साथ चित्रांकन का रूप भी लिया। चित्रांकन द्वारा अभिव्यक्ति के सहारे भी मनुष्य का सांस्कृतिक विकास खूब सधा है। सर्वत्र खूब सधा है भारत में भी। अत्यन्त प्राचीन काल से लेकर आज तक चित्रकला भारतीय सांस्कृतिक जीवन का एक अभिन्न सा अंग रही है; इस कला द्वारा भारतीय सुरुचि और भावना की रंगमयी अभिव्यंजना होती रही है।

चित्रकला के प्राचीनतम उदाहरण तो प्रस्तरयुगीय मानव के वे सरल चित्र हैं जो उसने गुफाओं की दीवारों पर या खुली चट्टानों पर नुकीले पत्थर से अंकित किये थे, और कालान्तर में जिनमें धातु-रंगों, जैसे—गेरू, रामरज, हिरौजी आदि से रंग भरे थे। इन चित्रों में मुख्यतः जानवर की एवं शिकार करते हुए या परस्पर युद्ध करते हुए मानव की आकृतियाँ अंकित हैं। भारतीय आदिमवासियों के इस प्रकार के चित्र मध्य-प्रदेश की अनेक गुफाओं तथा उत्तर-प्रदेश के मिरजापुर जिले की

कई गुफाओं में प्राप्त हुए हैं। इसके उपरान्त मोहनजोदाड़ो एवं हरप्पा (सिन्धु-सभ्यता) के मिट्टी के बर्तनों पर अंकित चित्रों के उदाहरण मिलते हैं। इन बर्तनों पर ज्यामितिक आकृतियों के रूप में अलंकरण तथा फूल-पत्ती और पशु-पक्षियों के चित्र अंकित हैं। ऐसे अलंकरणों तथा फूल-पत्ती के चित्रों की परम्परा आज तक भारत में चली आ रही है।

इसके उपरांत, वैसे तो ऋग्वेद, पाणिनि साहित्य, एवं ३री-४थी शताब्दियों के बौद्ध ग्रंथ विनयपिटक में चित्रों की चर्चा मिलती है जिससे यह अनुमान होता है कि उन सब प्राचीन शताब्दियों में चित्रकला का प्रचार रहा होगा, किन्तु उपलब्ध चित्रों के प्रत्यक्ष दर्शन तो हमें केवल ई० पू० २री-३री शताब्दी से मिलने लगते हैं। यहीं से बस चित्रकला की ऐतिहासिक परम्परा प्रारम्भ होती है। इसकी रूप-रेखा मात्र नीचे दी जायगी। इसके पूर्व यह बतलाना आवश्यक है कि प्राचीन भारत के चित्र तीन आधार-भूमियों पर बने हुए मिलते हैं। एक तो—गुफाओं या मन्दिरों की दीवारों पर गोबर, पत्थर का चूरा, धान की भूसी और चूने से बना एक विशेष प्रकार का पलस्तर लगा दिया जाता था और उस पर चित्र अंकित किये जाते थे। ऐसे चित्र भित्ति-चित्र कहलाते थे। दूसरा—कपड़े और संभवतः चमड़े पर भी चित्र बनाये जाते थे जो पट-चित्र कहलाते थे। इस प्रकार के चित्र बहुत कम, प्रायः नहीं के बराबर उपलब्ध हुए हैं। तीसरा—लकड़ी, कीमती पत्थरों और हाथीदांत पर भी कुरेद कर चित्र बनाये जाते थे, जो फलक-चित्र कहलाते थे। ऐसे कुछ फलक-चित्र अफ़गानिस्तान से प्राप्त हुए हैं। वस्तुतः ११वीं-१२वीं शताब्दी तक भारतीय चित्रकला का इतिहास भित्ति-चित्रों का ही इतिहास है और यह इतिहास ऐसा है जो संसार के कला-पारखियों को अपने सौन्दर्य, लावण्य और रंग-योजना से चकित करने वाला है। १०वीं-११वीं शताब्दी से पहले के कोई भी ताड़ या भोज-पत्र या काग़ज़ पर बने चित्र नहीं मिलते। १०वीं शताब्दी से बढ़िया जाति के ताड़पत्र पर लिखी पोथियों में अंकित चित्र मिलते हैं। काग़ज़ पर अंकित चित्र मिलना केवल १४वीं-१५वीं शताब्दी से प्रारम्भ होता है।

ऐतिहासिक रूप-रेखा—भारतीय चित्रकला का अध्ययन प्रायः निम्नांकित छः काल विभागों में किया जाता है :—

१. तीसरी शताब्दी ई० पू० से पहली शताब्दी ई० पू०—प्रारम्भिक काल;

२. पहली शताब्दी ई० पू० से ई० सन् की दूसरी शताब्दी तक—शुंग तथा कुषाणकालीन अजन्ता के चित्र;

३. ३२०–६०० ई० सन्—गुप्तकालीन या गुप्त-शैली के भित्ति-चित्र;

४. ६००–१००० ई० सन्—पूर्व मध्यकाल के भित्ति-चित्र;

५. १०००–१५०० ई० सन्—उत्तर मध्यकालीन ताल (पोथी-चित्र), अपभ्रंश और काश्मीर शैली के चित्र;

६. १५०० ई० से—राजस्थानी, मुगल, पहाड़ी एवं आधुनिक शैली के चित्र।

१. तीसरी शताब्दी ई० पू० से पहली शताब्दी ई० पू० प्रारंभिक काल

भित्ति-चित्रों के सबसे प्राचीन नमूने जो अब तक उपलब्ध हुए हैं वे बिहार में रामगढ़ पर्वत की जोगीमारा गुफा के हैं। उन चित्रों को ई० पू० २री-३री शताब्दी का माना जाता है। उनसे पहले के कोई भी चित्र अब तक नहीं मिले हैं।

२. पहली शताब्दी ई०पू० से ई० सन् की दूसरी शताब्दी तक शुंग तथा कुषाण काल

अजन्ता की ९वीं तथा १०वीं गुफा में इस काल के कुछ खण्डित चित्र अभी मिले हैं। इन चित्रों के अधिकतर विषय बुद्ध तथा बुद्ध की जातक कथाओं से सम्बन्धित हैं। चित्रों में गाम्भीर्य है; उनका दर्शन चित्त को ऊपर उठाता प्रतीत होता है।

३. ३२०-६०० ई० सन् गुप्तकालीन या गुप्त शैली के चित्र

इस काल में अङ्कित चित्र अजन्ता की गुफाओं में ही मिलते हैं, अभी तक अन्यत्र कहीं नहीं मिले हैं। हाँ, तत्कालीन साहित्य में ऐसे उल्लेख मिलते हैं जिनसे ज्ञात होता है कि चित्रकारी के अतिरिक्त अनेक कला-प्रेमी नागरिक तथा राजा आदि

भी चित्रकला का अभ्यास किया करते थे, पट-चित्र बनते थे। समाज और कला का घनिष्ठ सम्बन्ध था।

अजन्ता के चित्रों से मानो तत्कालीन समस्त भारतीय जीवन मुखरित हो उठा है। जीवन, धर्म, समाज और प्रकृति का ऐसा कोई भी अङ्ग नहीं जो उनमें सजीव रूप से चित्रित नहीं हुआ हो। राय-कृष्णदास लिखते हैं कि "चित्रकारों ने भिक्षुक, ब्राह्मण, वीर सैनिक, देवोपम सुन्दर राज-परिवार, विश्वसनीय कंचुक और प्रतिहार, निरीह सेवक, क्रूर व्याध, निर्दय बधिक, प्रशान्त तपस्वी, साधु-वेशधारी धूर्त, कुलांगना, वारवनिता, परिचारिका आदि के भिन्न-भिन्न मुख सामुद्रिक और अंग-कद की कल्पना—बड़ी मार्मिकता से की है। क्रोध, प्रेम, लज्जा, हर्ष, उत्साह, घृणा, भय, चिन्ता आदि भाव भी इसी प्रकार बड़ी खूबी से दरसाये गये हैं।"[1] इन चित्रों में भारत अपने वैभव, निःश्रेयस् की भावना और सौन्दर्योत्कर्ष की कहानी कह रहा है। दो विशेष चित्रों का उल्लेख मात्र हम यहाँ करते हैं, जिन्होंने प्रत्येक दर्शक के चित्त को मोहा है। ये हैं—

१. अवलोकितेश्वर पद्मपाणि का चित्र;

२. बुद्ध को भिक्षा में अपना पुत्र राहुल देते हुए यशोधरा का चित्र। अजन्ता के चित्र देखने पर भान होता है कि भारत की सांस्कृतिक थाती कितनी महान् है। विश्व के सौन्दर्योपासकों के लिए वे एक आश्चर्य की वस्तु हैं।

गुप्त-शैली की चित्रकला का प्रसार बृहत्तर भारत में भी हुआ।

४. ६००-१००० ई० सन् पूर्व मध्यकाल के भित्ति-चित्र

इस काल के भी केवल भित्ति-चित्र ही मिलते हैं, और वे सभी प्रायः गुफाओं में। नीचे लिखी गुफाओं की भित्तियों पर चित्र अंकित हुए हैं :—

१. अजन्ता की गुफाओं में,

२. ग्वालियर के निकट बाघ की गुफाओं में,

1. रायकृष्णदास : 'भारत की चित्र-कला', पृष्ठ २५-२६

३. बम्बई प्रान्त में बादामी की गुफाओं में,

४. पल्लव राजा महेन्द्र वर्मा (६००-६२५ ई०) । और उसके पुत्र नरसिंह वर्मा (६२५-६५० ई०) द्वारा मद्रास प्रान्त में तंजोर के पास सित्तनवासल नामक स्थान पर कटवाये गये गुफा-मन्दिरों में,

५. एलोरा की गुफाओं में,

६. पूना के नजदीक भाजा और वेदगा की गुफाओं में।

इस काल में लिखा गया चित्रकला सम्बन्धी एक उत्कृष्ट ग्रंथ भी मिलता है, जिसमें चित्रकला का शास्त्रीय विवेचन है। यह ग्रंथ विष्णु-धर्मोत्तर-पुराण है। इस पुराण का एक खण्ड चित्रसूत्र है, उसी में यह वर्णन है। यह विवरण इतना विशद और गहन है कि इस ग्रंथ को चित्रकला का आधार माना जा सकता है।

इस काल में भारतीय चित्रकला का प्रसार अपर भारत (पामीर, खोतान और तुर्किस्तान) में हुआ और वहाँ से उसका प्रभाव चीन, कोरिया तथा जापान तक फैला।

इस युग के आते-आते भित्ति-चित्रों की प्रमुखता प्रायः जाती रहती है।

५. १०००-१५०० ई० सन् उत्तर मध्य-काल

इस काल के तालपत्रों पर लिखी हुई पुस्तकों में अंकित चित्र मिलते हैं। ये चित्र एक ओर तो नालंदा और विक्रमशिला में लिखित पुस्तकों, और दूसरी ओर नेपाल में लिखित महायान बौद्ध-ग्रंथों में मिलते हैं। ये चित्र पुस्तक के किन्हीं-किन्हीं पत्रों पर इधर-उधर या बीच में पुस्तक को अलंकृत करने की दृष्टि से बनाये गये हैं। किन्तु फिर भी उनमें चित्रकला की सर्वांगीणता है और इन सभी चित्रों में एक विशेष शैली ने विकास पाया है। ऐसे ही चित्र अनेक जैन-ग्रंथों में भी अंकित किये गये हैं। जैन-ग्रंथों में अपनी विशेषता को लिये हुए इतने चित्र अंकित हुए हैं कि उन चित्रों की शैली को जैन-शैली कहा जाने लगा है। किन्तु रायकृष्णदास इस युग के तालपत्र ग्रंथों में या कागज पर लिखे ग्रंथों में, जिनका प्रचलन प्रायः १५वीं शताब्दी से प्रारंभ हो गया था, अंकित चित्रों की शैली को अपभ्रंश शैली कहते हैं।

इस काल में भी चित्रकला पर एक प्रसिद्ध ग्रंथ लिखा गया जिसका नाम है 'अभिलषितार्थ-चिंतामणि'। चालुक्य वंश के सोमेश्वर भूपति ने इस ग्रंथ की रचना की थी। वैसे तो यह एक प्रकार का विश्व-कोष है, किन्तु इसके तीसरे अध्याय में चित्रकला का विशद विवेचन किया गया है।

इस काल में भी तिब्बत, चीन, नेपाल, बर्मा तथा स्याम में भारतीय चित्रकला का प्रचार हुआ।

इस युग के अपभ्रंश शैली के चित्रों में कला की दृष्टि से एक प्रकार का ह्रास दृष्टिगत होता है, उन चित्रों में न वह सप्राणता, न वह भावाभिव्यक्ति और न वह सजीवता है जो गुप्तकालीन चित्रों में है। यह बात ठीक है कि भित्ति के आधार की विशालता पोथी या काग़ज़ों पर अंकित चित्रों में सहसा नहीं आ सकती थी।

६. १५०० ई० से राजस्थानी, मुगल, पहाड़ी एवं आधुनिक शैली के चित्र

इस युग में आकर एक प्रकार से सर्वांगीण सांस्कृतिक पुनरुत्थान होता है। चित्रकला के क्षेत्र में कई विशिष्ट शैलियों का विकास होता है, जैसे राजस्थानी शैली जिसमें जयपुर, कोटा, बूँदी, उदयपुर, नाथद्वारा, जोधपुर और किशनगढ़ की अपनी अलग-अलग कलमें थीं; मुगल-शैली जिसके विकास में हुमायूं, अकबर, जहांगीर और शाहजहां सभी का हाथ था; पहाड़ी-शैली, पटना-शैली और २०वीं सदी के आते-आते ठाकुर और वस्तुवादी शैलियों का विकास हुआ। १६वीं से १९वीं, इन तीन शताब्दियों के चित्रों के विषय प्रायः ये थे : संगीत की राग-रागिनियों के चित्र; तत्कालीन रीतिकाव्य में प्रस्तुत शृंगारिक परिस्थितियों के चित्र, लोक-प्रवर्तकों, संतों, राजा-महाराजाओं आदि की छवियाँ, कृष्ण-लीला और कृष्ण-भक्तों के चित्र, साथ ही साथ राम-लीला, महाभारत और पौराणिक गाथाओं के चित्र।

अकबरकालीन चित्रों को चार विभागों में विभक्त किया जा सकता है, यथा—फ़ारसी क़िस्सों के चित्र, जैसे क़िस्सा हमीर हम्ज़ा, शाहनामा

आदि; भारतीय कथाओं के चित्र, जैसे रामायण, महाभारत, नल-दमयन्ती आदि; ऐतिहासिक चित्र, जैसे तवारीखे खानदान तैमूरिया, अकबरनामा आदि; व्यक्ति-चित्र। अकबर बादशाह के प्रसिद्ध चित्रकारों के नाम ये हैं: मीर सैयदअली, ख्वाजा अब्दुस्समद, दसवंत, बसावन, केशव, लाल, मुकुंद, माधव, जगन, महेश, खेमकरन, तारा, सांवला, हरवंश तथा राम आदि। अकबर कहा करता था कि ईश्वर को पहचानने के लिए चित्रकार का एक अनोखा मार्ग है। अकबरकालीन चित्र अधिकतर लुप्त हो गये हैं और जो अब प्राप्त हैं वे देश-विदेश के विभिन्न संग्रहालयों में सुरक्षित हैं।

जहाँगीर-कालीन चित्रों में पशु, पक्षी, फूल या वृक्षों के चित्र अधिक हैं, उनमें स्वाभाविकता भी खूब है। शाहजहाँ के समय के चित्रों में साधु तथा संतों की छवियों का अधिक महत्त्व है।

पहाड़ी शैली

कला से उदासीन औरंगज़ेब के राज्य-काल में कुछ दरबारी सच्चे कलाकार नया आश्रय ढूँढ़ने के लिए कांगड़ा, चम्बा, मंडी और कुल्लू आदि पहाड़ी रियासतों में चले गये। वहां इन चितेरों ने स्वांतः-सुखाय रचना की, जिससे उनके चित्रों में बड़ी सजीवता और रमणीयता आयी। रायकृष्णदास लिखते हैं कि "ऐसा कोई रस या भाव नहीं, जिसका पूर्ण सफल अंकन ये कलाकार न कर सके हों—देवताओं के ध्यान, रामायण, महाभारत, भागवत, दुर्गासप्तशती इत्यादि-इत्यादि; समस्त पौराणिक साहित्य, ऐतिहासिक गाथा, लोक-कथा, केशव, मतिराम, बिहारी, सेनापति आदि हिन्दी के प्रमुख एवं अन्य अवांतर कवियों की रचनाओं से लेकर जीवन की दैनिक चर्चा और शबीह तक ऐसा एक भी विषय नहीं जिसे उन्होंने छोड़ा हो।"[1] इस शैली के सबसे प्रसिद्ध चित्रकार भोलाराम हुए हैं।

२०वीं सदी के प्रारम्भ में गवर्नमेंट आर्ट स्कूल, कलकत्ता के अध्यक्ष अंग्रेज विद्वान् श्री हैवेल की उद्भावना से भारतीय चित्रकला को एक नई

१. रायकृष्णदास : भारत की चित्रकला, पृष्ठ १६६।

गति, एक नई दिशा मिली। यह नई गति और दिशा साकार हुई प्रतिभावान् अवनींद्रनाथ ठाकुर में। भारतीय आत्मा, उदात्त भावना, वस्तु से एकात्मानुभूति अभिव्यक्त हुई अवनींद्र के चित्रों की रेखाओं और रंगों में, मानो चित्रों में सृष्टि और भगवान् की ममरमता व्याप्त हो। अवनींद्र की प्रेरणा उतरी गगनेन्द्रनाथ ठाकुर, विश्वकवि रवीन्द्रनाथ ठाकुर और सर्वोपरि नंदलाल बोस में। नंदलाल बोस तथा उनसे प्रेरित नये उदीयमान चित्रकारों में भारतीय कला अपनी प्राचीन आध्यात्मिक भावना को लिये हुए नये रूपों और नये रंगों में प्रस्फुटित और विकसित हो रही है। विश्वभारती शांतिनिकेतन में नंदबाबू और प्रो० विनोदविहारी मुखर्जी की प्रेरणा से, एवं वनस्थली विद्यापीठ (राजस्थान) में उन्हीं के शिष्य देवकीनंदन शर्मा के निर्देशन में प्राचीन भित्तिचित्रों की विभिन्न प्रणालियों का, वनस्थली में विशेषकर भित्तिचित्र की जयपुर विधि का, पुनरुत्थान और विकास किया जा रहा है।

संगीत एवं नृत्यकला

भारतीय मनीषी संगीत का प्रारम्भ वेद से मानता है। सामवेद वस्तुतः आध्यात्मिकवाद, स्वर और छंद का वेद है। ऐसा भासित होता है कि उस युग में स्वर-साधना से नाद-ब्रह्म की प्राप्ति का प्रयास किया जाता था। संगीत मानो एक योग था। संगीत का शास्त्रीय विवेचन तो हमें भरत मुनि के नाट्य-शास्त्र में मिलता है। यह विवेचन सर्वांगपूर्ण-सा है जिससे स्पष्ट होता है कि प्राचीन भारत में संगीत वस्तुतः एक उन्नत कला थी। ध्रुपद प्रणाली भारतीय संगीत की प्राचीनतम प्रणाली समझी जाती है। इसमें स्वरकार का उद्देश्य रसानुभूति द्वारा परमात्म-तत्त्व या नाद-ब्रह्म से एकात्म स्थापित करना होता था। उसके पश्चात्, ऐसी मान्यता है, कि संगीत लौकिक होता गया और उसमें कई अनेक शैलियों, राग-रागिनियों और वाद्य-यंत्रों का विकास हुआ। प्राचीन भारत का सब से प्रमुख वाद्य-यंत्र तो वीणा ही था। गुप्त-काल तक इस कला का शास्त्रीय ढंग से विकास होता गया, किन्तु उसके बाद ऐसा मालूम होने लगा मानो वह कुछ दरबारियों के मनोरंजन का साधन है। भक्तियुग

में संगीत का फिर शास्त्रीय एवं सात्त्विक भावना से विकास हुआ। मुगल काल में भारतीय और ईरानी संगीत के सम्मेलन से नयी राग-रागिनियों का विकास हुआ। वही परम्परा अब भी चली आती है। किन्तु इधर स्वतन्त्रता के बाद भारत की प्राचीनतम ध्रुपद पद्धति को फिर से पुनर्जीवित किया जा रहा है। भारतीय संगीत में शोर नहीं, शांति है; वासना नहीं, आत्म-समर्पण की भावना है।

नृत्यकला भी संगीत की तरह भारत की प्राचीन कला है। इसका भी सांगोपांग विवेचन हमें भरत मुनि के नाट्य-शास्त्र में मिलता है। भारत की प्राचीनतम नृत्य-शैली तो भरत-नाट्यम् शैली ही है जिसका विशेष प्रचलन दक्षिण भारत में है। इधर आधुनिक काल में अन्य शैलियों का भी विकास हुआ है, जैसे कत्थक शैली, मैनपुरी शैली एवं दक्षिण भारत के केरल प्रांत में कथाकलि शैली। इन शास्त्रीय नृत्यों के अलावा भारत में कई प्रकार के सजीव और सुखप्रद लोक-नृत्य भी प्रचलित रहे हैं। उद्देश्य की दृष्टि से देखा जाय तो भारतीय नृत्य का भी यहाँ के संगीत की तरह यही उद्देश्य रहा है कि मानव शारीरिक गति की समरसता में आत्मिक समरसता पा ले।

मानव युग-युग में यह प्रयास करता रहा है कि उसकी चेतना तीव्रतर, गहनतर स्थिति में पहुँचकर सृष्टि के मूलतत्त्व के साथ तादात्म्य स्थापित कर ले। इसी प्रक्रिया में उसका सांस्कृतिक विकास निहित रहा है।

तेरहवाँ अध्याय

युग-युग में भारतीय विज्ञान

जिस विश्व में हम रहते हैं और जिन पदार्थों को हम अपने चारों ओर देखते हैं, यथा धरती, आकाश, नक्षत्र, पेड़, पहाड़ और जन्तु, उनके विषय में तथ्य जानने और समझने की स्वाभाविक जिज्ञासा हममें होती है, उनको समझकर हम उनसे अपना सम्बन्ध स्थापित करना चाहते हैं,

मानो उनके समझे और जाने बिना हम सुखी नहीं हो सकते, मानो हमारे जीवन का संस्कार चारों ओर की वस्तुओं अथवा पदार्थों के ज्ञान पर आधारित है।

ऋग्वेद-काल के भारत के मनीषी और चिन्तक जहाँ एक ओर अपने स्वयं में और सृष्टि में अन्तर्भूत तत्त्व को समझने का प्रयत्न करते थे वहाँ दूसरी ओर अपनी और सृष्टि की दृश्यमान गति, रूप और व्यवहार को समझने का प्रयास भी करते थे।

उन्होंने ब्रह्मविज्ञान का विकास किया, साथ ही साथ भूतविज्ञान का भी।

ऋग्वेद के सर्वांगपूर्ण अध्ययन से ज्ञात होता है कि गणित, ज्यौतिष, भौतिक-शास्त्र, रसायन-शास्त्र, आयुर्वेद आदि की आरम्भिक मूलभूत बातों का ज्ञान ऋग्वैदिक भारत में था। उसके बाद भी उक्त क्षेत्रों में ज्ञान का विकास होता रहा। ब्राह्मण-काल में यज्ञ एक विशेष प्रकार के वैज्ञानिक स्वरूप को लिये हुए होते थे। विधि-विधान के पीछे मूलतः वैज्ञानिक दृष्टि ही थी। किन्तु मध्ययुग के आते-आते ज्ञान-विज्ञान के क्षेत्र में कुछ मौलिक काम करने की परम्परा प्रायः सभी क्षेत्रों में समाप्त हो गयी।

प्राचीन भारत में विज्ञान के विभिन्न क्षेत्रों में विकास की रूपरेखा मात्र हम यहाँ देंगे। इस अध्ययन का हम आरम्भ करते हैं प्राचीन भारत के विशिष्ट वैज्ञानिकों के परिचय से। सबमे पहले उस अज्ञात मनीषी का ध्यान होना चाहिए जिसने गणित के क्षेत्र में शून्यांक और स्थान तथा मूल्य की दशमलव-विधि का आविष्कार किया।

उस मनीषी और उसके आविष्कार को यों ही साधारण-सा नहीं समझ लेना चाहिए। समस्त संसार के दृष्टिकोण से तो उसकी महत्ता न्यूटन और आइन्सटाइन की महत्ता से कम नहीं। यदि वह मनीषी गणितांक और संख्या लिखने की उक्त सरल विधि का आविष्कार नहीं कर डालता तो आज के वैज्ञानिक सिद्धान्त और टैकनोलोजी के आविष्कार, जिन पर पश्चिम को इतना गर्व है, कभी सम्भव नहीं हो पाते।

प्राचीन भारत के ज्ञात वैज्ञानिकों का विवरण इस प्रकार है—

वैज्ञानिक का नाम	काल	उसके ग्रन्थ	प्रसिद्धि
लगध	ई० पू० ३०० (अनुमानित)	वेदांग, ज्योतिष	ज्योतिषाचार्य
आर्यभट्ट	ई० सन् ४७६	आर्याष्टशतक, दशगतिक	महान् गणितज्ञ एवं ज्योतिषी, बीजगणित की प्राचीनतम पुस्तक-रचयिता
चरक	ई० सन् की पहली शती	चरकसंहिता	आयुर्वेदाचार्य
सुश्रुत	ई० सन् की प्रथम शती	सुश्रुतसंहिता	महान् आयुर्वेदाचार्य
वराहमिहिर	५०५–५८७ ई०	बृहत्संहिता पञ्चसिद्धांतिका, बृहज्जातक, लघुजातक	ज्योतिषाचार्य भौतिक-शास्त्री
ब्रह्मगुप्त	५९८ ई०	ब्रह्मसिद्धान्त ब्रह्म-स्फुट-सिद्धान्त	गणितज्ञ एवं ज्योतिषाचार्य बीजगणित एवं रेखा-गणित की कई नयी स्थापनाएँ कीं।
नागार्जुन	१५० ई०	...	महान् रसायनशास्त्रज्ञ
भास्कराचार्य प्र०	५२२ ई०	...	गणितज्ञ
वाग्भट्ट	छठी शताब्दी	अष्टांग-संग्रह, (चरक और सुश्रुत का सार)	आयुर्वेदाचार्य
भास्कराचार्य द्वितीय	१११४ ई० (जन्म)	सिद्धान्त-शिरोमणि तीन भाग १. लीलावती २. बीज-गणित ३ गोलाध्याय, करण-कुतूहल, (एक ज्यौतिष ग्रन्थ) भास्कर-व्यवहार, विवाह—पटल	महान् गणितज्ञ एवं ज्योतिषाचार्य

वस्तुतः समस्त भौतिक विज्ञान का आधार गणित ही होता है।

गणित — जब तक वस्तु के नाप, तौल, भार, दूरी, शक्ति आदि गुण किसी संख्या-विशेष में व्यक्त न किये जा सकें तब तक वस्तु-विज्ञान का विकास ही

कैसे हो सकता है। संख्या का ज्ञान, अंकों का ज्ञान, शून्यांक और स्थान-मूल्य की दशमलव-विधि, अंकगणित की आठ मूल विधियाँ जैसे धन, ऋण, गुणा, भाग, वर्गमूल, घनमूल, ऐकिक नियम एवं भिन्न—ये सब बातें वैदिक काल में ही भारतीयों ने जान ली थीं। वैदिक-काल के बाद भी अंकगणित का विकास होता गया और प्राचीन भारतीय प्रसिद्ध गणितज्ञों ने जैसे आर्यभट्ट, वराहमिहिर और ब्रह्मगुप्त आदि ने गणित में नयी उत्पत्तियाँ स्थापित कीं और इस शास्त्र का विकास किया। शून्यांक और स्थान-मूल्य की दशमलव-विधि का ज्ञान १०वीं शताब्दी के आस-पास अरबों ने भारतीयों से सीखा, और उनके द्वारा यह ज्ञान यूरोप में पहुँचा।

रेखागणित

वैदिक यज्ञ और हवन के लिए वेदियाँ निश्चित आकार, प्रकार और परिमाण में बनायी जाया करती थीं, उनके बनाने में कोण, वर्ग आदि का ज्ञान अपेक्षित होता था। इन्हीं सब बातों से निश्चित होता है कि वैदिक ऋषियों ने रेखागणित के कुछ आधारभूत सिद्धान्तों का पता लगा लिया था। वैदिक साहित्य के अंग और श्रौत-सूत्र (बोधायन, कात्यायन और आपस्तम्ब), जिनकी रचना का काल ५०० ई० पू० के आस-पास अनुमानित किया जाता है, रेखागणित के प्राचीन-तम ग्रंथ हैं। इन ग्रंथों में रेखागणित के कुछ चमत्कारिक समीकरण मिलते हैं, जैसे—$३^२ + ४^२ = ५^२$ इत्यादि। फिर कई शताब्दियों के बाद आर्यभट्ट और ब्रह्मगुप्त आदि ने रेखागणित का विकास किया, उन्होंने ट्रिगनोमेट्री (त्रिज्यामिति) का भी विकास किया।

बीजगणित

बीजगणित का आविष्कारक तो भारत को ही माना जाता है। वस्तुतः बात यह है कि भारतीय प्रतिभा किसी भी वस्तु की अव्यक्त स्थिति तक तुरन्त पहुँच जाती है। इसीलिए तो वह तत्कालीन दैनिक व्यवहार में काम आने वाली छोटी-छोटी संख्याओं के परे संख्या की तात्त्विक महत्ता तक पहुँच गयी और संख्या या अंकों के कल्पनात्मक

विज्ञान बीजगणित का उसने आविष्कार कर लिया।

गणितज्ञ आर्यभट्ट ने ज्या, कोटिज्या की भी विवेचना कर ली थी। भारतीय गणितज्ञों ने अनिश्चित प्रश्नों को समझने का भी प्रयत्न किया था। ज्या, कोटिज्या गणित के वे आधार हैं जिनके द्वारा नक्षत्रों की ठीक-ठीक स्थिति को समझा जा सकता है। गणित और ज्यौतिष शास्त्र दोनों साथ-साथ चला करते हैं अतः गणित के विकास के साथ भारत में ज्यौतिष का भी समीचीन विकास हुआ।

ज्यौतिष

ऋग्वेद में अनेक ऐसे मंत्र आते हैं जिनसे यह स्पष्ट भासित होता है कि वैदिक आर्यों को ग्रह, नक्षत्र आदि का पर्याप्त ज्ञान था। ज्यौतिष का इतना महत्त्व माना गया कि इसे वेदांगों में सम्मिलित कर लिया गया। भारतीय ज्यौतिष का प्रारम्भिक ग्रंथ लगध का वेदांग-ज्यौतिष है। भारतीयों की काल-गणना का आधार चन्द्रमा की गति है न कि सूर्य की। अतः उनके पंचांग में चान्द्र मास और चान्द्र वर्ष होता है न कि यूरोप की ज्योतिर्गणना के अनुसार सौर मास या सौर वर्ष। किन्तु उन्हें सूर्य की गति के अनुसार काल-गणना का ज्ञान भी था और वे चान्द्र और सौर वर्ष के अन्तर को समझते थे और उसका बिल्कुल सही समय गणित से निकाल लेते थे। प्राचीन भारतीयों की धार्मिक मान्यता तो यह थी कि पृथ्वी चपटी है और वह विश्व 'सौर-मंडल' के केन्द्र में है किन्तु ५वीं शताब्दी के लगभग ही आर्यभट्ट इत्यादि ज्यौतिषियों ने इस तथ्य का पता लगा लिया था कि पृथ्वी गोल है, वह अपनी धुरी पर घूमती है और साथ ही साथ सूर्य के चारों ओर भी। यह भी पता लगा लिया था कि अन्य सात ग्रह भी, जिनका उन्हें ज्ञान था, सूर्य के चारों ओर घूमते हैं। उन्होंने अपनी गणना से बिल्कुल ठीक-ठीक पता लगा लिया था कि सूर्य के चारों ओर पृथ्वी की गति का समय ३६५ दिन, ५ घंटे, ५५ मिनट और १२ सेकण्ड है। ऐसी भी मान्यता है कि भारतीय ज्यौतिष का पर्याप्त विकास ग्रीक विद्वानों के सम्पर्क में आने से हुआ था। यह सम्भव भी है, क्योंकि लगध के वेदांग ज्यौतिष के बाद ज्यौतिष

सम्बन्धी जिन पंच-सिद्धान्तों का उल्लेख आता है वे हैं सौरि, वासिष्ठ, पैतामह, पौलस्त्य और रोमक। इनमें पौलस्त्य और रोमक शब्दों से यूनान का स्पष्ट प्रभाव ज्ञात होता है। उन्नति की सीमा तक भारतीय ज्योतिष पहुँचा था, जिससे तो यह स्पष्ट जाहिर होता है कि उनके पास ज्योतिष-गणना का कोई विशेष आधार था। अभी तक विद्यमान जयपुर और दिल्ली की विशाल वेधशालाएँ जो बिल्कुल सही काल-गणना करके बतलाती हैं अपनी तरह के अद्भुत यन्त्रालय हैं। इन वेधशालाओं का भारतीय ज्योतिष-सिद्धान्त के आधार पर निर्माण तो अभी पिछली ३-४ शताब्दियों की ही बात है किन्तु उनसे यह बात अवश्य अनुमानित होती है कि प्राचीन काल में भी ऐसी वेधशालाएँ कहीं अवश्य बनी हुई होंगी, अन्यथा काल-गति और नक्षत्रों का इतना सही ज्ञान कैसे हो सकता था। जो कुछ हो, भारतीय ज्योतिष की दो बहुत बड़ी सीमाएँ रहीं, एक तो यह कि भारतीयों को टेलीस्कोप (दूरदर्शक यंत्र) का परिचय नहीं हो पाया, और दूसरा यह कि ज्योतिष मनुष्यों के भविष्य और भाग्य बतलाने के पचड़े में पड़ गया।

भौतिकशास्त्र

ऋग्वेदादि में ऐसे अनेक मंत्र मिलते हैं जिनमें वे सिद्धान्त अन्तर्निहित हैं जो आधुनिकतम भौतिक विज्ञान को मान्य हैं, जैसे—सृष्टि के निर्माण में शक्तिरूप अणु का आधार (आज का विज्ञान मानता है कि अणु का अस्तित्व इलैक्ट्रोन, प्रोटोन आदि विद्युत् शक्ति के रूप में है), और प्रकृति अपने में ही अन्तर्निहित नियमों के अनुसार चल रही है (ऋग्वेद के वरुण देव की कल्पना जो ऋत की, अर्थात् सृष्टि के नियमों की, रक्षा करता है)। सृष्टि के निर्माण में अणु की कल्पना भारतीय दर्शनों में भी विशेषकर वैशेषिक, जैन एवं बौद्ध दर्शनों में स्पष्ट रूप से विकसित हुई है। सांख्यदर्शन का यह मन्तव्य कि आदि प्रकृति भूतद्रव्य (Primordial matter) में ही गति उत्पन्न होकर उसी में से जीव, इन्द्रिय, बुद्धि और मन का विकास हुआ, यह एक अनुपम सिद्धान्त है जो आधुनिक विकासवाद से मिलता-जुलता है। किन्तु एक

बात है, वह यह कि उक्त भारतीय ज्ञान आधुनिक विज्ञान की तरह प्रयोगशालाओं पर आधारित नहीं था—भारतीय मनीषियों के अन्तस् में वह एकाग्र-ध्यान और अन्तर्दृष्टि से प्रकाशित हुआ था। यह चाहे संयोग की बात ही हो कि वह प्रकाशित ज्ञान आधुनिक वैज्ञानिक सिद्धान्तों से मिलता है, किन्तु इससे इतना तो स्पष्ट होता है कि भारतीय मनीषियों की बुद्धि और कल्पना सत्य तक पहुँची थी।

भारतीयों को वैदिक काल से ही प्रकाश (Light) के सम्बन्ध में विश्लेषणात्मक ज्ञान था। उन्हें मालूम था कि प्रकाश में सात रंग होते हैं। ऋग्वेद में सूर्य को सप्तरश्मि अर्थात् सात रश्मियों वाला कहा गया है। न्याय और वैशेषिक दर्शन के अनुयायियों ने शब्द (Sound) का विश्लेषण किया। उन्हें यह ज्ञात हो गया था कि शब्द एक वीचि (तरंग) है जो वृत्ताकार रूप में हवा में फैलती जाती है। उनका शब्द का ज्ञान तो वस्तुतः प्रयोग पर ही आधारित है और इसी कारण वे संगीत और वाद्ययंत्र के वैज्ञानिक पक्ष को बहुत गहराई से समझ गये थे, और इसीलिए वे वैदिक मंत्रों की ध्वनि और संगीत का अनुपम विकास कर सके थे। संक्षेप में यह कहा जा सकता है कि प्राचीन भारत में भौतिक विज्ञान के प्रायः निम्न सिद्धान्तों का ज्ञान हो चुका था : १—सृष्टि के मूल में एकत्व का सिद्धान्त, २—परमाणुवाद, ३—प्रकृति की गत्यात्मकता, ४—प्रकाश एवं शब्द का विश्लेषण।

रसायन-शास्त्र

भारतीय रसायन-शास्त्र के विकास की साक्षी हमें यहाँ के उन्नत आयुर्वेद में मिलती है, जो एक उपवेद माना जाता है। अनेक भौतिक द्रव्यों एवं वनस्पतियों के रासायनिक गुणों का वर्णन सुश्रुत, चरक और वराहमिहिर आदि के ग्रंथों में मिलता है। धातुओं को गलाना और गलाकर रासायनिक विधि से उनके उपयोगी रस-औषधि बना लेना, अनेक प्रकार के चूर्ण, लेप और रासायनिक तेल बना लेना, पाकविद्या इत्यादि बातें भारतीयों के उन्नत रसायनशास्त्र का परिचायक है। उन्हें धातुशास्त्र (Metallurgy), पारे (Mercury) के

रासायनिक संमिश्रण बनाना, अनेक प्रकार के रासायनिक क्षार बनाना (Alkali Acids) इत्यादि का भी ज्ञान था। वराहमिहिर की बृहत्संहिता में एक विशेष लेप का उल्लेख मिलता है जिसका नाम है वज्रलेप। ऐसा अनुमान किया गया है कि अशोक के स्तम्भों पर, जो लगभग ढाई हज़ार वर्ष के बाद भी, सतत धूप-पानी का आघात सहते हुए भी, अपने मूलरूप में ही चमक रहे हैं और वैसे के वैसे ही चिकने बने हुए हैं, उक्त वज्रलेप को लगाया गया था।

यहाँ तक अनुमान है कि अशोक-स्तम्भ, जैसा कि बहुधा सोचा जाता है, फ़ौलाद के नहीं किन्तु एक प्रकार के रेतीले पत्थर एवं उक्त लेप के सम्मिश्रण से बने हुए हैं। मौर्यकाल में बनी हुई बिहारों में आजीवकों की अनेक गुफाएँ हैं। उनकी दीवारें आज भी काच के समान चमक रही हैं। ऐसा अनुमान है कि उन दीवारों पर भी वज्रलेप का पालिश किया हुआ है।

वनस्पति एवं जीव-शास्त्र

वेदों तथा उपनिषदों में और जैन-शास्त्रों में यह बात मानी गयी है कि वनस्पतियों में जीव है, वे सोते-जागते हैं और सुख-दुःख का अनुभव करते हैं। इस शास्त्र का विशेष उत्कर्ष हम चरक, सुश्रुत आदि कई ग्रंथों में पाते हैं। उनमें यह उल्लिखित है कि प्राणियों की तरह वनस्पति और वृक्ष भी सोते-जागते हैं, जीते-मरते हैं, बीमार पड़ते हैं एवं स्वस्थ भी होते हैं। उनमें इन्द्रिय-ज्ञान भी होता है। वे देखते सुनते और सूँघते भी हैं और उनमें सुख-दुःख की अन्तः-संज्ञा भी होती है। आधुनिक भारतीय वैज्ञानिक श्री जगदीशचन्द्र वसु ने उक्त मान्यताओं को प्रयोगों से सिद्ध करके बतला दिया है। अपनी विश्लेषणात्मक बुद्धि से भारतीय विद्वान् सभी प्रकार के जीवों को ४ वर्गों में विभाजित कर सके थे। चरक और सुश्रुत ने प्राणियों की उत्पत्ति के आधार पर उनके चार मुख्य विभाग किये हैं; जैसे जरायुज, अण्डज, स्वेदज और उद्भिज्ज। एक और विद्वान् प्रशस्तपाद ने इसी आधार पर दो और विभाग किये हैं—योनिज और अयोनिज। यह सब

वर्गीकरण सूक्ष्म निरीक्षण और वैज्ञानिक सूझ-बूझ के बिना नहीं हो सकता था।

आयुर्वेद

वैदिक आर्य १०० वर्ष तक स्वस्थ रहते हुए पुरुषार्थ साधने की कामना करते थे। उन्होंने इस बात को माना था कि सुन्दर स्वास्थ्य के बिना जीवन में धर्म और आनन्द की प्राप्ति नहीं हो सकती, अतः शरीर को स्वस्थ बनाये रखने के लिए उन्होंने जो प्रयत्न किये; उनके फल-स्वरूप धीरे-धीरे एक सुघटित और अपने आप में सर्वांगपूर्ण प्रायौगिक एवं सैद्धान्तिक शास्त्र का विकास हो गया। वह था आयुर्वेद शास्त्र, जिसे उपवेद भी कहा गया है। ऋग्वेद-काल में ही इसका ज्ञान बहुत विकसित हो गया था। ई० सन् की प्रारम्भिक शताब्दी में महान् आयुर्वेदाचार्यों—चरक और सुश्रुत—ने जो अपने ग्रंथ रचे वे तो पूर्व विद्यमान ज्ञान के केवल सुनियोजित संग्रहमात्र थे। आयुर्वेद की ही पृष्ठभूमि में तो विज्ञान के कई अन्य विभागों का विकास हुआ था, विशेषकर रसायन एवं वनस्पति शास्त्र का। रोग के मूल कारण और मूल रूप को समझकर उसको निर्मूल करने के अपने ध्येय एवं व्यावहारिक प्रयोग में इस शास्त्र की भारतवर्ष में बड़ी महत्ता है जिसको आधुनिक विद्वान् भी स्वीकार करते हैं। आयुर्वेद-शास्त्र में रोग के अदृश्य कीटाणुओं का भी वर्णन मिलता है जो आधुनिक मैडिकल साइंस की एक बहुत बड़ी उपलब्धि समझी जाती है। आयुर्वेद में शल्य-चिकित्सा (Surgery एवं Operation) का भी सांगोपांग वर्णन है। चीर-फाड़ के अनेक औज़ारों और विधानों का वर्णन आता है। साहित्य में ऐसे अनेक उल्लेख मिलते हैं जिनसे यह विदित होता है कि प्राचीन भारत में अनेक ऐसे प्रसिद्ध वैद्य हुए जिन्होंने शल्य-कर्म द्वारा अनेक रोगों का उपचार किया। युद्ध में आहत कान, नाक, होंठ इत्यादि के व्रणों को ठीक कर देने में वैद्य बहुत निपुण होते थे। भारतीय आयुर्वेद शास्त्र के विषय में ही यह बात निर्विवाद रूप से कही जा सकती है कि इसका विकास बहुत ही वैज्ञानिक ढंग से एवं अतिसूक्ष्म बुद्धि और समझ से

हुआ था। आयुर्वेद में स्वच्छता और प्राकृतिक जीवन का बहुत महत्त्व है, स्वच्छता को तो मानो सभ्यता और संस्कृति का मूल आधार ही मान लिया गया है।

प्राचीन भारत को पशु-चिकित्सा का भी ज्ञान था। ६ठी-७वीं शताब्दी के कई पशुचिकित्सा-संबंधी ग्रंथ मिले हैं, जैसे, पालकप्य का हस्त्यायुर्वेद, शालिहोत्र का अश्व-शास्त्र, जयदत्त और दीपंकर का अश्व-वैद्यक, नकुल का अश्व-चिकित्सा-ग्रंथ।

यदि आयुर्वेद विज्ञान का मध्ययुग में भी इसी प्रकार विकास होता रहता तो बहुत संभव है, आज की ऐलोपेथी और उसमें नाममात्र का ही अन्तर होता।

चौदहवाँ अध्याय

भारतीय संस्कृति का विदेशों में प्रसार

भारतीय संस्कृति केवल भारत की सीमा तक ही सीमित नहीं रही है, इसका प्रभाव भारत के ओर-छोर को पार कर उसके उत्तर, दक्षिण, पूर्व, पश्चिम चारों ओर फैला है। यहाँ एक बात याद रखनी चाहिए, वह यह कि इस प्रकार का संस्कृति का प्रसार किसी के लिए कोई अभिमान करने की चीज़ नहीं है। स्थापत्य, मूर्ति, चित्र, संगीत और कविता, धर्म और संस्था—यह सब तो मूर्त रूप हैं उस सौन्दर्य, सहज उल्लास या उदात्त और मधुर वृत्ति के जिनका वास रहता है मानव मन के केन्द्र में। जहाँ कहीं भी, जिसके सम्पर्क से भी इस (संस्कृति) का प्रसार होता है वह तो एक निर्विशेष भाव का प्रसार है, साधारणीकृत मानवीय संवेदना का प्रसार। विश्व में जब कभी भी, जहाँ कहीं भी, सांस्कृतिक सम्पर्क और आदान-प्रदान होते हैं उनका परिणाम तो, एक दृष्टि से, मानो समस्त मानव-जाति का एकाकार अस्तित्व के उच्चतर और श्रेष्ठतर भाव से परिचय करा देना होता है। भावना के रूप में भारतीय संस्कृत का

और कलाकृतियों आदि के रूप में भारतीय सभ्यता का दूसरे देशों और लोगों से इस प्रकार का सम्पर्क और आदान-प्रदान प्राचीन युग में बराबर होता रहा है। इससे भारत को तथा दूसरे देशों को विकास की दिशा में प्रगति प्राप्त हुई है।

भारत का विदेशों से सर्वाधिक सम्पर्क बौद्ध-युग से प्रारम्भ होकर गुप्त-युग तक रहा, अर्थात् ईस्वी पूर्व पाँचवी-छठी शताब्दी से ईस्वी सन् की पाँचवीं-छठी शताब्दी तक।

भारतवर्ष का यह लम्बा युग अद्भुत क्रियाशीलता का युग था। विचार और भावना के विकास में, शौर्य और समृद्धि में एवं सर्वोपरि स्थापत्य, मूर्ति, चित्र, संगीत, दर्शन और काव्य के निर्माण में इस युग जैसा कोई और युग विश्व के किसी देश के इतिहास में नहीं मिलता। ऐसा मालूम होता है मानो भारत इस युग में विचार, भावना, सौन्दर्य और जीवन के विकास और समृद्धि के ओर-छोर को छू गया हो और जैसे वह अपने में न समा सकने के कारण इधर-उधर देश के चारों ओर प्रसारित हो गया हो। दक्षिण में वह पहुँचा लंका में, उत्तर में तिब्बत तथा समस्त मध्य एशिया के प्रदेशों जैसे बलख, बुखारा, समरकन्द, काशगर, तुर्फान, यारकन्द, खोतान, कूची, चीन, कोरिया और जापान; दक्षिण-पूर्व और पूर्व में बर्मा (सुवर्ण-भूमि), फूनान (कोचीन चीन), कम्बोज (कम्बोडिया), चम्पा (अन्नान), सुमात्रा, यवद्वीप (जावा), बाली, बोरनियो और फिलिपीन द्वीप में। ऐसा मालूम होता था मानो भारत—उसका जीवन दर्शन, धर्म और कला—इन प्रदेशों में प्रसार पाकर ही बृहत्तर भारत बन गया था।

भारत के चारों ओर के संसार में भारतीय संस्कृति के प्रसार के पीछे मुख्य प्रेरणाएँ दो रही हैं—१. भारत के प्राचीन आर्यों में जीवन और उल्लास की परिपूर्णता, जिससे वे इधर-उधर फैलते रहे और उस सत्य, उन्नति और कल्याण के मार्ग को जिसकी उपलब्धि उन्हें हुई थी दूसरों को उल्लासपूर्वक शुद्ध मानवीय भाव से बताते रहे।

२. भारतीय व्यापारी अपने व्यापार के लिए बराबर दूर-दूर के देशों में जल और थल के मार्गों से जाते रहे और अपने साथ अपने देश

के सांस्कृतिक आचार, विचार, भावना, धर्म और दर्शन को ले जाते रहे।

इन प्रेरणाओं से प्रेरित होकर जो उन्होंने यात्राएँ कीं उनके लिए जल और थल दोनों के वाहनों की उन्हें आवश्यकता हुई। हम देखते हैं कि भारतीयों को प्राचीन काल से ही नाव और जल-पोतों का ज्ञान था। वे बड़े-बड़े जलपोतों को बनाते थे। बड़ी-बड़ी ऐसी नावों का वर्णन आता है जिनमें एक साथ हाथी, घोड़े और सैकड़ों तक आदमी बैठ सकते थे। अरबसागर, लालसागर एवं फारस की खाड़ी की राह से भारत पश्चिमी देशों से जुड़ा था, एवं बंगाल की खाड़ी के किनारे-किनारे ब्रह्मदेश, कम्बोज, मलाया, सुमात्रा, जावा एवं पूर्वी द्वीपसमूहों से। पूर्वी तट पर गोपालपुर, बंगाल में ताम्रलिप्ति और पश्चिमी तट पर भृगुकच्छ बन्दरगाह सर्वाधिक प्रसिद्ध थे। एक स्थल-मार्ग पाटलीपुत्र से प्रयाग, मथुरा, पेशावर, काबुल, हिरात, तेहरान, बग़दाद, पिलमरा होता हुआ लघु एशिया के बन्दरगाह समरणा तक जाता था, इसी की एक शाखा अलक्सेंड्रिया तक पहुँचती थी। दूसरा स्थल-मार्ग काबुल से बलख, समरकन्द, कोकन्द, काशगर, तुर्फ़ान होता हुआ चीन पहुँचता था।

१. प्रागैतिहासिक काल में भारत का बाहर से सम्बन्ध—यह अब एक निर्विवाद तथ्य है कि सिन्धु-घाटी की सभ्यता के लोगों का सम्पर्क मिश्र, सुमेर और बेबीलोन की प्राचीन सभ्यताओं से था। मिश्र की प्राचीन राजधानी मेम्फिस में भारतीय मूर्तियों के अनेक अवशेष मिले हैं, मिश्र की ममियों (Mummies) का परिधान भारतीय सूती वस्त्र का बना है। यहाँ तक अनुमान लगाया गया है कि अमेरिका की एवं ऐज़टक सभ्यताएँ इस बात का आभास देती हैं कि प्राचीन काल में भारतीय वहाँ जाकर बस गये थे।

२. वैदिक काल में भारत का ईरान, बेबीलोन, यहूदी प्रदेश और मिश्र से सम्बन्ध—भाषासाम्य के आधार पर एवं देवताओं के स्वरूप-साम्य के आधार पर यह कहा जाता है कि ईरानियों का धर्म

(अवेस्ता के अनुसार) भारतीय आर्य-धर्म की ही एक शाखा है। ऋग्वेद का देवता असुरमेध, ईरानियों का अहुरमज़्द बन जाता है, ऋग्वेद का अर्यमन् अवेस्ता का एर्दमन है। ईरानी भी वैदिक आर्यों के समान यज्ञ करते थे, उनके घरों में हर समय अग्नि प्रज्वलित रहती थी। भारतीय आर्यों के समान ईरानी भी यज्ञोपवीत धारण करते थे, आज भी प्राचीन ईरानियों के प्रतिनिधि पारसी लोग कमर में यज्ञोपवीत धारण करते हैं जिसे वे कुश्ती कहते हैं।

यजुर्वेद के शतपथ ब्राह्मण में एक कथा आती है जिसमें यह उल्लिखित है कि मनु प्रलय के समय एक नाव द्वारा प्राणियों की रक्षा करते हैं। प्रलय-सम्बंधी यही कथा ईरानियों के धर्म-ग्रन्थ में ली गयी है। स्पष्ट रचना और प्रलय-सम्बंधी ऐसी ही कथा, यह एक आश्चर्य की बात है, प्राचीन बेबीलोन की एक चट्टान पर लिखी हुई मिली है। यही कथा यहूदियों ने अपनी बाइबिल में ली है और मुसलमानों ने अपनी कुरान में। यहूदियों, ईसाइयों और मुसलमानों ने उस आदि-पुरुष के नाम और उसकी किश्ती का बयान "हज़रत नूह की किश्ती (Noah's Arc)" कहकर किया है। प्रतीत होता है कि "नू" मनु का ही अपभ्रंश है। यह तो निश्चयपूर्वक नहीं कहा जा सकता कि उक्त घटना का उल्लेख शतपथ ब्राह्मण ग्रन्थ में पहले हुआ या प्राचीन बेबीलोन साहित्य में; किंतु इतना निश्चित है कि भारतीय आर्यों का सम्पर्क ईरानियों और प्राचीन बेबीलोनियों से था और उन्हीं के प्रभाव से उक्त घटना यहूदी, ईसाई और मुसलमान धर्म-ग्रंथों में पहुँची। उक्त घटना से एक और बात का आभास मिलता है और वह यह है कि अतिप्राचीन काल में सचमुच एक भयंकर जल-प्रलय हुआ था, शायद अंतिम हिमयुग की बर्फ़ के पिघलने से। आदिमानव-नेताओं ने उस प्रलय से अपने साथियों के साथ उच्च पर्वतीय भूमि पर पहुँचकर अपनी रक्षा की और प्रलय-जल के हट जाने के बाद वे मानव इधर-उधर मैदानों में उतर गये, और धीरे-धीरे नयी-नयी सभ्यताओं

का विकास किया। इसी घटना की स्मृति शायद आर्यों के ग्रंथों में अङ्कित है, जहाँ से वह अन्यत्र फैली।

ईरानियों के अवेस्ता के अहुरमज़द की भावना और यहूदियों के बाइबिल के जेहोवा देवता की भावना में भी बहुत समानता है। विद्वानों की ऐसी मान्यता है कि अवेस्ता के अहुरमज़द का एक नाम अह्वि भी था। जिसकी निष्पत्ति ऋग्वेद के यह्व शब्द से मानी जाती है, जिसका अर्थ है महान्। इस सबसे यह आभासित होता है कि वैदिक देव-भावना ईरान से होती हुई फ़िलस्तीन के यहूदी लोगों में पहुँची। यहाँ तक कहा जाता है कि यहूदी धर्म ईरानियों के धर्मगुरु जरथुस्त्र के सिद्धांतों के आधार पर विकसित हुआ है।

बेबीलोनिया एवं मिश्र के प्राचीन लेखों, केसाइट जाति के ई० पू० १७६० के लेख, लघु-एशिया के बोगेसकुई स्थान से अभी हाल में प्राप्त हिट्टाइट लेखों, एवं टेल-एल-अमर्ना के १४०० ई० पू० के राज्य-पत्रों से निम्न बातें प्रकट होती हैं:—

१—ई० पू० १८०० के लगभग भारतीय आर्यों की कोई शाखा पश्चिमी एशिया एवं उत्तरी अफ्रीका के प्रदेशों में बसी हुई थी, यहाँ तक कि ई० पू० १५००–१६०० के लगभग पश्चिमी एशिया के कुछ प्रदेशों में उनके प्रभुत्व की भी साक्षी मिलती है। यूफ्रेटीज़ नदी के किनारे बसे हुए मिलानी लोगों के राजाओं के नाम उल्लिखित हैं। ये नाम हैं—सुत्तर्न, दनरत्त, अर्ततम। स्पष्ट है कि ये भारतीय आर्यों के नाम हैं। कुछ वैदिक देवताओं के नाम आते हैं, जैसे—इन्द-अर (इन्द्र), उरुव्न (वरुण), मिथ् (मित्र) आदि।

प्राचीन मिश्र के राजा एखनाटन के राज्यकाल के पूर्व मिश्र में एक आर्यजाति का, जिसका नाम हिक्सॉस था, आक्रमण हुआ था। एखनाटन ने मिश्र के अनेक देवी-देवताओं की भावना से ऊपर उठकर सबमें व्याप्त एक शक्ति की बात कही थी, केवल एक ईश्वरीय शक्ति की घोषणा की थी। ऐसा अनुमान है कि यह एखनाटन पर हिक्सॉस आर्य लोगों के प्रभाव का परिणाम था।

इन सब बातों से तो यही अनुमान लगता है कि प्राचीन काल में भी आवागमन के साधन चाहे सुलभ न रहे हों किन्तु फिर भी सामुद्रिक एवं स्थल के मार्ग से विभिन्न प्रदेशों के जातियों की, व्यापारियों की एवं साहसी व्यक्तियों की इधर-उधर हलचल बराबर होती रहती थी। वे एक-दूसरे के सम्पर्क में आते रहते थे और एक-दूसरे पर सांस्कृतिक प्रभाव पड़ता रहता था। उस समय के भी सभ्य देश एक-दूसरे से अनभिज्ञ नहीं थे, और एक प्रदेश-विशेष की भौतिक, वैचारिक और भावात्मक हलचल प्रायः सभी अन्य प्रदेशों में पहुँच जाती थी।

उपनिषद् एवं सूत्र-काल में भारत का ग्रीस और रोम तथा एशिया के देशों से सम्बन्ध

ग्रीस और रोम

इस युग में भी भारत का सम्बन्ध पश्चिम एशिया के देशों एवं विशेषकर ग्रीस और रोम से बहुत रहा। ग्रीक जनश्रुति है कि थेल्स, एम्पीडोक्लीज एवं अन्य यूनानी विद्वानों ने भारत की यात्रा की थी, यहाँ के दर्शन और गणित का अध्ययन करने के लिए अनेक ग्रीस विद्यार्थी तक्षशिला विश्वविद्यालय में (जिसका अस्तित्व ई० पू० ६०० से भी कुछ पहले माना जाता है) पढ़ने आते थे। ग्रीस और रोम से भारत का जल और थल दोनों मार्गों से व्यापार होता था। अलक्ष्येंद्र के भारत-आक्रमण के समय यह ग्रीक भारत सम्पर्क अधिक घनिष्ठ और व्यापक हो गया था। ग्रीक ज्ञान-विज्ञान, चिकित्सा-प्रणाली, धर्म और दर्शन पर भारत का प्रभाव स्पष्ट झलकता है।

पाश्चात्य पंडितों जैसे मैकडानेल, सर विलियम जौन्स आदि के ग्रन्थों के आधार पर यह कहा जा सकता है कि प्राचीन ग्रीस के दार्शनिकों पर भारतीय उपनिषदों एवं दर्शनशास्त्र का गहन प्रभाव रहा है :—

दार्शनिक सिद्धान्त	यूनानी दार्शनिक	भारतीय दर्शन
१—सृष्टि और ईश्वर एक हैं, अनेकत्व तो केवल आभास है।	ऐलेटिक्स (दार्शनिकों का एक स्कूल)	उपनिषद् एवं वेदांत
२—प्रकृति अनादि एवं अनन्त।	एम्पिडोक्लीज	सांख्यदर्शन
३—पुनर्जन्म	पाइथागोरस	उपनिषदादि

सर विलियम जोन्स ने अपने ग्रन्थ "वर्क्स" पृ० १—३६० में ग्रीक दर्शन एवं भारतीय दर्शनों में निम्न प्रकार साम्य दिखलाया है :—

४—न्याय (लाजिक)	पेरिपेटेनिक स्कूल	न्यायदर्शन
५—पदार्थतत्त्व	आयोनिक स्कूल	वैशेषिक दर्शन
६—आत्मतत्त्व (विचार) ही केवल सत्य है।	प्लेटोनिक स्कूल	वेदान्त दर्शन
७—पुरुष और प्रकृति की व्याख्या	इलैटिक्स स्कूल	सांख्यदर्शन
८—आत्म-संयम	स्टोइक स्कूल	योग-दर्शन

सर विलियम जोन्स ने निम्नांकित ग्रीक एवं भारतीय दार्शनिकों में विचार और भावसाम्य दिखलाया है :—

ग्रीक दार्शनिक	भारतीय दार्शनिक
थेल्स	कणाद
जेनो	पतंजलि
पाइथागोरस	कपिल
सोक्रेटीज	जैमिनि
प्लेटो	व्यास
एरिस्टोटल	गौतम

ग्रीक देवी-देवताओं की कल्पना भी भारतीय देवी-देवताओं की कल्पना से बहुत मिलती-जुलती है, और ग्रीक भाषा वैदिक संस्कृत से। ग्रीक कवि होमर के महाकाव्य 'इलियड' और वाल्मीकि के महाकाव्य

'रामायण' दोनों की काव्य-प्रेरणा में साम्य है।

उधर रोमन धर्म, दर्शन, काव्य एवं कला तो मानो ग्रीक संस्कृति का ही दूसरा संस्करण है। उपर्युक्त बातों से इस विचार को प्रत्यक्ष बल मिलता है कि भारतीय आर्यजाति एवं ग्रीक और रोमन जातियां किसी एक ही पूर्वज आर्य जाति से ही सम्बद्ध थीं और उन सबके जीवन के रहन-सहन और भाव तथा विचार में एक प्रकार का साम्य था। केवल विभिन्न भौगोलिक परिस्थितियों में जाकर बसने से उनकी प्रतिभा के विकास ने कुछ भिन्न-भिन्न रूप पा लिये।

लंका

जनश्रुति और पुराणों के आधार पर यह कहा जाता है कि इश्वाकु-वंशीय दशरथ-पुत्र राम आर्य-ऋषि वसिष्ठ और विश्वामित्र की प्रेरणा से सबसे पहले सुवर्णपुरी (लंका) में पहुँचे और इस प्रकार वहाँ आर्य-सभ्यता और संस्कृति का बीज पड़ा। ऐसा भी कहा जाता है कि ई० पू० ५ शताब्दी में बंगाल का राजकुमार विजय लंका में पहुँचा और वहां उसने अपना राज्य स्थापित किया। वहाँ पहले से ही बसी हुई द्रविड़ जाति की सभ्यता का आर्य-सभ्यता में मिलन हुआ और इससे सिंहल जाति और सिंहली भाषा का निर्माण हुआ। अशोक के राज्य-काल में स्वयं अशोक का पुत्र महेन्द्र लंका पहुँचा था और वहाँ उसने वहाँ के राजा को बौद्ध-धर्म में दीक्षित किया।

महेन्द्र अपने साथ बोधि-वृक्ष की एक शाखा भी लेता गया जिसका रोपण लंका के प्रसिद्ध नगर अनुराधापुर में हुआ। वह वहाँ एक महावृक्ष के रूप में वर्तमान है।

बौद्ध धर्म का प्रसार हुआ और भारतीय कला के आधार पर अनुराधापुर और दूसरे नगर का कांडी में अनेक बौद्ध बिहारों और स्तूपों का निर्माण हुआ, बौद्ध-साहित्य का विकास हुआ। आज भी बौद्ध-धर्म और बौद्धकालीन इतिहास की अनेक बातों का समावेश लंका में विद्यमान पाली भाषा के ग्रन्थों में है।

पाली भाषा के जातक ग्रंथों के विवरण से पता लगता है कि अनेक भारतीयों ने ई० पू० ५ शताब्दी में ब्रह्मा एवं पूर्वीय द्वीपसमूह की यात्रा की और वहाँ कालांतर में उन्होंने अपने उपनिवेश बसाये।

ब्रह्मदेश (बर्मा)

वस्तुतः सन् १०० से १४०० ई० तक यूनान, कम्बोज, चम्पा, सुमात्रा, जावा, वाली और बोर्नियो में हिन्दू राजाओं का (बीच-बीच में कभी कोई राजा बौद्धधर्मी हो जाता था) आधिपत्य रहा और वहाँ भारतीय हिन्दू-संस्कृति तथा सभ्यता का प्रभाव बना रहा। इन शताब्दियों में इन देशों में कई प्रमुख हिन्दू-साम्राज्य स्थापित हुए।

१. फूनान (कोचीन, चीन) राज्य जिसका संस्थापक कौंडिन्य नामक ब्राह्मण बताया जाता है, इस वश के राजत्व-काल में 'शिव-धर्म की प्रधानता रही एवं अनेक शिव एवं विष्णु के मंदिर बने।

२. फूनान के बाद 'चम्पा' (अनाम) राज्य की प्रधानता हुई। हिन्दू राजाओं ने कई शताब्दियों तक राज्य किया एवं अनेक सुन्दर मंदिर, भवन एवं देव-मूर्तियों का निर्माण किया।

३. उक्त दो राज्यों के बाद कम्बोडिया साम्राज्य विकसित हुआ जिसके सबसे प्रसिद्ध राजा जयवर्मन् ने अंगकोर नामक एक सुन्दर विशाल नगरी बसायी जो उसके साम्राज्य की राजधानी बनी। इसी नगर के पास एक विशालकाय मंदिर का निर्माण हुआ था जिसका नाम अंगकोरवाट (बारहवीं शताब्दी) था। इस विशाल मंदिर के अद्भुत अवशेष अब भी स्थित हैं। तीन मील के घेरे का यह मंदिर है। काले पत्थर का, जिसके चारों ओर खाई है। मंदिर की दीवारों पर सुन्दर खुदाई का काम है जिसमें रामायण तथा महाभारत की कथाओं के चित्र अंकित हैं। मंदिर में पहले बुद्ध भगवान् की मूर्ति थी किंतु बाद में विष्णु भगवान् की प्रतिष्ठापना कर दी गयी। दर्शकों के लिए यह मंदिर अब भी एक चमत्कार की वस्तु है।

पूर्वी द्वीपसमूह में विशेषकर श्री विजय-साम्राज्य का विकास हुआ। इसकी स्थिति प्रायः पहली शताब्दी से १४वीं शताब्दी तक बनी रही।

इसका विस्तार समस्त सुमात्रा द्वीप, बोर्नियो, सिलीबीज़, मलाया प्रायद्वीप और जावा के पश्चिमी भाग तक था। इसकी राजधानी सुमात्रा में श्रीविजयनगरी थी।

इस साम्राज्य के सबसे प्रसिद्ध शासक सातवीं शताब्दी में शैलेन्द्र वंश के राजा थे। इन राजाओं के व्यापारी जहाज़ी बेड़े पश्चिम में ठेठ भारत से पूर्व में चीन तक चलते थे। सिंहपुर (सिंगापुर) इस राज्य का सबसे प्रसिद्ध बंदरगाह था।

इसी वंश के राजाओं ने जावा में बोरोबदूर के बौद्ध मंदिर का निर्माण कराया जो इतना विशाल एवं भव्य है कि यह संसार का एक आश्चर्य माना जाता है। इस मंदिर की भित्तियों में निर्मित अनेक मूर्तियाँ हैं, जिनमें लगभग १५०० सौ मूर्तियाँ, बुद्ध के जीवन की और बौद्ध-धर्म के विकास की गाथा को मुखरित कर रही हैं। कहा जाता है कि बोरोबदूर तो पत्थर में बहता हुआ संगीत—पत्थर में अंकित किया हुआ एक महाकाव्य है।

उन शताब्दियों में जावा-द्वीप के पूर्व में स्थित बाली-द्वीप भी हिन्दू संस्कृति का एक महान् केन्द्र था। वहाँ हिन्दू देवी-देवताओं के अनेक मन्दिर थे, जिनमें इन्द्र, विष्णु, लक्ष्मी और कृष्ण आदि की मूर्तियाँ स्थापित थीं। बालीवासियों में पंचकुमारी पूजा (अहल्या, द्रौपदी, सीता, दमयन्ती और मंदोदरी की पूजा) का बहुत प्रचलन था। उनके जीवन में आनन्द का एक प्रमुख साधन रामायण और महाभारत की मार्मिक घटनाओं को नृत्य में अभिव्यक्त करना था। वे आज भी ऐसा करते हैं। वहाँ ब्रह्मांड-पुराण, मनुस्मृति एवं कई अनेक संस्कृत ग्रन्थों की प्रतियाँ प्राप्त हुई हैं।

इन उपनिवेशों में भारतीय संस्कृति की कुछ सामान्य बातें :—

१. इन उपनिवेशों में बौद्धधर्म और पौराणिक धर्म दोनों प्रचलित थे। पौराणिक धर्म का प्रतीक जो अब एक अवशेष मात्र है अंगकोर का अद्भुत विशाल मंदिर है, और बौद्धधर्म का प्रतीक जावा का बोरोबदूर मंदिर है।

२. इन उपनिवेशों में राजकीय तथा धर्म-कर्म की भाषा संस्कृत थी।

संस्कृत भाषा में लिखे हुए राजाओं के अनेक शिलालेख उपलब्ध होते हैं।

३. प्राय: सभी हिन्दू देवी-देवताओं की पूजा होती थी। जैसे ब्रह्मा, विष्णु, शिव, पार्वती, गणेश, स्कन्द, राम, कृष्ण, नन्दी, गरुड़ इत्यादि। इन सभी देवताओं के मंदिर और मूर्तियाँ उपलब्ध हुए हैं।

४. सभी मंदिर और मूर्तियाँ उन्नत भारतीय स्थापत्य और मूर्ति-कला के नमूने हैं।

५. इन लोगों में रामायण और महाभारत की गाथाएँ बहुत प्रचलित थीं।

६. जिन भारतीयों ने ये उपनिवेश बसाये थे और अन्य भारतीय जो समय-समय पर वहाँ जाकर बसे थे (जिनकी संख्या हज़ारों तक होगी) उनका अपनी मातृभूमि भारत से कोई राजनैतिक संबंध नहीं था, उनका केवल व्यापारिक एवं सांस्कृतिक सम्बन्ध रहता था, और अपनी मातृभूमि भारत से वे धार्मिक और सांस्कृतिक प्रेरणा पाते रहते थे।

७. इन सभी भारतीय उपनिवेशों की परम्परा प्राय: १५वीं शताब्दी में समाप्त हो गयी जब कि इन प्रदेशों में पहले अरबी-मुसलमानी और फिर १८—१९वीं शताब्दी में यूरोपीय राज्य कायम हो गया। वैसे पहली शताब्दी से १४वीं शताब्दी के अन्त तक उक्त प्रदेशों का इतिहास हिन्दू-राज्य और हिन्दू-संस्कृति का इतिहास है।

मध्य एशिया

ई० पू० की कई शताब्दियों से प्रारम्भ होकर ईस्वी सन् की ५वीं शताब्दी तक मध्य एशिया के देश जैसे अफ़गानिस्तान उसका पश्चिमी भाग—बेक्ट्रिया, चीनी तुर्किस्तान और वहाँ के नगर बलख़, बुख़ारा, काशगर, तुर्फ़ान, यारक़द, खोतान आदि भारतीय हिन्दू या बौद्ध संस्कृति के प्रभाव में रहे हैं। कई स्थान तो हिन्दू या बौद्ध धर्म, दर्शन और शिक्षा के महत्त्वपूर्ण और प्रसिद्ध केन्द्र थे, और कई स्थान वस्तुत: भारतीयों के उपनिवेश थे। जैसे, खोतान, कूची (चीनीतुर्किस्तान) काराशह (चीनीतुर्कीस्तान), जहाँ अनेक बौद्ध बिहार और हिन्दू मंदिर बने हुए थे।

इतिहासकारों ने यहाँ तक कहा है कि उक्त शताब्दियों में वास्तविक भारत की सीमा पश्चिम में मध्य एशिया से पूर्व में यवद्वीप तक फैली हुई थी। इन स्थानों से अनेक अवशेष मिले हैं। जैसे, बुद्ध की अनेक मूर्तियाँ विशेषकर गान्धार शैली की, हिन्दू देवी-देवताओं की मूर्तियाँ, जैसे कुबेर, गणेश, विष्णु आदि की; और संस्कृत और प्राकृत भाषा के अनेक ग्रंथ मिले हैं। उक्त भारतीय उपनिवेशों में (कूची, काराशहर, तुर्फ़ान आदि में) संस्कृत भाषा और ब्राह्मी लिपि का प्रचार था और कुछ अन्य उपनिवेशों में, जैसे यारक़न्द, खोतान आदि में, प्राकृत भाषा और खरोष्ठी लिपि का प्रचार था। इनमें भारतीय धर्म, दर्शन, ज्ञान, विज्ञान, कला-कौशल और विद्या के कई केन्द्र थे। वस्तुतः उस समय इन प्रदेशों में भारतीय हलचल ही विशेष थी।

चीन, कोरिया, तिब्बत, जापान इत्यादि

भारत का चीन से व्यापारिक सम्बन्ध तो ई० पू० की कई शताब्दियों पहले से था। ऐसा माना जाता है कि हानराजवंश काल में(२०७ई०पू० से प्रारम्भ) चीन भारत के सीधे सम्पर्क में आया और चीनी सभ्यता और संस्कृति पर भारतीय सभ्यता और संस्कृति का अमिट प्रभाव पड़ा। किन्तु निश्चित ऐतिहासिक काल तो वह है जब स्वयं चीनी सम्राट् ने बुद्ध-धर्म का स्वागत किया (अर्थात् सन् ६७ ई०) इसके बाद तो अनेक चीनी विद्वान् भारत आये एवं भारतीय विद्वान् चीन में गये, और इस प्रकार दोनों देशों का सम्पर्क बढ़ा। यह सम्पर्क राजनैतिक अथवा आर्थिक अथवा ऐतिहासिक नहीं था, यह सम्पर्क धार्मिक एवं आध्यात्मिक था।

सैकड़ों चीनी विद्यार्थी भारत के नालन्दा और तक्षशिला-विश्व-विद्यालयों में अध्ययन करने प्रतिवर्ष आते थे। भारत की अजन्ता, एलोरा, उदयगिरि गुफाओं के अनुकरण पर चीन में तुनवांश-गुफाएँ बनीं। उन गुफाओं की दीवारों पर अंकित बुद्ध के चित्रों में भारतीय प्रभाव है।

लगभग ४थी शताब्दी के मध्य में बौद्ध-धर्म चीन से कोरिया पहुँचा और कोरिया से जापान। उसके साथ-साथ ही भारतीय मूर्तिकला की

प्रतीक बुद्ध की प्रतिमाएँ और बौद्ध-धर्म के ग्रंथ भी वहाँ पहुँचे। इन सम्पर्कों से कोरिया और जापान के जीवन में अवश्य ही कुछ भव्यता आयी।

फिलिपाइन एवं अन्य पूर्वीय द्वीपों जैसे समोआ एवं हवाई द्वीप में भी भारतीय संस्कृति के अवशेष चिह्न मिले हैं।

फिलिपीन में मनीला खाड़ी के किनारे के कुछ स्थानों के नामों में संस्कृत का प्रभाव देखा गया है। वहाँ गणेश की एक मूर्ति मिली है, और वहाँ की धार्मिक रस्मों में हिन्दुत्व का प्रभाव झलकता है।

तिब्बत का अपने अलग ही एक राष्ट्र के रूप में संगठन ७वीं शताब्दी में सम्राट स्योंपन-गंपो के नेतृत्व में हुआ। उसी के काल में तिब्बत में बौद्ध धर्म का प्रवेश और प्रसार हुआ। भारत से अनेक विद्वान् तिब्बत में बुलाये गये और अनेक तिब्बतीय पंडित भारतीय विद्याओं का अध्ययन करने के लिए भारतीय विद्यालयों में भेजे गये। उन भारतीय विद्वानों में जो तिब्बत गये, आचार्य शान्तिरक्षित की सन् ७४७ ई० की एवं आचार्य दीपंकर की सन् १०२८ ई० की यात्राएँ प्रसिद्ध हैं। तिब्बत में भारतीय कला, दर्शन, विज्ञान, योग और भाषाओं ने प्रवेश किया और तिब्बत, जो अब तक अर्ध-सभ्य-सा पड़ा था, सचेतन हुआ। संस्कृत और पाली भाषा के अनेकों ग्रन्थ वहां के बौद्ध-विहारों, लामाओं के मंदिरों में संगृहीत हैं, जिनसे भारतीय भाषाओं एवं धर्म के इतिहास पर पर्याप्त प्रकाश पड़ता है।

वस्तुतः एशिया के प्रायः समस्त भागों में ५०० ई० पू० से लेकर ई० १००० तक बौद्ध-धर्म और दर्शन, भारतीय योग, भागवत पूजा, मंदिर, मूर्ति, कला और भाषा वहां के ज्ञान-सौंदर्य, और आनन्द भावना के प्रसार के साधन रहे हैं।

आधुनिक काल में प्राचीन भारत की संस्कृति, कला, साहित्य, दर्शन और योग-विद्या ने इंगलैंड, जर्मनी, फ्रान्स और रूस, इटली और अमेरिका तक के साहित्य, दर्शन और भावनाओं को प्रभावित किया है। इस सम्बन्ध में जर्मनी के महानतम कवि गेटे, दार्शनिक वॉनहाटमैन, कांट

और शोपनहावर, इंगलैंड के लेखक कार्लाइल और अल्डस् हक्सले, वैज्ञानिक प्रोफेसर जे० बी० एस० होल्डेन, कवि विलियम ब्लेक, वड्र्सबर्थ, शैले, यीट्स, जार्ज विलियम रसल, और टी० एम० इलियट, फ्रान्स के रोमेरोलाँ, बर्गसां और जीं पाल सार्त्र; एवम् अमेरिका के प्रसिद्ध चिन्तक थोरो और इमरसन और कवि वाल्डह्विटमेन के नाम विशेष रूप से लिए जा सकते हैं। पश्चिम के इन महान् पुरुषों ने भारतीय संस्कृति में निहित सनातन ज्ञान (Wisdom) को पहचाना है।

पन्द्रहवाँ अध्याय

विश्वकल्याण के लिए भारतीय संस्कृति का महत्त्व

भारतीय संस्कृति के विषय में जो कुछ अभी तक हमने पढ़ा उसके आधार पर हम इस संस्कृति के लिए नीचे लिखी बातें उपसंहार के रूप में कह सकते हैं :—

१—भारतीय संस्कृति सामासिक (मिली-जुली) संस्कृति है।

इसके निर्माण में निषाद, द्रविड़, आर्य, शक, कुषाण, हूण, पठान, तुर्क, मंगोल, और यूरीय जातियाँ—इन सभी का योग रहा है।

इसकी आध्यात्मिकता और सहिष्णुता में मानो सभी कुछ समा जाता है।

× × ×

२—यह सच है कि भारत ने अपनी संस्कृति में देश-देश और जाति-जाति के विचार समाये हैं। उनकी भावनाओं को अपनाया है, किन्तु इस संस्कृति का एक 'अपनापन' सदैव इसमें रहा है। यह बदली है, इसका विकास हुआ है, किन्तु कभी भी अपनेपन को छोड़ कर नहीं, कभी भी अपनेपन में अन्तर्यामी भाव को भुलाकर नहीं। इस धरती के विश्वविद्यालय में उच्चतम शिक्षाप्राप्त पंडित–विद्वानों और इसके निरीक्षक साधारणतम ग्रामीण जन के तात्त्विक ज्ञान और अनुभूति में कोई अन्तर नहीं। चाहे विद्वान् पंडित से पूछ लीजिए और चाहे साधारण

ग्रामीण जन से, वे दोनों यही कहेंगे कि सभी में एक ही प्राण हैं, एक ही चेतना है, प्राणिमात्र में एक ही अन्तर्यामी भगवान् बैठा है। दोनों कहेंगे, "दया धर्म का मूल है", "अभिमान पाप का मूल है।" यहाँ का जन अभिमान नहीं करता, दूसरे पर रोब नहीं जमाता, उसे दुतकारता नहीं, उसे अपनी राह पर चलने देता है। सरल और विनीत आस्तिक भाव भारतीय संस्कृति का अपनापन है। तभी तो जहाँ मिश्र, सुमेर और बेबीलोन की सभ्यताएँ समाप्त हो गयीं, ग्रीस और रोम की सभ्यताएँ भी (जहाँ के आर्य इतने उत्साही थे) नहीं टिक सकीं, वहाँ भारत अपनी दया-मया के भाव को (सहिष्णुता और आध्यात्मिकता को) लिये हुए अतीत काल से लेकर अब तक एक अविचलित भाव से अपनी मन्थर गति से चला आ रहा है।

तभी तो स्पष्ट है कि इसमें अपनी एक अद्भुत शक्ति है। इसने दूसरे देश और जातियों से केवल लिया ही नहीं है उनको वहुत कुछ दिया भी है, न केवल आध्यात्मिक क्षेत्र में बल्कि भौतिक क्षेत्र में भी। इसने दुनिया को गणित के अंक दिये, दशमलव प्रणाली दी, शून्य का विचार दिया, बीजगणित दी; चावल, कपास, गन्ना, मसाले, घरेलू चिड़ियाँ और शतरंज का खेल आदि दिये और सर्वोपरि इसने दुनिया को सिखायी निःश्रेयस् की भावना—यह बात कि "भूमा" बाहर के आयतन में नहीं परिमाण में भी नहीं, कहीं है तो वह है अन्तस् की परिपूर्णता में।

× × ×

३—आज तो ऐसी वात है कि विश्व के किसी भी भाग के मानव का विचार या उसका वैज्ञानिक आविष्कार विश्व के समस्त मानव समाज को छूकर रहेंगे। स्थानीय विभिन्नताओं के रहते हुए भी उनका सामंजस्य समष्टिगत एक मानव सभ्यता और संस्कृति से होकर रहेगा। विभिन्नता में गति की एकता को, चेतन-तत्त्व की एकता को, स्वीकार करना होगा।

तो आज विश्व के मानव को भारतीय संस्कृति की जो देन हो सकती है? जहाँ तक हम सोचते हैं भारतीय विचारधारा में व्याप्त यह भावना कि पुनर्जन्म होता है, कि कर्म का फल किसी अगले जन्म में मिलता है, कि मोक्ष संसार में आवागमन

या जन्म-मरण से छुटकारे के अर्थ में जीवन का परम लक्ष्य है, मानव की सामान्य संस्कृति का अंग नहीं बन पायेगी। हम तो देख रहे हैं कि विज्ञान या साम्यवाद की यह भावना कि इस विशाल अपरिमित प्रकृति का स्थूल अध्ययन किया जाय, इसके रहस्यों को समझा जाय, इसमें निहित शक्तियों को मानव-संसार के लिए उपयोगी बनाया जाय, भावी मानव-संस्कृति की बुनियाद में धीरे-धीरे प्रतिष्ठित हो रही है।

इस नयी बनती हुई मानव-संस्कृति को भारत की यही देन हो सकती है कि वह (भारत) सहायक हो, इस नयी संस्कृति में अपनी पुरातन इसी भावना को संचारित करने में या भान कराते रहने में कि इस जगत् के गहन तल में एक गम्भीर चेतना स्थित है, और इस गम्भीर चेतना को मानव स्वयं अपने में अनुभव कर सकता है, विकसित कर सकता है।

× × ×

४—पश्चिमी सभ्यता तो मानो मानव को आश्वस्त करे कि विज्ञान एवं टेकनोलोजी मिलकर जीवन-यापन के लिए ऐसी परिस्थितियाँ इस भू पर ला सकते हैं कि सभी जनों को जीने के लिए पौष्टिक भोजन, पहनने के लिए कपड़े, रहने के लिए स्वच्छ घर, और विकास के लिए समान अवसर उपलब्ध हों, और दूसरी ओर भारतीय संस्कृति सभी जनों के अन्तस् में रमकर यह आभास कराती रहे कि जीवन का, समस्त सृष्टि या अस्तित्व का सत्य चेतना की गहनता में है, मानो समस्त सृष्टि का एक गहनतर चेतन स्तर है जहाँ सत्य शिव और सुन्दर घुले-मिले रहते हैं।

पश्चिम और पूर्व का समाजवाद और व्यक्तिवाद, विज्ञान और धर्म मिलकर एक मानव-संस्कृति का निर्माण करें। हम सोचते हैं कि मानव संस्कृति का आधार यह मान्यता बन सकती है कि व्यक्ति का आनन्द प्रकृति और समाज सापेक्ष है, एवं साथ-ही-साथ प्रकृति विज्ञान और समाज के विकास का अर्थ है—व्यक्ति की चेतना में आनन्द की अभिवृद्धि होना।

परिशिष्ट 'क'

भारत में विभिन्न प्रजातियों के लोगों का मिलन और भारतीय संस्कृति और सभ्यता को उनकी देन

प्रजातियां	शारीरिक विशेषता	भारत के वे भाग या लोग जिनमें ये विशेषताएँ मिलती हैं।	भारतीय संस्कृति को देन
१—हब्शी (Negrito) पूर्व-पाषाण काल में शायद अरब और अफ्रीका से आये।	कृष्ण वर्ण, सिर पर ऊन जैसे बाल, आगे निकला हुआ जबड़ा, मोटे ओष्ठ।	दक्षिण भारत की पहाड़ी जातियों में यथा कड़ार और पुलियान; आसाम के अंगामी नागा लोग, उड़ीसा में राजमहल पहाड़ियों के कुछ आदिवासियों में, अंडमन द्वीप के मूलनिवासियों में। भारतीय जनसंख्या में इस जाति का अंश लगभग नहीं के बराबर है।	शायद यह विचार कि स्वर्ग में जाने का मृतक लोगों का रास्ता एक दण्ड-विधायक दानव द्वारा सुरक्षित रहता है। धनुष का आविष्कार। पीपल पेड़ की पूजा।
२— आदिम आग्नेय या निषाद-वंशी लोग— (Protoanotva-liods or Aus-tric) (पूर्व-पाषाण काल	कुछ कुछ हब्शी लोगों से मिलता जुलता गहरा भूरा या काला रंग, सिर लम्बा, नाक चौड़ी चिपकी हुई, बाल घुंघराले और ओष्ठ	सन्थाल परगना और छोटा नागपुर, मध्यप्रदेश, उड़ीसा और मद्रास के कुछ भाग के संथाल, भील, मुण्डा, शबर, कुरुम्ब आदि लोगों में, अछूत गिनी जाने वाली जातियों में इनका विशेष तत्त्व एवं भारत की	नवपाषाणी सभ्यता की स्थापना। मिट्टी के बर्तन बनाना। पालदार डोंगी, चावल, नारियल, केला, ताम्बूल, कपास एवं गन्ने की खेती या उत्पादन प्रारम्भ करना। रुई का कपड़ा बनाना। कौड़ी (२०) के आधार पर गिनना, रोली और सिन्दूर का विवाह एवं धार्मिक रस्मों में प्रयोग।

के बाद भू-मध्य-सागर के पूर्वी देशों से जैसे फ़िलस्तीन से आये) एक दृष्टि से भारत के मूल निवासी।	मुड़े हुए।	विशाल निम्न साधारण जनता में इनका तत्त्व आधार रूप से वर्तमान है। इस जाति का शुद्ध रूप लंका के वेद्दा लोगों में मिलता है।	जादू-टोना में विश्वास। निछावर या वारणक्रिया द्वारा भूतप्रेतों से बचाव। वृक्ष, सर्प एवं लिंग-पूजा। मृत्यु के बाद आत्मा का अस्तित्व और आत्मा का दूसरी योनियों में जन्म लेना। इनसे संबंधित धुंधले विचार। अवतार संबंधी कहानियां जैसे कच्छप (Tortoise) अवतार। सृष्टि-रचना संबंधी अनेक कल्पित कथाएँ, उनमें से कुछ विचार ऋग्वेद के नारदीय सूक्त से मिलते-जुलते हैं। अण्डे से विश्व की रचना जैसी कथाएँ। इस तरह की कई बातें जो पौराणिक हिन्दू-धर्म में अपना ली गयीं और कुछ परिवर्तन के साथ पौराणिक गाथाओं का आधार बन गयीं।
३—किरात :— मंगोल (Mongolite) दो उपशाखाएँ—	पीतवर्ण, चेहरा चपटा, गाल की हड्डियां उभरी हुई, आँखें बादाम	१—लम्बे सिर वाले पूर्व मंगोल आसाम और ब्रह्मा की सीमा पर नागा जातियों में, चौड़े सिर वाले पूर्व मंगोल	मौन-ख्मेर भाषाएँ (इनके बोलने वाले आसाम की खासी पहाड़ियों में) भोट-बर्मी भाषा (इसके बोलने वाले अलमोड़ा और गढ़वाल के भोटिये लोग)

(१) पूर्व मंगोल— क—लम्बे सिर वाले ख—चौड़े सिर वाले	की आकृति की, शरीर और चेहरे पर बाल बहुत कम।	चटगांव की पर्वतीय जाति लकमास एवं किलिक्योंग की लेपचा जाति में।	इसके अतिरिक्त संस्कृति को कोई विशेष देन नहीं।
(२) तिब्बती मंगोल— (ईस्वी पूर्व प्रथम शताब्दी में उत्तरी पश्चिमी चीन से आये)		२—तिब्बती मंगोल सिक्किम और भूटान में। आसाम एवं उत्तर-पूर्व बंगाल में यह जातीय तत्त्व कुछ कुछ मिलता है। भारतीय जनसंख्या में बहुत कम अंश।	
४—भूमध्य-सागरीय जाति— (द्रविड़ भाषा एवं संस्कृति के लोग) आदिम निषाद जातियों के बाद नव - पाषाण-युग के लगभग मध्य-काल से (ईसा से ६-७ हज़ार वर्ष पूर्व भूमध्यसागर के तटवासी मनुष्यों	सामान्यत: सभी शाखाओं के लोगों का रंग भूरा-काला, लम्बा सिर, कुछ लहरदार बाल।	सामान्यत: सभी शाखाओं के लोगों का तत्त्व उत्तर एवं दक्षिण भारत के लोगों में वर्तमान। ये ही द्रविड भाषाओं और द्रविड़ सभ्यता-संस्कृति की देन देने वाले।	इन लोगों का "प्रागैतिहासिक मनुष्यों में सभ्यता के आदि निर्माणकर्त्ता के रूप में पर्याप्त महत्त्व।" नगर और नगर-सभ्यता। आर्य भाषाओं पर प्रभाव। प्राचीन उन्नत सिंधु-सभ्यता का निर्माण, हिन्दू

की कई लहरें भारत में आईं)			सभ्यता के विकास में आधारभूत देन।
(१) पूर्व भूमध्य-सागरीय (Palae Mediterranean)	(१) काला रंग, लम्बा सिर, संकीर्ण चेहरा, चौड़ी नाक, मध्यम कद, चेहरे पर कम बाल।	(१) अधिकतर कन्नड़, तामिल और मलयालम प्रदेशों में।	शिवपूजा, योग, तंत्र, मातृदेवी, पितृ रूप परमात्मा और मातृरूप देवी के सम्बन्ध में गूढ़ रहस्यवादी धारणा, सृष्टि और जीवन के मूल में उक्त देव और देवी का शक्ति के रूप में अस्तित्व। इन्हीं धारणाओं मे हिन्दू-सभ्यता के शिव और उमा (शिव और शक्ति) के रूप और उनकी पूजा का विकास। पत्र, पुष्प, फल, नैवेद्य, धूप, दीप, आरती इत्यादि से देवी-देवताओं की मूर्ति-पूजा।
(२) मुख्य भूमध्य-सागरीय (Mediterranean)	(२) पूर्व भूमध्य-सागरीय लोगों की अपेक्षा अधिक गोरा रंग और लम्बा कद, लम्बा सिर, लम्बा चेहरा, सँकड़ी नाक, शरीर पर घने बाल, बड़ी खुली आँखें और पतला शरीर।	(२) यह तत्त्व पंजाब और उत्तरी गंगा की अन्तर्वेदी में विशेषकर। सिंधु सभ्यता के निर्माता।	
(३) प्राच्य भूमध्य-सागरीय	(३) उपरोक्त शाखा से प्राय:	(३) यह तत्त्व पंजाब, राजस्थान एवं उत्तर प्रदेश के पश्चिमी	इनके देवता १ नीलवर्ण आकाशदेव (जो पौराणिक धर्म में विष्णु बन गया)

(The Oriental Type)	मिलती जुलती आकृति। केवल नाक लम्बा, और नतोदर। (Convex)	भाग में विशेषकर।

२—लाल वर्ण देव (रुद्र)
३—मा······ (उमा)
४—युवा सौंदर्य का देवता : (कन्नन) कृष्ण
५—शौर्य और युद्ध का देव · (मुरुकुण) शिव का पुत्र कुमार या स्कन्द।
६—गणेश
७—कपिदेव (अगमंती) हनुमान
८—बैल (नंदी)

द्रविड भाषाओं से उनकी सभ्यता का परिचय मिलता है। वे लोग बड़े-बड़े ईंटों के पक्के घर बनाते थे। राजतंत्रीय शासन का उनमें प्रचलन था। उनमें चारण और गायक लोग होते थे, जो धार्मिक उत्सवों पर गीत गाते थे।

भाषा का कुछ लिखित रूप भी था। पलमिरा पत्रों पर (ओलई द्रविड़ भाषा का शब्द) पुस्तकें लिखी जाती थीं। मन्दिरों का निर्माण होता था। विवाह-प्रथा का प्रचलन था। आकाशीय ग्रहों से परिचय था। डोंगी, नाव और जहाज बनाते थे। कातना, बुनना, रंगना, भूषण, गढ़ना और मिट्टी के सुन्दर-सुन्दर बर्तन बनाना इत्यादि कलाओं का खूब विकास था। तीर, कमान, भाला और

			तलवार उनके शस्त्र होते थे। इनकी भौतिक सभ्यता का स्तर आर्यों से बहुत अधिक बढ़ा-चढ़ा था। इन्हीं की एक प्रकार की चित्रलिपि (सिंधु-सभ्यता की लिपि) से शायद उत्तर वैदिक ब्राह्मी लिपि का विकास हुआ।
५--पश्चिमी पृथु-कपाली (चौड़े सिर वाले लोग) (Western Brachycephals) इनकी तीन शाखायें	पृथु कपाल, भूरा गौर वर्ण, चिकने घने बाल।		भारतीय-यूरोपीय परिवार की भाषा का अवशेष चितराल निवासी पृथु-कपाली लोगों की दर्द-भाषा में पाया जाता है।
(१) पर्वत प्रदेशीय आल्प्स पर्वत प्रदेशों से भारत में आये।	(१) मध्यम कद, गोल चेहरा, उत्तुंग नासिका, खूब घने बाल।	(१) अधिकतर बलूचिस्तान सौराष्ट्र, गुजरात, महाराष्ट्र और कुछ कुछ तमिलनाड़, मालाबार एवं आंध्र प्रदेश में। पूर्व में पश्चिमी बिहार और नेपाल तक भूमध्यसागरीय तत्त्व से मिले हुए।	संस्कृति को इनकी कोई विशेष देन नहीं। भारत की ही द्रविड़ आर्य-संस्कृति में ये लोग बिल्कुल घुलमिल गये।
(२) डिनारिक (Dinaric)	(२) उक्त लोगों से अपेक्षाकृत कम	(२) इनका तत्त्व अधिकतर उड़ीसा और बंगाल में कुछ-कुछ	

युगोस्लेविया प्रदेश से आये।	गोरा रंग, अधिक लम्बा कद, छोटा सिर, सीधा माथा एवं ननोदर।	गुजरात, कन्नड़ और तामिलनाड़ में। भूमध्य सागरीय तत्त्व में मिले हुए।	
(३) आरमीनियन (Armenoid) तुर्की प्रदेश मे आये ये लोग भूमध्यसागरीय लोगों के बाद भारत में आये थे	३--मध्यम कद, खूब चौड़ा और भारी सिर, पुष्ट शरीर।	३--बम्बई प्रदेश के पारसियों में इनका तत्त्व।	
६--डानिक (Nordics) जिन्होंने आर्यभाषा, आर्य संस्कृति और सभ्यता का निर्माण किया और जो लगभग ३००० ई० पू० में भारत में विद्यमान थे।	गौरवर्ण, लम्बा कद, काले स्वर्णिम बाल, लम्बा सिर, ललाट ज़रा गोलार्द्ध, नाक पतला और नुकीला।	विशेषकर उत्तर-पश्चिम प्रदेश, काश्मीर, पंजाब, एवं पश्चिमी उत्तरप्रदेश और राजस्थान की उच्च जातियों में। महाराष्ट्र के चितपावन ब्राह्मणों में।	आर्थिक क्षेत्र में—लोहा, अच्छी किस्म के गेहूँ, लोहे का प्रयोग, मिले हुए कपड़े और रथ-दौड़। सामाजिक जीवन में—पैतृक कुटुम्ब। समस्त आर्य-भाषाएँ, वैदिक साहित्य, दर्शनशास्त्र, आयुर्वेद। आशापूर्ण और उत्साही दृष्टिकोण। प्रफुल्ल जीवन की भावना। शुद्ध सरल जीवन।

परिशिष्ट 'ख'

काल	ग्रन्थ	ग्रन्थकार	विवेचित विषय
	वेदमन्त्र, ब्राह्मण ग्रंथ, आरण्यक और उपनिषदें	ऋषि तथा आचार्य	वर्ण्य विषयों के प्रसूपण की अलंकारमयी शैली रूपकातिशयोक्ति, उपमा, रूपक, उत्प्रेक्षा, अनुप्रास, पुनरुक्तवदाभास, आदि का प्रचुर परिमाण में प्रयोग, शृंगार, हास्य वीर और शान्त रसमयी रचनाओं का यत्रतत्र सद्भाव ।
उत्तर वैदिक (संस्कृत साहित्य का आरम्भ)	रामायण महाभारत	महर्षि वाल्मीकि महर्षि व्यास (एक या अनेक व्यक्ति)	शोकरूप स्थायी भाव से उद्भूत करुण रस की व्याप्ति । सम्बन्धित कथावस्तु का काव्यशैली मे विकास । कथा के विभिन्न स्वरूपों का दिग्दर्शन । भाव और कला के विविध स्वरूपों की सुन्दर उपस्थापना : यत्रतत्र काव्य-सिद्धान्तों का संकेत ।
संस्कृत साहित्य का विकास	नाट्यशास्त्र	भरत मुनि ई. पू. द्वितीय अथवा प्रथम शताब्दी (काल अनिर्णीत)	रस, भाव, छंद, अलंकार, काव्य के गुण और दोष, काव्य-लक्षण, प्राकृत आदि भाषाएँ, दस प्रकार के रूपक, वृत्तियां, सात्विक और सहज भाव, नायक, नायिका और नाट्य, अभिनय और रंगमंच आदि ।
	विष्णुधर्मोत्तर पुराण	ग्रंथकार अनिश्चित (५००-६०० ई.)	नाट्यशास्त्र और काव्यालंकार से संबंधित कोई एक सहस्र श्लोक तथा चार अध्यायों के गद्य में लिखा गीत, आतोद्य मुद्राहस्त और प्रत्यङ्ग-विभाग का विवेचन ।
	रावणवध (भट्टिकाव्य)	भट्टी ६०० ई. के लगभग)	दशमसर्ग में ३८ अलंकारों के उदाहरण । ११वें में माधुर्य गुण, १२वें और १३वें में भाविक अलंकार और भाषासम के उदाहरण

	काव्यादर्श	दंडी ६५० ई. के लगभग	कवि, काव्य-हेतु, काव्य-लक्षण, शब्द-भेद, काव्य-भाषाएं, रीतियाँ, ३५ अलंकार, चित्रालंकार के भेद, वृत्तियां आदि
	काव्यालंकार	भामह (७०० ई. के लगभग)	कवि, काव्य-हेतु, काव्य, उसके प्रयोजन और भेद, काव्य-शरीर, अलंकार, शैली, दोष और कवि-शिक्षा आदि।
संस्कृत-काव्य का ह्रास-काल और आलोचना का विकास-काल	अग्निपुराण	अनिश्चित (नवीं से ग्यारहवीं शताब्दियों के बीच)	(क) ३३७-३४७ के अध्यायों में वर्णित साहित्य-संबंधी विषय—कवि, काव्य-हेतु, काव्य-भेद, काव्य-लक्षण, गुण, रीति, अलंकार, रस, दोष, अर्थ-प्रकृति और संधि आदि (ख) ३८२वें अध्याय में विद्याओं का वर्णन है।
	अलंकार-सार-संग्रह	उद्भट (आठवीं और नवीं शताब्दियों के बीच)	४१ अलंकार (६ वर्गों में विभाजित)
	काव्यालंकार-सूत्र	वामन (नवीं शताब्दी)	कवि, काव्य-प्रयोजन, रीति (काव्यात्मा), दोष, गुण, अलंकार, कविसमय, शब्द-शुद्धि आदि
	काव्यालंकार	रुद्रट नवीं शताब्दी का मध्य	काव्य-प्रयोजन, काव्य-हेतु, काव्य-लक्षण, काव्य-भेद, अलंकार-रीति, अलंकारों के आधार, (वास्तव औपम्य, अतिशय और श्लेष) दोष, रस
	काव्य-मीमांसा	राजशेखर (९००-९२५)	शास्त्र-संग्रह, शास्त्र-निर्देश ··· शास्त्र और काव्य (वाङ्मय) साहित्य ५वीं विद्या, काव्य-पुरुषोत्पत्ति, काव्य पुरुष का साहित्य-विद्या से परिणय, प्रवृत्ति, वृत्ति और रीति का भेद, पद-वाक्य-विवेक, काव्यहेतु, पाठ-प्रतिष्ठा,

			काव्यार्थ की योनियां। कविता के स्रोत, अर्थ-व्याप्ति, कविचर्या, ६४ कलाएँ, काव्य-विद्या, कविसमय, देश-विभाग और काल-विभाग आदि
	ध्वन्यालोक	कारिकाकार—अज्ञान (८००-८२५) वृत्तिकार—आनन्दवर्धन (८७५-९००) नवीं शताब्दी टीकाकार—अभिनवगुप्त (९८०-१०२०)	अलंकार-शास्त्र के इतिहास में युगान्तरकारी ग्रन्थ, ध्वनि का स्वरूप, अर्थ—वाच्य और प्रतीयमान, प्रतीयमान—वस्तु, अलंकार और रस, ध्वनि के भेद, सङ्घटना, संघटना का गुणों से संबंध, काव्य के भेद ध्वनि की अपेक्षा से, ध्वनि-काव्य, गुणीभूत व्यङ्ग्य काव्य, चित्र-काव्य
	अभिधावृत्ति मातृका	मुकुल भट्ट (नवीं शताब्दी का अन्त और १०वीं का आरम्भ)	अर्थ—उसके २ भेद मुख्य और लाक्षणिक
	काव्य-कौतुक (अप्राप्त)	भट्ट तौत (९५०-९८० के बीच)	कविता का स्वरूप, रस का स्वरूप, संधियां, शान्तरस, की प्रमुखता। नाट्यवेद
	हृदय-दर्पण (अप्राप्त)	भट्टनायक (९०० से १००० के बीच)	रस, अभिधा, भावना, भोग, उसका ब्रह्मानन्द-स्वरूप, रस की स्वसंवेद्यता, शास्त्र और आख्यान से काव्य का भेद, रस और ध्वनि के महत्त्वपूर्ण सिद्धान्तों का प्रतिपादक ग्रन्थ)
संस्कृत-काव्य का	दशरूपक	धनञ्जय	रूपक, उसके भेद, नृत्य-नृत्त, लास्य-तांडव, संधियां,

ह्रास-काल और आलोचना-साहित्य का विकास-काल		(९७४-९९६)	विष्कम्भ, चूलिका, अंकास्य, अंकावतार और प्रवेशक आदि के लक्षण, कथावस्तु, नायक और नायिकाओं के भेद, उनके गुण और स्वरूपों का वर्णन, रस का स्वरूप और उसके भेद ।
	वक्रोक्तिजीवित	कुन्तक (११वीं शताब्दी का प्रथम चरण)	काव्य का स्वरूप वक्रोक्ति काव्य की आत्मा, वक्रता के ६ भेद, वक्र-वैचित्र्य के गुण माधुर्य प्रसाद आदि । २ मार्ग-वैचित्र्य, सुकुमार और मध्यम, वक्रता में रस भाव आदि की समाहिति ।
	व्यक्ति-विवेक	महिमभट्ट(१०२०-११०० के बीच)	ध्वनि का अनुमान में अन्तर्भाव । काव्य में अनौचित्य और उसका निराकरण ।
	१. सरस्वती-कंठाभरण और	भोज (१०००—१०५० के लगभग)	(१) काव्य के प्रयोजन, लक्षण और भेद, दोष, गुण, अलंकार, रस, भाव, नायक, नायिका, पांचों संधियां, ४ वृत्तियां ।
	२. शृंगारप्रकाश		(२) काव्य शास्त्र और नाट्यशास्त्र दोनों के विषय, काव्य, शब्द और अर्थ के लक्षण, प्रयोजन, शब्द-शक्तियां, दोष, गुण और अलंकार, रस, नाटक, उसके ६४ भेद-उपभेद, रति, वृत्ति और रीति का प्रस्फुरण आदि ।
	(१) औचित्य-विचार-चर्चा और	क्षेमेन्द्र (९९०—१०६६)	(१) औचित्य रस की आत्मा, पद, काव्य, प्रबंधार्थ, गुण, अलंकार, रस, क्रिया, कारक, लिंग, वचन, उपसर्ग, काल और देश आदि के साथ औचित्य का योग ।
	(२) कवि-कंठाभरण		(२) अकवि को कवित्व की प्राप्ति, कवित्वप्राप्त की शिक्षा, शिक्षा में चमत्कार, चमत्कार से गुण-दोषों का

			ज्ञान, परिचय (कवित्व से), कवियों के भेद, चमत्कार के भेद।
	काव्य-प्रकाश	मम्मट (१०५०–११००)	आलोचना-जगत् में इस ग्रंथ की महत्त्वपूर्ण स्थिति. काव्य, काव्य-हेतु, काव्य-भेद, काव्य और अर्थ, उनकी शक्तियां, ध्वनियां, व्यंजना-स्थापन दोष, गुण, रीति और अलंकार।
	अलंकार-सर्वस्व	रुय्यक (११३५–११५० के बीच)	अलंकारों का मान्य ग्रंथ, दो नये अलंकार, विकल्प और विचित्र।
	वाग्भटालंकार	वाग्भट प्रथम (११२५–११४३ के बीच)	काव्य, काव्य-हेतु, काव्य-भाषाएँ, दोष, गुण, अलंकार रीति और रस।
	काव्यानुशासन	हेमचन्द्र (११३६-११४३ के बीच)	काव्य, उसके प्रयोजन और हेतु, शब्द और अर्थ, रस, दोष, गुण, अलंकार, नायक-नायिका और काव्य के भेद।
संस्कृत-काव्य का ह्रास-काल और आलोचना-शास्त्र का विकास-काल	चन्द्रालोक	जयदेव (१२००-१२५० के बीच)	काव्य, काव्य-हेतु, शब्द और उसके भेद, दोष, गुण, अलंकार, रस, रीति, ५ शक्तियां और शब्द-शक्तियाँ।
	एकावली	विद्याधर (१२२५-१३२५)	विषय प्रायः वही, उदाहरण स्वरचित अपने संरक्षक उत्कलराज नरसिंह की स्तुति के।
	प्रतापरुद्र-यशोभूषण	विद्यानाथ १४वीं शताब्दी का प्रथम चरण।	एकावली की शैली, विषय प्रायः वही, नाटक का प्रकरण अधिक, उदाहरण स्वरचित तेलगाना के, काकतीय राजा प्रतापरुद्रदेव के यश को वर्णन करने वाले।

काव्यानुशासन	वाग्भट द्वितीय (१४वीं शताब्दी)	काव्य, उसके प्रयोजन और भेद, दोष, गुण, अलंकार, रस, नायक, नायिका ।
साहित्य-दर्पण	विश्वनाथ(१३०० -१३८० के बीच)	आलोचना के क्षेत्र में समाहारात्मक प्रशंसनीय कार्य, काव्य और नाटक दोनों से सम्बद्ध प्रायः सभी विषयों पर विचार ।
(१) रस-तरंगिणी	भानुदत्त (१२५०-१५०० के बीच)	(१) भाव, विभाव, अनुभाव, सात्त्विक और संचारी भावों का सूक्ष्म विवेचन, रस और उसके भेद उपभेद ।
(२) रस-मंजरी		(२) नायक, नायिका और दूती, इनके भेद-उपभेद, सात्त्विक भाव, शृंगार के संयोग और विप्रलम्भ दोनों भेदों का वर्णन ।
(३) अलंकार-तिलक		(३) काव्य का एक श्लोक मे वर्णन काव्य-भाषाएँ, ६ रीतियाँ ४ वृत्तियाँ दोष, गुण, अलंकार व रस ।
(१) भक्ति-रसामृत-सिन्धु ।	रूप गोस्वामी (१४७०-१५५०)	(१) भक्ति का रस के रूप में भेद उपभेदों के साथ विस्तृत विवेचन ।
(२) उज्ज्वल-नीलमणि ।		(२) भक्ति रस का सांगोपांग वर्णन, उदाहरण के रूप में कृष्ण और उनके भक्तों की विविध लीलाओं का वर्णन ।
(३) नाटक-चन्द्रिका ।		(३) साहित्यदर्पण के नाटक-प्रकरण के विषय ।
अलंकार-शेखर	केशव मिश्र (१६ वीं शताब्दी का उत्तरार्ध)	काव्य-शास्त्र के अन्य प्रकरणों के अतिरिक्त अलंकारों, समस्या-पूरण तथा चित्र-काव्य का विस्तृत विवरण ।
(१) वृत्तिवार्तिक	अप्पय दीक्षित (१५२०-१५९३)	(१) अभिधा और लक्षणा वृत्तियों का विवेचन ।

(२) कुवलयानन्द		(२) अलंकारों का विस्तृत प्ररूपण ।
(३) चित्रमीमांसा (अपूर्ण)		(३) काव्य, उसके भेद, उपमा का व्यापक क्षेत्र (कई अलंकारों के मूल में)।
(१) रसगंगाधर (अपूर्ण)	जगन्नाथ(१६२०-१६६०)	अब तक के आलोचना-जगत् में आनन्दवर्धन और मम्मट के बाद सर्वाधिक प्रसिद्ध। काव्य और उसके भेद, रस और भाव-ध्वनि, शब्द और शक्तियाँ, अलंकारों का अपूर्ण वर्णन ।
(२) चित्रमीमांसा-खंडन		अप्पयदीक्षित के काव्य-विषयक सिद्धान्तों का खंडन ।

परिशिष्ट 'ग'

कलाकृति	स्थान	निर्माणकाल	विशेषताएँ
भारहुत स्तूप	भारहुत (मध्यभारत)	ई. पू. ४, ३ शती में निर्माण प्रारंभ	अपनी बनावट के लिए प्रसिद्ध, चारों ओर के भवन इत्यादि तो अवशिष्ट हैं, किंतु स्तूप स्वयं ग़ायब हैं।
सांची स्तूप	सांची (भोपाल के निकट)	,,	ई. पू. दूसरी शती में इसका आकार बढ़ाकर दुगुना कर दिया गया था, स्तूप की परिधि लगभग ४०० फीट; ई. पू. पहली शती में चार दिशाओं में चार तोरण बने, जिनमें भारत की भव्यता का दर्शन हम पाते हैं। इतने बड़े स्तूप शायद एक दो ही और हैं।
अमरावती स्तूप	अमरावती (दक्षिण भारत)	,,	यह स्तूप अपने अंतिम रूप में ई. सन् की दूसरी शती में पूर्ण हुआ। यह सांची के स्तूप से भी बड़ा है। इसके दो तोरणों पर बुद्ध की जीवनी मूर्तियों में अंकित है।
सारनाथ स्तूप	सारनाथ (बनारस)	,,	अपने अंतिम रूप में यह गुप्तकाल में निर्मित हुआ। ईंटों की बनी हुई यह बहुत ही भव्य कृति थी। इसके आज केवल अवशेष मात्र हैं।
नालंदा स्तूप	नालंदा (बिहार)	शायद अशोक के समय में प्रारम्भ होकर कई शतियों तक बनता बिगड़ता रहा	ईंटों का बना हुआ है, ध्वस्त स्थिति में है किन्तु फिर भी एक विशाल पिरेमिड के समान दिखलायी देता है।

गुफा-मंदिर बराबर चैत्य-भवन	बराबर पहाड़ी (गया)	मौर्य काल	ये गुफाएं अलंकृत नहीं हैं, किन्तु इन गुफाओं की अंदर की दीवारें इतनी निपुणता से चिकनी बनायी गयी हैं कि वे आज भी चमकती हैं। शायद इन दीवारों पर उसी लेप का प्रयोग किया गया था जिसका अशोक-स्तम्भों पर हुआ है।
नागार्जुनी चैत्यभवन	बराबर पहाड़ी के निकट नागार्जुनी पहाड़ी		
माजा चैत्य गुफा	पूना के निकट	उपर्युक्त काल के बाद की	
कार्ली का चैत्य-भवन	बम्बई के निकट	ई. सन् पहली शती	चैत्य-भवनों में यह सबसे अधिक सुन्दर है, पर्वत में १२४ फीट अंदर तक कोर कर यह चैत्य भवन बनाया गया, आकार और शान में यह बहुत अधिक विकसित है। इसके तीन द्वार हैं जो सुन्दर मूर्तियों से अलंकृत हैं, भवन के अन्दर दोनों ओर स्तम्भों की पंक्तियां एवं अंत में जाकर बीच में छोटा सा स्तूप (चैत्य) बहुत प्रभावोत्पादक है।
उदयगिरि की गुफाएं	उड़ीसा में	ई. पूर्व दूसरी शती	ये जैन गुफाएं हैं। इनमें हाथी-गुफा, रानी-गुफा, गणेश-गुफा विशेष प्रसिद्ध हैं।
अजंता की गुफाएं	दक्षिण हैदराबाद के निकट	ई. पू. २ शती से ई. सन् की ७वीं शती तक	ये कुल २७ गुफाएं हैं, जिनमें से कुछ १००-१०० फीट अन्दर तक कोरी हुई हैं। गुफाओं में भव्य प्रस्तर मूर्तियां निर्मित हैं और उनकी दीवारों और छतों पर मिट्टी और पत्थर के रंगों से ही सुन्दर और सजीव चित्र अंकित हैं। चित्रों का विषय है—बुद्ध का जीवन, जातक-कथाएं

			इत्यादि। भाव-व्यंजना अद्भुत है। भारतवर्ष के कलात्मक उत्कर्ष की यह अनुपम निधि है।
इलोरा की गुफाएँ	दक्षिण में औरंगाबाद के निकट	ई० सन् की ५ वीं से ८ वीं शती।	ये कुल ३४ गुफाएँ हैं। जहाँ तक वास्तु-कला का संबंध है ये अजन्ता की गुफाओं से भी अधिक भव्य हैं, एवं चित्त में अधिक गांभीर्य उत्पन्न करने वाली हैं। यहाँ की महानतम कृति कैलाश-मन्दिर है जिसका निर्माण राष्ट्रकूट के सम्राट् कृष्ण प्रथम (७५६—७७३ ई०) के आदेश से किया गया था। यह भी भारत की महानतम कला-कृतियों में से एक है जो विश्व के लिए एक अचरज बनी हुई है।
मामल्लपुरम्	मद्रास से ३० मील दक्षिण में समुद्र के तट पर।	७ वीं शती	सख्त चट्टानों के कोरे हुए ये १७ मन्दिर हैं। प्रायः सभी हिन्दुओं के मन्दिर हैं। उनमें से कई पांडव राजाओं से सम्बन्धित हैं।
बाघ गुफाएँ	मध्यभारत; अजन्ता से १५०मील उत्तर-पश्चिम में।	५००—६०० ई० सन्।	ये कुल ९ गुफाएँ हैं जो अपनी वास्तुकला तथा चित्र-कला में अजन्ता की गुफाओं से मिलती-जुलती हैं।
एलीफेंटा गुफा	बम्बई के निकट एक छोटे से टापू पर।	शायद उपर्युक्त काल में ही।	इस गुफा में त्रिमुख महादेव की विशाल प्रस्तर मूर्ति भारतीय मूर्तिकला का उत्कृष्ट नमूना है, इसको देखने से चित्त आतंकित-सा होकर आश्चर्य से भर जाता है।
कन्हैरी की गुफाएँ	बम्बई के उपनगर बोरीबली से ५ मील।	पहली से ९वीं शती तक (२)	ये लगभग १३० गुफाएँ हैं, इतना विशाल गुफा-समूह अन्यत्र शायद ही हो। ये अधिकतर बौद्धगुफाएँ हैं। इन गुफाओं में चैत्य, विहार, स्तम्भ एवं मूर्तियां सभी विद्यमान हैं। ये गुफाएँ गृह-निर्माण एवं मूर्तिकला की दृष्टि से बहुत महत्त्वपूर्ण हैं।

जोगेश्वरी की गुफाएँ	बम्बई के उपनगर जोगेश्वरी में ।		ये ब्राह्मण-धर्म-संबंधी गुफाएँ हैं, जिनका निर्माण कोई बहुत महत्त्वपूर्ण नहीं । इनके बाद गुफा-मंदिरों की परम्परा ही शायद समाप्त हो गई ।

मंदिर—गुफा-मंदिरों के अतिरिक्त अपने आप में स्वतन्त्र रूप से बने मंदिर ।

बैराठ का मंदिर	जयपुर के निकट	ई० पू० ३री शती	ईंट और लकड़ी का बना मंदिर, अब तो केवल उसकी नींव अवशिष्ट है । प्रारम्भ में शायद इसमें बौद्ध चैत्य था, वैसे यह हिंदू देवस्थान प्रतीत होता है ।
जंडियाल का मंदिर	तक्षशिला की खुदाई से प्राप्त	गुप्तकालीन मंदिर	मंदिरों के निर्माण में प्रगति का सूचक । ग्रीक मंदिर जैसी आकृति ।
देवगढ़ का नर-नारायण मंदिर (पत्थर)	झाँसी के निकट	गुप्तकालीन मंदिर	गुप्तकाल में अनेक मंदिर बने होंगे, जिनकी शैली की विशेषताएँ हैं— अन्तरतम भाग में गर्भगृह जो छोटी सी कोठरी होती है, जिसमें मूर्ति स्थापित रहती है, इसकी छत गुम्बदाकार (समतल भी) होती है, जिस पर शिखर बना होता है । गर्भगृह के बाहर मंडप होता है जिसमें दर्शक खड़े होते हैं, इस मंडप तक पोर्च (अर्ध मंडप) में होकर जाया जाता है । ग्रीक मंदिरों में भी प्राय: ऐसी ही व्यवस्था मिलती है । छठी शताब्दी या कुछ उसके पूर्व से भी इस प्रकार के मंदिरों की प्रथा चली । गुप्तकाल के मंदिर प्राय: विनष्ट हो चुके हैं । देवगढ़ एवं भीहार गांव के ही दो मंदिर कुछ ध्वस्तस्थिति में अवशिष्ट हैं ।
भीहार गाँव का मंदिर (ईंट)	कानपुर के निकट	,,	
मामल्लपुरम् के	मद्रास के निकट	छठी से ८वीं श०	दक्षिण के पल्लव एवं चालुक्य राजाओं द्वारा निर्मित ।

मंदिर			इनका उल्लेख गुफा-मंदिरों में हो चुका है। रथ के आकार के यहां के ७ मंदिर उल्लेखनीय हैं। प्रत्येक एक ही चट्टान में से काटकर बनाया गया है।
काँची का कैलाम-नाथ का मंदिर	दक्षिण भारत	८वीं शती का प्रारंभ	पल्लव राजाओं द्वारा निर्मित।
बादामी एवं ऐहोल के मंदिर	दक्षिण-भारत, हैदराबाद के निकट	,,	चालुक्य राजाओं द्वारा निर्मित।
मार्तंड का सूर्य-मंदिर	काश्मीर	,,	
तंजोर का शिव-मंदिर	दक्षिण-भारत	१०वीं से १२वीं शती	चोल राजा राज-राज (९८५- १०१४ ई०) द्वारा निर्मित। द्राविड़ शैली के शिखर का विकास। इसका शिखर १९० फीट ऊँचा है। उसमें अनेक मूर्तियां बनी हैं।
गंगई कोंड चोल-पुरम् का मंदिर	दक्षिण-भारत में कुंबकोनम के निकट	,,	चोलराजा राजेन्द्र प्रथम द्वारा निर्मित। द्राविड़ शैली के शिखर का विकास। विशाल हैं ये मंदिर, शिखरों में छोटी छोटी मूर्तियों से अलंकृत।
होयसालेश्वर का मंदिर	दक्षिण-भारत-द्वार समुद्र में	,,	इसके विभिन्न खंड देवमूर्तियों, हाथी, शेर, घोड़े, पशु-पक्षियों की मूर्तियों से जड़ित हैं। भारतीय शांत परिश्रम की अनोखी कृति हैं।
मदुरा श्रीरंगम् रामेश्वरम् के मंदिर।	दक्षिण-भारत	१५—१७वीं शती	अपने अद्भुत गोपुरों से चित्त को आकृष्ट करते हैं।
खजुराहो के मंदिर	झाँसी से १००	१०वीं से ११वीं	इन मंदिरों में सबसे प्रसिद्ध है खंडारिया महादेव का

	मील दक्षिण-पूर्व में	शती	मंदिर जिसका निर्माण १००० ई० में हुआ था। मंदिर के मंडपों और दीवारों में चारों ओर सजीव मूर्तियां निर्मित हैं। इन मंदिरों की अपनी विशिष्ट शैली है।
लिंगराज का मंदिर	भुवनेश्वर (उड़ीसा में)	१०वीं से १३वीं शती	उड़ीसा की स्थानीय मंदिर-निर्माण-कला का विकास हुआ था। उसी उड़ीसा शैली का भव्यतम मंदिर है—लिंगराज का मंदिर।
विष्णुजगन्नाथ का मंदिर	पुरी (उड़ीसा में)	,,	उपर्युक्त विशेषताएँ। भारत का एक प्रसिद्धतम मंदिर।
कोणार्क का सूर्य-मंदिर	कोणार्क (उड़ीसा में)	१३वीं शती	इस मंदिर के विशाल शिखर में प्रेमालिंगन की अनेक मूर्तियां बनी हुई हैं। यह मंदिर तंत्र-धर्म का केन्द्र था।
आबू पहाड़ के देलवाड़ा जैन मंदिर	आबू पहाड़ (राजस्थान)	११--१३वीं शती	संगमरमर के बने ये दो मंदिर हैं, जिनमें से एक का निर्माण १०३२ ई० में एक राजमंत्री विमलशाह ने किया था, और दूसरे का १२३१ ई० में तेजपाल ने। संगमरमर की खुदाई के काम में ये मंदिर अद्वितीय मालूम होते हैं। राजस्थानी और गुजराती शैली में बने अनेक मंदिरों में देलवाड़ा के मंदिर ही सर्वाधिक प्रसिद्ध हैं।
सास-बहू का मंदिर	ग्वालियर का किला	१०९३ ई०	
नीलकंठ या उदयेश्वर का मंदिर	मध्यप्रदेश राज्य में धार	१०५९—१०८०ई०	राजा भोज के भतीजे उदयादित्य द्वारा निर्मित।
सोमनाथ, गिरनार एवं पालीताना के मंदिर	गुजरात	१५—१८ शतियाँ	
गोविंददेव का मंदिर	वृन्दावन	१६वीं शती	आमेर के राजा मानसिंह द्वारा बनवाया गया।